– पुस्तकप्राप्तिस्थान –
श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट
लि. के सब विक्रीकेन्द्र

–: मुद्रक :–
लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी
निर्णयसागर प्रेस, २६–२८
कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई–२



वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

आविर्भाव—सवन १९३८ तिरोभाव—सवत् २०१२



आयुर्वेदमार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य का संक्षिप्त जीवन परिचय

भारतविख्यात आयुर्वेदमार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के निधन से आयुर्वेद जगत् पर ऐसा भीषण वज्रपात हुआ है कि तज्जनित क्षति की पूर्ति निकट भविष्य मे होने की हमें किंचित् भी सम्भावना नहीं दिखती। आचार्यजी की हीरक जयन्ती गत वर्ष नि० भा० आ० महासम्मेलन के तत्त्वावधान में राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन द्वारा बीकानेर में धूमधाम से मनायी गयी थी और वैद्य-समाज ने ऐसी आशा प्रकट की थी कि आचार्यजी अनेक वर्षों तक हमारे बीच उपस्थित रहकर आयुर्वेद को उन्नत बनाने का प्रयास करते रहेंगे। लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि आयुर्वेदोत्कर्ष के सन्धिकाल में क्रूर काल ने आचार्यजी को हमारे बीच से उठा लिया। किसी ने स्वप्न मे भी कल्पना नहीं की थी कि आचार्यजी अपने कर्मक्षेत्र से दूर जामनगर मे, जहाँ वे सौराष्ट्र वैद्य सम्मेलन का सभापतित्व करने गये थे, एकाएक मस्तिष्कगत रक्तस्राव के कारण स्वर्ग सिधार जायगे। आचार्यजी गत ६ मार्च १९५६ को बम्बई से जामनगर गये थे और सौराष्ट्र प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन की कार्यकारिणी समिति की बैठक में भाग लिया था। इसी बैठक मे अचानक वे मूर्च्छित हो गये और तत्काल उनका उपचार आरम्भ किया गया। लेकिन उनकी मूर्च्छा २९ घण्टे तक बनी रही और ७ मार्च १९५६ की रात मे ९-५० बजे उन्होंने स्वर्गलोक को प्रयाण किया। आचार्यजी के अचानक मूर्च्छित हो जाने का सवाद टेलीफोन द्वारा बम्बई के मुख्य मत्री श्री मोरारजी देसाई तथा राष्ट्रीय कॉंग्रेस के अध्यक्ष श्री ढेबर भाई को दिया गया था, क्योंकि सौराष्ट्र वैद्य सम्मेलन का उद्घाटन श्री ढेबर भाई ही करनेवाले थे। श्री ढेबर भाई यह दु खद सवाद सुनते ही आचार्यजी के पुत्र, पुत्री, पत्नी तथा जामाता को साथ लेकर विमान द्वारा जामनगर पहुँचे और उनके शय्यापार्श्व मे एकत्र हुए। आचार्यजी उस समय बिल्कुल बेहोश थे, नाड़ी और श्वास की गति अत्यन्त क्षीण थी तथा उन्हें आक्सीजन दिया जा रहा था। कुछ समय के बाद ही आचार्यजी ने सारे आयुर्वेद जगत् को बिलखता छोड कर महाप्रस्थान किया। जामनगर में ही उनकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हुई और सौराष्ट्र वैद्य सम्मेलन का कार्यक्रम उस दिन स्थगित हो गया। भारत के सुप्रसिद्ध आयुर्वेदोद्धारक और भारतीय सस्कृति एव धर्मशास्त्र के प्रखर विद्वान् पण्डित यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने लगातार ५५ साल तक आयुर्वेद की अद्वितीय सेवा करते रहने के बाद ७५ साल की उम्र मे देहत्याग किया।

आचार्यजी का जन्म काठियावाड के पोरबन्दर नामक स्थान पर पुष्करणा ब्राह्मण कुल मे सवत् १९३८ के मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा को हुआ था। आपके पिता, पितामह आदि पोरबन्दर के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे और आपके पिता त्रिकमजी आचार्य

पोरवन्दर के महाराजा के प्रधान राजवैद्य थे। आचार्यजी का विद्याभ्यास पोरबन्दर में ही यज्ञोपवीत के उपरान्त संस्कृत पाठशाला में आरम्भ हुआ था, लेकिन पिता श्री त्रिकमजी के वैद्यक-व्यवसायार्थ बम्बई आ जाने पर आचार्यजी ने बम्बई में ही शिक्षा-लाभ किया। प्रारम्भ में आपने सुप्रसिद्ध पण्डित श्री वासुदीमजी बालजी, श्री घेलारामजी मथुरादासजी व्यास तथा श्री जीवराम लल्लूभाई शास्त्री से क्रमश व्याकरण, काव्य, साहित्य आदि की शिक्षा प्राप्त कर पण्डितों की श्रेणी में प्रवेश किया। तत्पश्चात् अपने पिताजी एवं राजस्थान निवासी पं० गौरीशंकर वैद्य से आयुर्वेद शास्त्र का गहन ज्ञान अर्जन किया। प्रयाग निवासी हकीम रामनारायणजी से यूनानी वैद्यक का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद आप चिकित्सा-व्यवसाय में प्रवृत्त हुए। जब आप मात्र १८ वर्ष के थे तभी आपके पिताजी की मृत्यु हो गयी थी। अतएव सारे परिवार के भरण-पोषण का भार भी आप पर ही आ पड़ा था। लेकिन आपने अपना अध्ययन हमेशा जारी रखा और चिकित्सा व्यवसाय करने के साथ-साथ आप आयुर्वेदीय ग्रन्थों का संशोधन, व्याख्या, टीका, सम्पादन और ग्रन्थ लेखन कार्य बराबर करते रहे।

भारतीय वैद्य समाज यद्यपि काफी विशाल है, लेकिन ऐसे वैद्यों की संख्या बहुत कम है, जिनके पास सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थों का संग्रह हो। आचार्यजी को वैद्य समाज की यह दशा अत्यधिक कष्टदायक प्रतीत हुई और उन्होंने वैद्यों को अत्यन्त अल्प मूल्य में आयुर्वेदीय ग्रन्थ सुलभ करने के उद्देश्य से आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला का प्रकाशन आरम्भ किया। इस ग्रन्थमाला का वार्षिक चन्दा मात्र १) रखा गया था और मासिक साहित्य के रूप में उच्चकोटि के आयुर्वेदीय ग्रन्थों को प्रकाशित कर वैद्यों के लिए सुलभ किया जाता था। सर्वप्रथम आपने १९ वर्ष की आयु में मधुकोष व्याख्या सहित माधव निदान का प्रतिसंस्कार करके सम्पादन किया। तत्पश्चात् **राजमार्त्तण्ड, गदनिग्रह-दो भाग, आयुर्वेदप्रकाश, रसहृदयतन्त्र, रसप्रकाशसुधाकर, नाड़ीपरीक्षा, वैद्य-मनोरमा, धारापद्धति, रसायनखण्ड, रसपद्धति, लौहसर्वस्व, रससार, रससंकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल, अनंगरंग, पंचसायक, कन्दर्पचूड़ामणि** आदि १५ ग्रन्थों का सम्पादन कर आयुर्वेदीय ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त **आतंकदर्पण व्याख्या सहित माधवनिदान; सुश्रुत**-श्री डल्हण रचित निबन्ध संग्रह व्याख्या सहित, **चरक संहिता** चक्रपाणि और श्री शिवदास सेन कृत व्याख्या सहित प्रकाशित कराया। **सिद्धमंत्र-निघण्टु, वातघ्नत्वादि निर्णय** एव **त्रिशती** की भी आपने व्याख्या की और प्रकाशित कराया। **औषधिसंग्रह, कर्मक्षेत्र** और **भारतीयरसशास्त्र** नामक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद कर आपने प्रकाशित कराया तथा अनेक अलभ्य हस्तलिखित ग्रन्थ आपने विभिन्न प्रकाशकों का प्रकाशनार्थ दिए। स्वर्गीय वैद्य प० हरिप्रपन्नजी को 'रसयोगसागर' के संग्रह के लिए ३७ हस्तलिखित पुस्तकें आपने दी थी, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चिकित्साभरण, (२) चिकित्सारहस्य, (३) भैषज्यसारामृत संहिता, (४) योग-

समुच्चय, (५) रसकंकालीय, (६) रसकल्पना, (७) रसकामधेनु, (८) टोडरानन्द, (९) रसकौमुदी (ज्ञानचन्द्रकृत), (१०) रसज्ञान, (११) रसदीपिका, (१२) रसपद्धति, (१३) रसप्रदीप, (१४) रसपारिजात, (१५) रसरत्नमणिमाला, (१६) रसमुक्तावली, (१७) रसरत्नदीपिका, (१८) रसराजलक्ष्मी, (१९) रसराजशकर, (२०) रसराजशिरोमणि, (२१) रससागर, (२२) रसायनसग्रह, (२३) रसावतार, (२४) रसावतार (माणिक्यचन्द जैन), (२५) रसालकार, (२६) रसेन्द्ररत्न कल्पद्रुम, (२७) रसेन्द्रचूडामणि, (२८) रसेन्द्रमगल, (२९) रसेन्द्ररत्नकोश, (३०) लोहपद्धति, (३१) लोहसर्वस्व, (३२) योगचन्द्रिका, (३३) वसवराजीय, (३४) वैद्य-चिन्तामणि (३५) वैद्यचिन्तामणि (लघु), (३६) वैद्यदर्पण, (३७) स्त्रीविलास। कविराज गणनाथसेन कृत प्रत्यक्ष शारीर का गुजराती अनुवाद डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक द्वारा आपने ही कराया था। नेपाल के विख्यात् वैद्य पं० हेमराज शर्मा से प्राप्त कौमारभृत्य विषयक काश्यप सहिता या वृद्धजीवकीय तन्त्र का भी आपने प्रकाशन कराया।

आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी पाठ्य ग्रन्थों की रचना और प्रकाशन की ओर भी आपने विशेष रूप से ध्यान दिया था और **द्रव्यगुणविज्ञान, सिद्धयोग-संग्रह, आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान (पूर्वार्द्ध)** आदि ग्रन्थ लिख कर **श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित कराया था।** आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान का उत्तरार्द्ध आपने हाथमेंही है। इनके अतिरिक्त वैद्य श्री रणजितराय, प० रामरक्ष पाठक, स्व० प० बाल-कृष्ण अमरजी पाठक आदि सुप्रसिद्ध आयुर्वेद विद्वानो से छात्रोपयोगी आयुर्वेदीय पुस्तकों की रचना कराकर आपने **वैद्यनाथ प्रकाशन** द्वारा प्रकाशित कराया था।

आचार्यजी की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती, बगला, उड़िया, उर्दू तथा मराठी भाषाओं पर अच्छा प्रभुत्व प्राप्त था। स्वाध्याय मे उपयोगी अग्रेजी ग्रन्थो का भी आपने बृहत सग्रह कर रखा था और उनका उपयोग वे चिकित्सा-कर्म, ग्रन्थ लेखन आदि मे किया करते थे।

आप हरिद्वार, ग्वालियर, देहली मे सम्पन्न अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष रहे थे। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के तत्त्वावधान मे **श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा आयोजित शास्त्रचर्चा-परिषदें आपके सभापतित्व में सम्पन्न हुई थीं।** जनवरी' ५० मे पटना की शास्त्रचर्चा परिषद् मे त्रिदोष जैसे गूढ व दार्शनिक विषय और मई' ५३ मे हरिद्वार की शास्त्र-चर्चा परिषद् मे द्रव्यगुण-रस-वीर्य-विपाक जैसे गम्भीर विषय की गुत्थियाँ आपके सभापतित्व मे ही सुलझ पाई थी। वृद्धावस्था मे भी आप प्रतिदिन १७–१८ घण्टे तक अध्ययन-लेखन आदि कार्य किया करते थे। आचार्य द्रोण और भीष्मपितामह की तरह आप सच्चे कर्मवीर थे। भारत के अनेक

प्रकाशकीय वक्तव्य



आयुर्वेदीयव्याधि-विज्ञान का पूर्वार्द्ध १९५४ मे प्रकाशित हो चुका है। पूर्वार्द्ध प्रकाशित होते ही उत्तरार्द्ध की मॉग जोरों से आने लगी। अपने प्रेमी ग्राहकों की अत्यधिक मॉग देखकर मैंने पूज्यपाद श्रीयुत आचार्य यादवजी से प्रार्थना की, आचार्यजी का कृपापात्र मै बराबर रहा, अत एव अतिवृद्धावस्था एव अत्यधिक चिकित्सादि कार्य मे व्यास होते हुए भी मेरी प्रार्थना उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर **आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान** का **उत्तरार्द्ध** लिखना प्रारम्भ कर दिया आचार्यजी मे यह एक विशेष प्रतिभा थी कि प्रकाश्य पुस्तक का थोडा मेटर लिखकर प्रेसमे कार्यारम्भ कर देते थे जब प्रेसमे पुस्तक-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हो जाता था तो पुस्तक का काम कभी मेटर के लिये रुक न जाय-इसका ध्यान रखते हुए अत्यधिक कार्य व्यस्त होने पर भी प्रूफ तथा प्रेसमेटर देने का कार्य अविराम गति से चलता रहता था यदि इस बीचमे कहीं बम्बई से बाहर जानेका काम आ जाता था, तो जितने दिन के लिए बाहर जाते, उतने दिनो के लिए प्रेसमेटर तो दे ही जाते। साथ ही प्रूफ देखने की भी व्यवस्था कर जाते इस प्रकार आचार्यजी के पुस्तक-प्रकाशन का काम निरन्तर चलता रहता था।

प्रस्तुत **आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान-उत्तरार्द्ध** के पीछे भी ऐसी ही बाते है जिसे स्पष्टकर देना भी अनुचित न होगा। आचार्यजी गत मार्च मास की १ ली तारीख को सिर्फ एक सप्ताह के लिए बम्बई से बाहर-अहमदाबाद तथा जामनगर के लिए प्रस्थान किया था। उस समय तक 'आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान-उत्तरार्द्ध' का १५ फर्मा छप चुका था और १६ वे फर्मे का आर्डर प्रूफ देखकर दे गए थे। एवं १७ वे फर्मे का प्रेस मेटर कम्पोज करने को दे यह कह कर गए थे कि "एक सप्ताह तक के लिए तेरे (प्रेसके) पास इतना कार्य है बाद का मेटर आकर दूंगा" यह किसे ज्ञात था कि इसी समय अनभ्र वज्रपात होगा ठीक ७ मार्च १९५६ को आचार्यजी ने अपने स्वजनों, मित्रों, शिष्यों आदि को छोड़कर स्वर्ग सिधार गये यह दु खद समाचार बिजली की तरह सारे भारत मे फैलकर समस्त वैद्य समाज एव आचार्यजी के मित्र-शिष्य वर्ग शोक सागर मे मग्न होगए। पूज्य आचार्यजी का सक्षिप्त जीवन परिचय इस पुस्तक के प्रारम्भ में पढे।

आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान का प्रयोजन-आयुर्वेद-शास्त्र मे विधि-विज्ञान (रोग-ज्ञान) प्रमुख एवं आवश्यक विषय है। रोग-ज्ञान के अनन्तर ही चिकित्सक चिकित्सा-कार्य मे सफल हो सकता है। सफल चिकित्सक होने के लिए आयुर्वेद-शास्त्राचार्यों का भी यही आदेश है, यथा-"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। तत कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥" तथा च-"सर्वरोगविशेषज्ञ सर्वौषधिविशारद। भिषक् सर्वमियान् हन्ति न च मोह निगच्छति।" रोग-ज्ञान का विषय इतना

गहन है कि अच्छे मे अच्छे अनुभवी चिकित्सक भी कभी-कभी रोग-परीक्षण मे विमोहित हो जाते हैं।

यद्यपि रोग-ज्ञान के लिए चरक-सुश्रुत-वाग्भट आदि ग्रन्थों मे भी सविस्तर वर्णन है किन्तु वे सूत्ररूप मे तथा ऐसे बिखरे हुए हैं कि उनसे विद्वान वैद्यों के अतिरिक्त अल्पमति चिकित्सक लाभ उठाने मे असमर्थ ही रहते है सम्प्रति रोग-ज्ञान के लिए छात्रो को "माधव निदान" ही पढाया जाता है किन्तु यह निदान-ग्रन्थ सकलित और अति-प्राचीन होने के साथ-साथ वर्तमान समय मे, माधव निदान आयुर्वेदीय रोगविनिश्चय मे साधारणतया उपयोगी होनेपर भी सिद्धान्त रूपसे स्वीकृत होनेमे आयुर्वेदकी महत्ता कम हो जाती है। यूनानी और डाक्टरी रोग-विनिश्चय के समकक्ष मे आयुर्वेद छोटा प्रतीत होता है। आयुर्वेद के पूर्ण स्वरुप ज्ञान के लिये यह—**व्याधिविज्ञान** समर्थ होगा—ऐसी आशा है॥ जब कि वर्तमान चिकित्सकों की दिनप्रतिदिन एक न-एक नवीन रोगो का परीक्षण तथा चिकित्सा करनी पडती हैं—**आयुर्वेदीय** दृष्टिकोणसे रोग-ज्ञान करने-के लिए आयुर्वेदीय वर्तमान निदान ग्रन्थों मे उन नवीन रोगों का विवरण न पाकर हताश-से हो जाते हैं सब से अधिक परेशानी तो आयुर्वेदीय स्कूल-कालेजो मे पढने वाले छात्रो को होती है इन्हे आयुर्वेदीय दृष्टिकोणसे सविस्तर रोग-परीक्षण ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक पुस्तक के अभाव मे कई आयुर्वेदीय प्राचीन सस्कृत भाषा मे पुस्तक का अध्ययन करने पर भी रोग-परीक्षण का सम्यक् ज्ञान नही हो पाता है।

इन सब कठिनाइयों का अनुभवकर आयुर्वेद-जगत के सुविख्यात विद्वान आचार्यप्रवर श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज ने आयुर्वेदीय छात्रोपयोगी—"आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान" नामक मौलिक पुस्तक सरल हिन्दी भाषा मे लिखकर आयुर्वेद साहित्य भण्डार मे जो एक बडी कमी थी उसकी पूर्ति की है। यद्यपि यह पुस्तक हिन्दी भाषा मे है किन्तु पुस्तक को अत्युपयोगी और प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से नीचे टिप्पणी मे चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थों के मूलसूत्र एवं इनके टीकाकारों के अभिमत भी उद्धृत कर आचार्यजी ने इस पुस्तक को अति सुबोध और सरल बना दिया है।

इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में अरिष्ट विज्ञान, दोष-धातु-मल-विज्ञान, विविधपरीक्षादि रोग-विज्ञान मे सहायक अनेक आवश्यकीय ज्ञातव्य विषयों का समुचितरूप से सग्रह कर जैसे उपयोगी बनाया है उसी प्रकार इस उत्तरार्द्ध मे भी ज्वरादि रोगों के स्वरुप, भेद, लक्षण, उपद्रव, साध्यासाध्यादि का समुचित ढग से उल्लेख कर सर्वोपयोगी बना दिया है। यह पुस्तक पूज्य आचार्यजी के आयुर्वेद-शास्त्र विषयक अगाध ज्ञान का परिचायक है।

आयुर्वेद के विषय मे आचार्यजी के सामायिक विचार—पूज्य आचार्यजी के जीवनकालिक आयुर्वेद-साहित्य-कार्यकलापोके ऊपर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि ग्रन्थ लेखन के प्रारम्भिक काल मे आपने आयुर्वेद के अलभ्य ग्रन्थो को अति कष्ट से प्राप्तकर प्रकाशित किया। आयुर्वेदके अनेक मूल और टीका ग्रन्थों का सम्यक्

सशोधन और सम्पादन किया। इसके बाद जैसे-जैसे समय परिवर्तित होता गया तैसे तैसे श्रीयुत आचार्यजी के विचारों में भी समयानुसार परिवर्तन होने लगा। इधर कुछ वर्षों से आचार्यजी के विचार इस रूप में आगये थे कि जटिल सहिता ग्रन्थ केवल पुस्तकालयों की शोभा बढाने के लिये ही रह जायेंगी और इनके अध्ययनाध्यापन से लोग क्रमश विमुख होते जायेंगे अत एव समय को देखते हुए आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी मे ग्रन्थ लिखने तथा अनुवाद करने के साथ-साथ अन्य विद्वानों को भी यही शैली अपनाने के लिए प्रोत्साहन देना अपना कर्तव्य समझ लिया था।

आचार्यजी के ग्रन्थ लेखन की अन्तिम लालसा—मालूम होता है कि आचार्यजी को अपने जीवन के विषय में पूर्वाभास होगया था इसी लिए प्रस्तुत पुस्तक का लेखन आप अन्य आवश्यक कार्यों की अवहेलना करते हुए इतनी तत्परता से करते रहे कि किसी तरह यह ग्रन्थ शीघ्र पूर्ण हो जाय। इतना ही नहीं इस पुस्तक को लिखते समय आपने अपनी चिकित्सा व्यवसाय को भी शिथिल कर दिया था केवल नाममात्र के लिए अपने औषधालय मे और कुछ आवश्यक रोगियों को देख शेष रोगियों की चिकित्सा का भार अपने **चिरंजीव पुत्र श्री. रुद्रदत्तजी वैद्य आयुर्वेदविशारद (बाबूभाई)** पर छोडकर चले जाते थे। अनेक बार आपके मुख से यही सुनने में आता था कि भाई किसी तरह "आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान-उत्तरार्द्ध" पूरा प्रकाशित हो जाय। उस समय इन शब्दों का अर्थ समझ में नही आता था किन्तु अब स्पष्ट ज्ञात होता है कि आपको ऐहिक लौकिक जीवन समाप्ति का आभास पूर्व ही होगया था। अन्तमें परिणाम यह हुआ कि ७ मार्च १९५६ को ऐहिक जीवनलीला सवरण कर आप स्वर्गस्थ होगए। और यह ग्रन्थ भी पूरा न होनेके कारण हम अत्यन्त शोकाकुल हो, इसे सावशेष ही प्रकाशित कर अपने प्रिय पाठकों की सेवा में समर्पित कर रहे हैं। आगामी सस्करण तक इसका शेष भाग भी पूर्तिकर अपने प्रिय पाठकों की सेवा में समर्पित करने की चेष्टा करेंगे। आशा है तब तक पाठक गण इतने ही मे सन्तोषकर इस पुस्तक से अधिकाधिक लाभ उठायेंगे।

विजयादशमी
ता १४।१०।५६

निवेदक
श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि. झाँसी.

आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान–उत्तरार्धके अन्तर्गत विषयोंकी वर्णानुक्रमणिका ।

नमोऽस्त्वायुर्वेदप्रवर्तकेभ्यो देवेभ्यो महर्षिभ्यश्च ।

आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान



उत्तरार्ध

ज्वरनिदानाध्याय-प्रथम

ज्वरका प्रत्यात्म लक्षण—

दैहिक (देह और इन्द्रियोंका) तथा मानस (मनका) जो संताप वह ज्वरका प्रत्यात्मिक (प्रत्येक ज्वरमें होनेवाला अव्यभिचारि-खास) लक्षण है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो ज्वर आने पर तप्त-उष्णगात्र न होता हो। शरीरके स्वाभाविक संताप (गरमी Temperature) से अधिक संताप बढना (जिसका अनुभव स्पर्शद्वारा होता है और तापमापक (Thermometer) से मापा भी जा सकता है) यह **देहसंताप** का लक्षण है। इन्द्रियोंकी विकृति होना (इन्द्रियोंके स्वभावमें विकार उत्पन्न होना-इन्द्रियों का अपने विषयोंको यथावत् ग्रहण न करना) यह **इन्द्रियसंताप**का लक्षण है। वैचित्त्य (मनकी व्याकुलता), अरति (बेचैनी) और ग्लानि (मनकी शिथिलता-मनोऽवसाद या अहर्ष) ये **मानस संताप** के लक्षण हैं[1] (च.)। सम्प्राप्तिकी अवस्थामें या प्रायः स्वेद न आना, संताप और सर्व शरीरमें कुछ न कुछ वेदना होना-ये तीनों लक्षण जिस रोगमें हों उसको **ज्वर** कहते हैं[2] (सु.)।

---

१ "ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देह-मानसः। ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥ इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्। वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्॥" (च. चि. अ. ३)। "देह-मानसः- दैहिको मानसश्च संतापः, "देहेन्द्रिय-मनस्तापकरः।" (च. नि. अ. १)। इह इन्द्रियाणां देहेऽवरोधः। ज्वरस्य प्रत्यात्मिकं लिङ्गं प्रतिज्वरमव्यभिचारि लक्षणम्। कुतः ? हि यतः ज्वरेण आविशता किञ्चिन्मनुष्यादिभूतं प्राणी न तप्यत इति न, किन्तु सर्वमेव तप्यते। इत्थं च सर्वत्र संतापस्यावश्यभावात् सन्ताप एव ज्वरस्याव्यभिचारि लक्षणम्। × × ×। इन्द्रियाणां वैकृत्यं विकृतिः स्वभावान्यथात्वं, तच्च यथास्वमर्थाग्रहणादनु-मेयम्।" (यो.)। २ "स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। विकारा युगपद्यस्मिञ्ज्वरः स परिकीर्तितः॥" (सु. उ. अ. ३९)। "स्वेदावरोध इति सामान्येनोक्ते सत्यपि बुद्धिमता सम्प्राप्त्यवस्थायां स्वेदावरोध इति निरूपणीयं, सम्प्राप्तिं प्रकृत्य वक्ष्यति—"रसस्वेदप्रवाहिणाम्। स्रोतसां मार्गमावृत्य" इति। एवं च यत्र रोगे सम्प्राप्त्यवस्थायां स्वेदावरोधोऽनन्तरं च युगपत्

वक्तव्य—'सप्राप्तिकी अवस्थामे स्वेदका अवरोध होना (पसीना न आना)' यह अर्थ **कविराज हाराणचन्द्रजी**की व्याख्यानुसार किया गया है। **डल्हण** कहते हैं कि 'स्वेद न आना' यह लक्षण प्रायिक (प्राय होनेवाला) है, क्योंकि पैत्तिक ज्वरमे स्वेद देखा जाता है। **चरक**ने भी "स्रोतोंके सन्निरुद्ध होनेसे तथा अग्नि अपने स्थानसे च्युत होनेसे तरुण ज्वरमे प्राय स्वेद नही आता है-'स्रोतसा सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं नाधिगच्छति। स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणज्वरे ॥'-" इस वचनसे स्वेदावरोधको प्रायिक बताया है। 'स्वेदावरोध'के स्थान पर 'वेगावरोध' ऐसा पाठान्तर मिलता है, उसके अनुसार 'मल-मूत्र-वात आदिके वेगोकी सम्यक् प्रवृत्ति न होना' यह अर्थ होता है।

विधि (प्रकार) भेदसे ज्वरके भेद—

शारीर और **मानस** भेदसे ज्वर दो प्रकारका होता है। शारीर ज्वर प्रथम शरीरमे उत्पन्न होकर पीछे मनको सतप्त करता है और मानस ज्वर प्रथम मनमे उत्पन्न होकर पश्चात् शरीरको सन्तप्त करता है। **सौम्य** (शीत कारणोसे उत्पन्न **शीतज्वर**-वातज, कफज तथा वातकफज) और **आग्नेय** (उष्ण कारणोसे उत्पन्न-**दाहज्वर**-पित्तज) भेदसे ज्वर दो प्रकारका होता है। सौम्य-शीतज्वरसे पीड़ित मनुष्य उष्ण पदार्थोंकी इच्छा करनेवाला (**उष्णाभिप्राय**) और आग्नेय-दाहज्वरसे पीडित मनुष्य शीत पदार्थोंकी इच्छा करनेवाला (**शीताभिप्राय**) होता है। वातपित्तज्वरसे पीड़ित मनुष्य शीत पदार्थोंकी तथा वातकफज्वरसे पीड़ित मनुष्य उष्ण पदार्थोंकी इच्छा करता है, मिश्रलक्षण ज्वरवाला (कफपैत्तिक तथा सान्निपातिक ज्वरवाला) मनुष्य कभी शीत और कभी उष्ण पदार्थोंकी इच्छा करता है। क्योंकि वायु योगवाही होनेसे जब तेज-पित्तके साथ सयुक्त होता है तब दाह और जब सोम-जल-कफके साथ सयुक्त होता है तब शीत उत्पन्न कर्ता है[२]। **अन्तर्वेग** और **बहिर्वेग** भेदसे ज्वर

सन्ताप-सर्वाङ्गग्रहणे दृश्येते स ज्वर इति निष्कर्षः।" (हा.)। "स्वेदावरोध स्वेदानिर्गम·। एतच्च प्रायिक लक्षण, पित्तज्वरे स्वेदनिर्गमात्। 'वेगावरोध.' इत्यन्ये पठन्ति। वेगावरोधो वात-मूत्र-पुरीषादीनामनिर्गम।" (ड)।

१ "द्विविधो विधिभेदेन ज्वर शारीर-मानस। शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानस ॥" (च चि अ ३)। "पूर्वमिति वचनादुत्तरकाल शारीरो ज्वरो मनस्यपि भवति, एव मानसो मनस्युत्पादानन्तर देहेऽपि भवतीति ज्ञेयम्। एव च यद्यपि सर्वज्वराणा देह-मनोऽधिष्ठानत्व, तथाऽपि यो देहाश्रयी प्रथम शरीरदोषेण बलवता प्रारब्ध स्यात् स तद्दोषचिकित्सयैव चिकित्स्य, एव मानसोऽपि मानसदोषचिकित्सयैव चिकित्स्य इति दर्शयितु शारीर-मानसभेदोपदर्शन साधु।" (च. द.)। २ "पुनश्च द्विविधो दृष्ट सौम्यश्चाग्नेय एव च। वातपित्तात्मक शीतमुष्ण वातकफात्मक ॥ इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षण। योगवाह पर वायु सयोगादुभयार्थकृत् ॥ शीतकृत् सोमसयोगाद्दाहकृत्तेजसा युत.।" (च चि. अ. ३)। "द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्राय शीतसमुत्थ, शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थ।" (च सू. अ. १९)।

दो प्रकारका होता है। जिस ज्वरमें रोगीको भीतरसे दाह अधिक मालूम होता हो परन्तु वाहरसे दाह कम हो तथा तृषा, प्रलाप, श्वास, चक्कर आना, सन्धियों (जोडों) और हड्डियोंमें पीड़ा तथा वातादि दोषों और स्वेद–मल–मूत्रादिकी रुकावट ये लक्षण हों उसको **अन्तर्वेग** ज्वर जानना चाहिए। वाहर (त्वचामें) सन्ताप–उष्णता अधिक होना परन्तु रोगीको भीतरसे दाह कम मालूम होना तथा तृषा, प्रलाप, श्वास और भ्रम कम होना ये **वहिर्वेग** ज्वरके लक्षण हैं। वहिर्वेग ज्वर सुखसाध्य और अन्तर्वेग ज्वर कष्टसाध्य होता है[1]। **प्राकृत** और **वैकृत** भेदसे ज्वर दो प्रकारका होता है। प्रावृड् ऋतुमें वातका, शरद् ऋतुमे पित्तका, तथा वसन्त ऋतुमें कफका प्रकोप प्रकृति(काल-स्वभाव)से होता है। अत प्रकृति(कालस्वभाव)से प्रावृड् ऋतुमे उत्पन्न वातज, शरद् ऋतुमे उत्पन्न पित्तज तथा वसन्त ऋतुमे उत्पन्न कफज ज्वरको **प्राकृत ज्वर** कहा जाता है। कालस्वभावके विपरीत प्रावृड् ऋतुमे उत्पन्न पित्तज या कफज, शरद् ऋतुमें उत्पन्न वातज या कफज और वसन्त ऋतुमें उत्पन्न वातज या पित्तज ज्वरको **वैकृत** (विकृतिसे–कालस्वभावके विपरीत उत्पन्न) **ज्वर** कहते हैं। शरद् तथा वसन्तमे उत्पन्न प्राकृत ज्वर सुखसाध्य तथा प्रावृड् ऋतुमे उत्पन्न प्राकृत ज्वर (वातज्वर) प्राय कष्टसाध्य होता है। सव प्रकारके वैकृत ज्वर कष्टसाध्य होते हैं[2]। **साध्य** और **असाध्य** भेदसे ज्वर दो प्रकारका होता है (साध्य और असाध्य ज्वरके लक्षण आगे लिखे जायँगे)। दोषोंके ज्वर आने और ठहरनेके कालके वल (वलवत्त्व) और अवल (अवलवत्त्व) से (वलावलसे) ज्वरके **सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक** और **चतुर्थक** ये पॉच भेद होते हैं। (इनका वर्णन आगे किया जायगा)[3]। रसादि धातुओंके आश्रय-

---

१ "अन्तर्वेगो वहिर्वेगो द्विविध. पुनरुच्यते। अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप श्वसन भ्रम ॥ सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोष-वर्चोविनिग्रह । अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥ सन्तापोऽभ्य-धिको वाह्यस्तृष्णादीना च मार्दवम्। वहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥" (च चि अ ३)। २ "कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वर । प्राकृत सुखसाध्यस्तु वसन्त-शर-दुद्भव ॥ प्रायेणानिलजो दु ख कालेष्वन्येषु वैकृत ॥" (च चि अ ३)। "प्रावृट्-शर-द्वसन्तेषु वाताद्यै प्राकृत क्रमात्। वैकृतोऽन्य स दु साध्य प्राकृतश्चानिलोद्भव ॥" (अ स. नि अ २)। ३ "प्राकृतो वैकृतश्चैव, साध्यश्चासाध्य एव च। पुन पञ्चविधो दृष्टो दोषकाल-वलावलात् ॥ सन्तत सततोऽन्येद्युस्तृतीयक-चतुर्थकौ। पुनराश्रयभेदेन धातूना सप्तधा मत. ।" (च चि अ ३)। "दोषकालवलावलादिति दोषकृतात् कालवलावलात्, कालवलावले ज्वरकालप्रकर्षाप्रकर्षौ। तत्र सतते ज्वरे वलवता दोषेण सप्ताहादि कालो नियम्यते। सततके तु सततकालापेक्षया हीनवलेन दोषेणावलो ज्वरकाल, स ह्यहोरात्रे द्विकालेनात्र व्यापको भवति। तथाऽयमेव सततज्वरकालो हीनवलकालान्येद्युष्कापेक्षया वलवान् भवति। एवम-न्येद्युष्कादिज्वरकालोऽपि व्याख्येय ।" (च द.)।

भेदसे ज्वरके **रसगत, रक्तगत, मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत, मज्जगत** और **शुक्रगत** ये सात भेद होते हैं (इनके लक्षण आगे लिखे जायँगे) । ज्वरारम्भक कारणोंके भेदसे ज्वरके **वातज, पित्तज, कफज, वात-पित्तज, वात-कफज, पित्त-कफज, त्रिदोषज** और **आगन्तुज** ये आठ भेद होते हैं (च.) । **साम** और **निराम** भेदसे ज्वर दो प्रकारका होता है[1] (वृ. वा.) ।

विभिन्न कारणोंसे होनेवाले ज्वर—

स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन-शिरोविरेचन-रक्तमोक्षण आदि क्रियाओंके मिथ्यायोग या अतियोगसे (**कर्ममिथ्यातियोगज ज्वर**), नख-दन्त-शस्त्र आदिके अभिघातसे (**अभिघातज ज्वर**), व्रणशोथ-विद्रधि आदि रोगोंके उत्थान-उत्पत्तिसे (**रोगोत्थानज ज्वर**), व्रण-विद्रधि आदि रोगोंमें प्रपाक (पकने-पूय उत्पन्न होने) से (**प्रपाकज ज्वर**), अति शारीरिक या मानसिक श्रम करनेसे (**श्रमज ज्वर**), राजयक्ष्मा या धातुओंके क्षयसे (**क्षयज ज्वर**), आहारके अजीर्णसे (**अजीर्णज ज्वर**), विषसे (**विषज ज्वर**), सात्म्यविपर्यय(अभ्यस्त या अनुकूल आहार-विहारमें सहसा परिवर्तन होने)से (**सात्म्यविपर्ययज ज्वर**), ऋतुओंमें सहसा परिवर्तन होनेसे (**ऋतुविपर्ययज ज्वर**), जहरीली वनस्पतियोंके पुष्पोंकी गन्धसे (**विषौषधिपुष्पगन्धज ज्वर**), शोक या कोपसे (**शोकज** या **कोपज ज्वर**), ग्रहपीडासे (**ग्रहबाधाजन्य ज्वर**), अभिचार(मारणादिके लिये प्रयुक्त आथर्वण या तान्त्रिक प्रयोग)से (**अभिचारज ज्वर**), गुरु-वृद्ध-सिद्ध आदिके अभिशापसे (**अभिशापज ज्वर**), काम-क्रोध-आदि मानसिक कारणोंसे (**मानसिक ज्वर**), देवादि भूतों (ग्रहों) के आवेशसे (**भूताभिषङ्गज ज्वर**), अभिशंका-भयसे (**भयज ज्वर**), स्त्रियोंको अकालमें या विषम प्रसूति होनेसे (**अपप्रजाताज्वर**), प्रसवके अनन्तर अहित आहार-विहारोंसे (**प्रसूतिज्वर–सूतिकाज्वर**) तथा प्रथम स्तन्योत्पत्तिके समय (**स्तन्यावतरणज्वर**) वात-पित्त-कफ इन तीन शारीर दोषोंसे या रज और तम इन दो मानस दोषोंसे होता है[2] ।

---

१ "भिन्न कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वर ।" (च चि अ ३)। "अथ खल्वष्टाभ्य कारणेभ्यो ज्वर सजायते मनुष्याणा, तद्यथा—वातात्, पित्तात्, कफात्, वात-पित्ताभ्या, वात-कफाभ्या, पित्त-कफाभ्या, वात-पित्त-कफेभ्य , आगन्तोरष्टमात् कारणात् ।" (च नि अ १)। "समासाद्विविधस्तु स । शारीरो मानस , सौम्यस्तीक्ष्णोऽन्तर्बहिराश्रय । प्राकृतो वैकृत , साध्योऽसाध्य , **सामो निरामकः** ॥" (अ स नि अ २)। २ "मिथ्यातियुक्तैरपि च स्नेहाद्यै कर्मभिर्नृणाम् । विविधादभिघाताच्च रोगोत्थानात् प्रपाकत ॥ श्रमात् क्षयादजीर्णाच्च विषात् सात्म्यर्तुपर्ययात् । ओषधीपुष्पगन्धाच्च शोका('कोपा०' इति पा०)न्नक्षत्रपीडया ॥ अभिशापाभिचाराभ्या मनोभूताभिशङ्कया । स्त्रीणामपप्रजाताना प्रजाताना तथाऽहितै ॥ स्तन्यावतरणे चैव ज्वरो दोषै प्रवर्तते ।" (सु. उ अ. ३९) ।

निज (शारीर) ज्वरोंकी सामान्य संप्राप्ति—

वातादि दोष अपने-अपने प्रकोप कालमें (प्रावृड् ऋतुमें वातके, शरद् ऋतुमें पित्तके तथा वर्षा ऋतुमें कफके प्रकोपकालमें) कालस्वभावसे प्रकुपित होकर अथवा व्रणप्रश्नाध्याय (सु सू अ २१) में कहे हुए बलवद्विग्रहादि हेतुओंसे वात, क्रोधादि हेतुओंसे पित्त तथा दिवास्वप्नादि हेतुओंसे कफ प्रकुपित होकर एक-एक, दो-दो या तीनों मिल, आमाशय (तथा पक्वाशय) में आ, रस धातुसे मिल, वहाँसे पाचकाग्निको बाहर निकाल, अपने साथ ले, अपनी सामताके कारण रस-स्वेदवाही स्रोतोंका अवरोध कर, रसायनियो-द्वारा समग्र शरीरमें व्याप्त होकर अपने दोषाग्निके तथा पाचकाग्निके ऊष्मासे देहोष्माको बढ़ा कर समग्र शरीरमें स्वाभाविक सताप (गरमी) से अधिक सताप उत्पन्न करते हैं, उस व्याधिको **ज्वर** कहते हैं[1]।

निज ज्वरोंके सामान्य पूर्वरूप—

मुँहका स्वाद बिगड़ जाना, शरीर भारी मालूम होना, अन्न खानेकी इच्छा न होना,

---

१ 'दोषा प्रकुपिता स्वेषु कालेषु स्वे प्रकोपणे । व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि ॥ क्रुद्धा स्वहेतुभिर्दोषा प्राप्यामाशयमूष्मणा । सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥ स्रोतसा मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् । निरस्य बहिरूष्माण पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥ शरीर समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् । जनयन्त्यथ वृद्धि च स्ववर्णं च त्वगादिषु ॥ × × × । तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगै । विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु बहिश्चर ॥ रुणद्धि चाप्यपाधातु यस्मात्तस्मा-ज्ज्वरातुर । भवत्यत्युष्णगात्रश्च ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥" (सु उ अ ३९)। "दोषा प्रकुपिताश्चयानुपूर्व्या । स्वेषु कालेषु प्रावृट्-शरद्वसन्तेषु आहोरात्रिकेषु च । एतेन प्राकृतो ज्वर उक्त । स्वे प्रकोपणैरिति बलवद्विग्रहादि-क्रोधादि-दिवास्वप्नादिभिर्व्रणप्रश्नोक्ते । अनेन च वैकृत ।" (ड)। "ससृष्टा सन्निपतिता पृथग्वा कुपिता मला । रसाख्य धातुमन्वेत्य पक्ति स्थानान्निरस्य च ॥ स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् । स्रोतासि रुद्ध्वा सप्राप्ता केवल देहमुल्बणा ॥ सतापमधिक देहे जनयन्ति नरस्तदा । भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥" (च चि अ ३)। "स्वेनेति दोषोष्मणा, तेनेति जाठराग्न्यूष्मणा, देहोष्मण सकलदेहचारिण प्राकृतोष्मण । वात-श्लेष्मणोस्तु यद्यपि पित्तवदूष्मा नास्ति, तथाऽपि तयोर्भूत-त्वेनोष्मा योऽस्ति स इह ग्राह्य ।" (च. द)। "रसाख्य धातुमन्वेत्य अनुगम्य । अन्नस्य सारभूतो धातुरामाशयादन्नेभ्यश्चाकृष्यमाणो यकृद्द्वारेण रसप्रपाद्वारेण वा रक्तस्रोत सञ्चारी 'रस' इत्युच्यते । तदनुगमन च दोषाणा रसायनी. प्रपद्यैव । तदुक्त **वाग्भटेन**–"प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनी. । रसायनी प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ।" (अ हृ नि अ १) ॥ (सि नि प्र ख पृ ६१)। "मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टा प्रदूषणै । आमाशय प्रविश्याममनुगम्य, पिधाय च । स्रोतासि, पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलन बहि । सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्त सकल वपु ॥ कुर्वन्तो गात्रमत्युष्ण ज्वर निर्वर्तयन्ति ते । स्रोतोविबन्धात् प्रायेण तत स्वेदो न जायते ॥" (अ हृ नि अ. २)।

नेत्रोंकी व्याकुलता, ऑखोंमे ऑसू आना, नीद अधिक आना, बेचैनी, जँभाई आना, शरीर झुकना, शरीर कॉपना, थकावट, चक्कर आना, प्रलाप, जागरण, रोमहर्ष, दन्तहर्ष, शब्द (आवाज)-ठण्ढी हवा और धूप कभी सहन होना (अच्छी लगना) और कभी सहन न होना, अन्न पर अरुचि, अन्न हजम न होना, दुर्वलता, अगोंमें पीडा, शिथिलता, दुर्वलता, दीर्घसूत्रता, आलस्य, उचित (अभ्यस्त) काममे हानि (उचित काम न करना), अपने कार्योंमे प्रतिकूलता, गुरुओके वाक्यमे दोष देखना, बालकोंके प्रति द्वेष (वे अच्छे न मालूम होना), अपने नित्यके कर्मोंकी चिन्ता न करना, पुष्पमाला-धारण-अनुलेपन और भोजन करनेमे क्लेश-कष्ट मालूम होना, मधुर भोजनके प्रति द्वेष तथा अम्ल-लवण और चरपरे भोजनके प्रति प्रेम (उनके खानेकी इच्छा), शरीरका स्वाभाविक वर्ण कुछ बदलना, विना परिश्रमके थकावट मालूम होना, ऑखोंके सामने अन्धेरा दीखना, ठण्ढ लगना, स्वभाव थोडा बदलना तथा चलनेमें कभी स्खलन होना ये सर्व ज्वरोंमे होनेवाले साधारण पूर्वरूप हैं (ज्वर चढ़नेके पहिले सामान्यतया ये लक्षण होते हैं)। इनमें मुखवैरस्य आदि कुछ लक्षण ज्वर आनेके अनन्तर भी बने रहते हैं[१] ।

निज ज्वरोंके विशिष्ट पूर्वरूप—

विशेष करके वातज्वरके पूर्वरुपमे जॅभाई, पित्तज्वरके पूर्वरुपमे ऑखोंमे जलन तथा कफज्वरके पूर्वरुपमें अन्न पर अरुचि ये लक्षण होते हैं । द्विदोषज ज्वरमे जिन दो दोषोंसे ज्वर हुआ हो उन दो दोषोंके तथा सन्निपात ज्वरमे तीनों दोषोंके मिले हुए लक्षण होते हैं[२] ।

---

१ "तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—मुखवैरस्य, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाष , चक्षुषोराकुलत्वम्, अश्र्वागमन, निद्राधिक्यम्, अरति , जृम्भा, विनाम , वेपथु , श्रम-भ्रम-प्रलाप-जागरण-रोमहर्ष-दन्तहर्षा , शब्द-शीत-वातातपसहत्वासहत्वम्, अरोचकाविपाकौ, दौर्वल्यम्, अङ्गमर्द , सदनम्, अल्पप्राणता, दीर्घसूत्रता, आलस्यम्, उचितस्य कर्मणो हानि , प्रतीपता स्वकार्येषु, गुरूणा वाक्येष्वभ्यसूया, बालेभ्य. प्रद्वेष , स्वधर्मेष्वचिन्ता, माल्यानुलेपन-भोजनपरिक्लेशन, मधुरेभ्यश्च भक्ष्येभ्य प्रद्वेष , अम्ल-लवण-कटुकप्रियता, इति ज्वरपूर्वरूपाणि भवन्ति प्राक् सन्तापात्, अपि चैन सन्तापार्तमनुवध्नन्ति ।" (च नि अ. १)। "आलस्य नयने सास्रे जृम्भण गौरव क्लम । ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्ति-द्वेषावनिश्चितौ ॥ अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च वल-वर्णयो । शीलवैकृतमल्प च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥" (च चि. अ. ३)। "श्रमोऽरतिर्विवर्णत्व वैरस्य नयनप्लव. । इच्छा-द्वेषौ मुहुश्चापि शीत-वातातपादिषु ॥ जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तम । अप्रहर्षश्च शीत च भवन्त्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ सामान्यत." (सु. उ. अ. ३९)। २ "विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थ समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाह , कफान्नान्नाभिनन्दनम् ॥ सर्वलिङ्गसमवाय. सर्वदोषप्रकोपजे । द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण ससृष्ट द्वन्द्वज विदु ।" (सु. उ. अ. ३९)।

वातज्वरके निदान संप्राप्ति और लक्षण—

रूक्ष-लघु और शीत पदार्थोंका अति सेवन, वमन-विरेचन-आस्थापन (निरूह वस्ति) तथा शिरोविरेचनका अतियोग, अति व्यायाम, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना, उपवास-अनशन, मैथुन, उद्वेग, शोक, रक्तका अति स्राव, रात्रिजागरण तथा शरीरावयवोंका विषम न्यास (रखना)–इन कारणोंसे (और सुश्रुत सूत्रस्थानके **व्रणप्रश्न** नामक २१ वें अध्यायमे कहे हुए वलवद्विग्रहादि कारणोसे) प्रकुपित वात पाचक पित्तके स्थान आमाशय और पच्यमानाशयमे प्रवेश कर, पाचकपित्तके ऊष्माके साथ मिल, रस धातुको प्राप्त हो, अपनी सामताके कारण रस-स्वेदवह स्रोतोका अवरोध कर, जठराग्निको मन्द कर, पाचनस्थानसे ऊष्माको वाहर निकाल कर समग्र शरीरमे व्याप्त होता है तव ज्वर उत्पन्न करता है। ज्वरके चढ़ने (वढ़ने) और उतरने (घटने) मे विषमता (थोडे-थोड़े समयमे घटना-वढना), सतापका वैषम्य (किसी अगमे अधिक तो किसी अगमे कम सताप होना), कदाचित् सताप अधिक तो कदाचित् हलका होना, अन्न जीर्ण होनेपर–दिनके अन्त(अपराह्न)मे–रात्रिके अन्तमे अथवा प्रावृड् ऋतुमे ज्वर आना (चढ़ना) या वढना, नख-नेत्र-मुख-मूत्र-मल और त्वचाका रूक्ष और अरुण-वर्ण होना, मल-मूत्रका अति अवरोध, शरीरके भिन्न–भिन्न अगोमे नाना प्रकारकी चल अस्थिर या अचल-स्थिर वेदनाएँ होना, जैसे–पॉवमे सुप्तता (सुन्नपन), पिंडलियोमे उद्वेष्टन (फूटनी-टूटनेकी सी वेदना), जॉघका अवसाद (शिथिलता), कमरमे टूटनेकी सी पीड़ा, पार्श्वशूल, पीठमे मर्दनकी सी पीडा, कॅधोंमे मथनेकी सी पीडा, वाहुमे फटनेकी सी वेदना, वाहुसन्धिमे तोड़नेकी सी पीडा, छातीमे सुए भोकनेकी सी पीडा, जवड़ेकी अपने कर्ममे (चवानेमे) असमर्थता, कनपट्टीमे सूई चुभनेकी सी पीड़ा, मुॅहका स्वाद कसैला या विरस (वेजायका) होना, मुख-तालु और कण्ठका सूखना, प्यास अधिक लगना, छातीमे जकड़नेकी सी पीडा, खाली उवकाई आना, सूखी खॉसी, छीक और डकार न आना, अन्न स्वादु न लगना, लालास्राव, अरुचि, अपचन, मनकी खिन्नता, जॅभाई आना, शरीरका नमना, कंप, थकावट, भ्रम, प्रलाप, निद्रा न आना, रोमहर्ष, दन्तहर्ष, उष्ण पदार्थोंकी इच्छा, मल वॅधकर कठिन हो जाना, पेटका अफारा तथा वातज्वरके जो हेतु कहे गये हैं उनसे ज्वर वढ़ना और उनसे विपरीत आहार–विहार और औषधोंसे सुख-आराम मालूम होना ये वातज्वरके लक्षण हैं[1]।

---

१ "रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोग-व्यायाम-वेगसन्धारणानशनाभिघात-व्यवायोद्वेग-शोक-शोणितातिषेक-जागरण-विषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायु प्रकोपमापद्यते। स यदा प्रकुपित प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातु रसनामानमन्ववेत्य, रसस्वेदवहानि स्रोतासि पिधायाग्निमुपहत्य, पक्तिस्थानादूष्माण वहिर्निरस्य, केवल शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा–विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्य, तीव्र-तनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा

पित्तज्वरके निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—

उष्ण-अम्ल-लवण-क्षार और कटु द्रव्योंका अति सेवन, कड़ी धूप, अग्निसन्ताप, श्रम, क्रोध तथा विषम (बहु, अल्प या अकालमें) भोजन (तथा सुश्रुत सूत्रस्थानके व्रणप्रश्नाध्याय नामके २१ वे अध्यायमें कहे हुए पित्तप्रकोपके हेतु)–इन कारणोंसे पित्त प्रकुपित हो, आमाशय और पच्यमानाशयमें प्रवेश कर, रस धातुसे मिल, रस-स्वेदवाही स्रोतोंका अवरोध तथा अपने द्रव गुणसे जठराग्निका उपघात कर, पाचनस्थानसे ऊष्माको बाहर निकाल, समग्र शरीरमें व्याप्त हो (फैल) कर ज्वर उत्पन्न करता है। पित्तज्वरके ये लक्षण होते हैं–समग्र शरीरमें एक साथ ज्वर आना या चढना, विशेष करके अन्नके विदाहकाल(पच्यमानावस्था)-मध्याह्न-मध्यरात्रि या शरद् ऋतुमें ज्वर आना और हो तो बढना, मुँहका स्वाद कडुआ-तीता होना, नाक-मुँह-कण्ठ-होठ और तालु पकना, प्यास अधिक लगना, मद (नशा चढा सा मालूम होना), चक्कर आना, मूर्च्छा, पित्तका वमन, पतले दस्त होना, अन्नद्वेष, सुस्ती, पसीना, प्रलाप, शरीर पर लाल रंगके चकत्ते निकलना, नख-नेत्र-मुख-मूत्र-मल और त्वचाका वर्ण हरा या पीला होना, शरीर खूब गरम होना, भीतरसे जलन मालूम होना, ज्वरका वेग तीक्ष्ण होना-रहना, शीतल पदार्थों(ठण्ढी हवा-जल आदि)की इच्छा, निश्वासमें दुर्गन्ध, थूकमें रक्त आना, खट्टी डकार तथा पित्त-

---

ज्वरस्यागमनमभिवृद्धिर्वा विशेषेण, परुषारुणवर्णत्वं नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचाम्, अत्यर्थं रूक्षीभावश्च, अनेकविधाश्चलाचलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानां, तद्यथा–पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं, जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणम्, ऊर्वोः सादः, कटी-पार्श्व-पृष्ठ-स्कन्ध-बाह्वंसोरसां च भग्न-रुग्ण-मृदित-मथित-चटितावपाटितावनुन्नत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यताऽऽस्यवैरस्यं च, मुख-तालु-कण्ठशोषः, पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषाद-जृम्भा-विनाम-वेपथु-श्रम-भ्रम-प्रलाप-प्रजागर-रोमहर्ष-दन्तहर्षाः, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो, विपरीतोपशयश्चेति।" (च. नि. अ. १) । "आगमापगमक्षोभ-मृदुता वेदनोष्मणाम् । वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः ॥ पादयोः सुप्तता स्तम्भः पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः । विश्लेष इव सन्धीनां सादः ऊर्वोः कटिग्रहः ॥ पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम् । भिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः ॥ हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः । स्कन्धयोर्मथनं बाह्वोर्भेदः पीडनमंसयोः ॥ अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भणं कर्णयोः स्वनः । निस्तोदः शङ्खयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता ॥ कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम् ॥ रूक्षारुणत्वगास्याक्षि-नख-मूत्र-पुरीषता ॥ प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्वेद-जागराः । कण्ठौष्ठशोषस्तृट् शुष्कौ छर्दि-कासौ विषादिता ॥ हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे ॥" (अ. सं. नि. अ. २)। "वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् । निद्रानाशः क्षुतः स्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ शिरो-हृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता । जृम्भाऽऽध्मानं तथा शूलं भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥" (सु. उ. अ. ३९)।

ज्वरके निदानमें कहे हुए आहार-विहारोंसे ज्वर बढ़ना और उनके विपरीत आहार-विहारादिसे आराम मालूम होना ये पित्तज्वरके लक्षण हैं।[१]

कफज्वरके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

स्निग्ध-गुरु-मधुर-पिच्छिल-शीत-अम्ल और लवण पदार्थोंका सेवन, दिनमें सोना, हर्ष (खूब आनन्दमें रहना), व्यायाम न करना (तथा सुश्रुत सूत्रस्थानके व्रणप्रश्नाध्यायमें कहे हुए कफप्रकोपके कारण)-इनके अति सेवनसे प्रकुपित कफ आमाशय(तथा पच्यमानाशय)में प्रवेश कर, रस धातुमें मिल, रस-स्वेदवह स्रोतोंका अवरोध कर, पाचनस्थानसे ऊष्माको बाहर निकाल कर समग्र शरीरमें फैलता है तब ज्वर उत्पन्न करता है। कफज्वरके ये लक्षण होते हैं—एक साथ सारे शरीरमें ज्वर आना या हो तो बढ़ना, विशेष करके भोजनके बाद-पूर्वाह्न-पूर्वरात्रि या वसन्त ऋतुमें ज्वर आना या हो तो बढ़ना, शरीर भारी मालूम होना, अन्न खाने पर रुचि न होना, मुख और नासिकासे कफ आना, मुँहका स्वाद मीठा होना, जी मिचलाना, छाती कफसे लिप्त-भरी सी मालूम होना, शरीर गीले कपडेसे लपेटा हुआ सा मालूम होना, वमन, अग्निमान्द्य, नींद अधिक आना, स्तब्धता, तन्द्रा, खाँसी, श्वास, जुकाम, ठण्ड लगना, नख-नेत्र-मुख-मूत्र-मल और त्वचाका श्वेतवर्ण होना, शरीर पर शीतपिडकाएँ (दाहरहित सफेद फुन्सियाँ) निकलना, उष्ण पदार्थोंके सेवनकी इच्छा होना, कफज्वरके जो हेतु कहे गये हैं उनके सेवनसे ज्वर बढ़ना और

---

१ उष्णाम्ल-लवण-क्षार-कटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपाग्निसन्ताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारेभ्यश्च पित्त प्रकोपमापद्यते। तद्यदा प्रकुपितमामाशय प्रविशदेवोष्माणमुपसृजदाद्यमाहार-परिणामधातु रसनामानमन्ववेत्य, रसस्वेदवहानि स्रोतासि पिधाय, द्रवत्वादग्निमुपहत्य, पक्तिस्थाना-दूष्माण बहिर्निरस्य, प्रपीडयत् केवल शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा, भुक्तस्य विदाहकाले-मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-तालुपाक , तृष्णा, मद , भ्रम , मूर्च्छा, अत्यर्थं पित्तच्छर्दनम्, अतिसार , अन्नद्वेष , सदन, स्वेद , प्रलाप , रक्तकोठाभिनिर्वृत्ति शरीरे, हरितहारिद्रत्व नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचाम्, अत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभाव , अतिमात्र दाह , शीताभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति।" (च नि अ १)। "वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्व तथा वमि । कण्ठौष्ठ-मुख-नासाना पाक स्वेदश्च जायते ॥ प्रलाप कटुता वक्त्रे मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा। पीतविण्मूत्र-नेत्रत्व पैत्तिके भ्रम एव च ॥" (सु उ अ ३९)। "युगपद्व्याप्तिरङ्गाना प्रलाप. कटुवक्त्रता। नासास्यपाक. शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽरति ॥ विड्स्रस पित्तवमन रक्तष्ठीवनमम्लक । रक्तकोठोद्गम पीत-हरितत्व त्वगादिषु ॥ स्वेदो निश्वास-वैगन्ध्यमतितृष्णा च पित्तजे।" (अ. हृ. नि अ २)।

विपरीत पदार्थोंके सेवनसे आराम मालूम होना, रोमहर्ष, स्रोतोंका अवरोध, शरीरमें पीड़ा अधिक न होना, शरीर अधिक गरम न होना तथा तन्द्रा ये कफ ज्वरके लक्षण हैं[१]।

द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज ज्वरके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

विषम (वहु, अल्प या अकालमें) भोजन, अनशन उपवास, सहसा असात्म्य आहार खाना-पीना, ऋतुव्यापत्ति (ऋतुएँ बिगड़ना), असात्म्य गन्ध सूंघना, विषदूषित जलका उपयोग करना, गर (कृत्रिम विष) का सेवन, तराईमें रहना, स्नेह-स्वेद-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन और शिरोविरेचनका अविधिसे प्रयोग करना, वमन-विरेचन आदिके अनन्तर विधिवत् पथ्य प्रयोग न करना, स्त्रियोंको विषम प्रसूति होना, प्रसवके बाद मिथ्या उपचार करना तथा ऊपर वातज्वर-पित्तज्वर और कफज्वरके जो हेतु कहे गये हैं उनके मिश्रीभाव (मिलकर सेवन करने) से वात-पित्त, वात-कफ या पित्त-कफ इन तीन द्वन्द्वोंमें कोई दो दो या तीनों दोष (त्रिदोष) मिल कर प्रकुपित होते हैं। वे प्रकुपित दोष ऊपर लिखे हुए सम्प्राप्तिक्रमके अनुसार ज्वर उत्पन्न करते हैं। इन तीन प्रकारके द्वन्द्वज ज्वरों तथा सान्निपातिक ज्वरको पहिले वातज्वर आदिके जो लक्षण कहे गए हैं उन लक्षणोंमें दो-दोके या तीनोंके मिले हुए लक्षण देख कर यह किस प्रकारका द्वन्द्वज या सान्निपातिक (त्रिदोषज) ज्वर है इसका निर्णय करना चाहिए (ये प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज और त्रिदोषज ज्वरके लक्षण हैं)[२]।

---

१ "स्निग्ध-गुरु-मधुर-पिच्छिल-शीताम्ल-लवण-दिवास्वप्न-प्रहर्षाव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स यदा प्रकुपित प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातु रसनामानमन्ववेत्य, रस-स्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य, पक्तिस्थानादूष्माण वहिर्निरस्य, प्रपीडयत् केवल शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति, तद्यथा— युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तमात्रे-पूर्वाह्णे-पूर्वरात्रे-वसन्ते वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाष, श्लेष्मप्रसेक, मुखमाधुर्य, हृल्लास, हृदयोपलेप', स्तिमितत्वं, छर्दि., मृद्वग्निता, निद्राधिक्य, स्तम्भ, तन्द्रा, कास, श्वास, प्रतिश्याय, शैत्य, श्वैत्य च नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचाम्, अत्यर्थं च शीतपीडका अङ्गे उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो, विपरीतोपशयश्चेति।" (च नि अ. १)। "गौरव शीतमुत्क्लेशो रोमहर्षोऽतिनिद्रता। स्रोतोरोधो रुगल्पत्व प्रसेको मधुरास्यता॥ नात्युष्णगात्रता च्छर्दिरङ्गसादोऽविपाकता। प्रतिश्यायोऽरुचि श्वास कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता॥" (सु उ अ ३९)। "विशेषादरुचिर्जाड्य स्रोतोरोधोऽल्पवेगता। प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेप-श्वास-पीनसा॥ हृल्लासच्छर्दन कास स्तम्भ श्वैत्य त्वगादिषु। अङ्गेषु शीतपिडकास्तन्द्रोदर्द कफोद्भवे॥" (अ हृ नि. अ २)। २ "विषमाशनादनशनादन्नस्य परिवर्तनादृतुव्यापत्तेरसात्म्यगन्धोपघ्राणाद्विषोपहतस्य चोदकस्योपयोगाद्, गरेभ्यो, गिरीणां चोपश्लेषाद्, स्नेह-स्वेद-वमन-विरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत् प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद्वा, स्त्रीणां च मिथ्याप्रजननाद् प्रजातानां च मिथ्योपचाराद्, यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदान

विकृतिविषमसमवेत वातपित्तज्वरके लक्षण—

रोमहर्ष, दाह, सन्धियों (जोड़ों) में टूटनेकी सी वेदना, सिरमें पीड़ा, कण्ठ और मुँहका सूखना, वमन, तृषा, मूर्च्छा, चक्कर आना, वेचैनी, निद्रा न आना, अति बोलना, जंभाई आना तथा अरुचि ये वात-पित्तज्वरके लक्षण हैं[1]।

विकृतिविषमसमवेत वातश्लेष्मज्वरके लक्षण—

ठण्ड लगना, शरीरका भारीपन, तन्द्रा, शरीर गीले कपड़ेसे लपेटा हुआ है ऐसा मालूम होना, सन्धियोंमें पीडा, सिर जकडा सा मालूम होना, जुकाम, खाँसी, पसीना न आना तथा ज्वरका संताप मध्यम रहना ये वातश्लेष्मज्वरके लक्षण हैं[2]।

द्वन्द्वानामन्यतम सर्वे वा दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते । ते प्रकुपितास्तयैवानुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति । तत्र यथोक्ताना ज्वरलिङ्गाना मिश्रीभावविशेषदर्शनाद् द्वान्द्विकमन्यतम ज्वर सान्निपातिक वा विद्यात् ।" (च नि अ १)। "निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृति । ससर्ग-सन्निपाताना तया चोक्त स्वलक्षणम् ॥" (च चि. अ ३)। "निदाने ज्वरनिदाने। प्रोक्ता "तत्र यथोक्तानां ज्वरलिङ्गानाम्" इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागुक्तानामित्यर्थ । तया चोक्त स्वलक्षणमिति तया द्वन्द्वरूपया द्वन्द्वलक्षण, सन्निपातरूपया च सन्निपातलक्षणमुक्तमित्यर्थ ।" (च. द.)। "द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गास्तु द्वन्द्वजास्त्रिविधा स्मृता ।" (सु उ.अ ३९)। "प्रकृतिसमसमवेतास्त्रिविधा द्वन्द्वज्वरा उच्यन्ते—द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गा इत्यादि ।" (ड.)। "सर्वजे सर्वलिङ्गानि ।" (सु उ अ ३९)। "निद्रानाश इत्यादिपाठेन विकृतिविषमसमवेतस्य सन्निपातज्वरस्य लक्षणमभिधाय प्रकृतिसमसमवेतस्य लक्षणमाह-सर्वजे इत्यादि ।" (ड)। "एतेनैतदुक्त भवति—प्रकृतिसमसमवायारब्धे द्वन्द्वजे सान्निपातिके वा व्याधौ प्रकृतिभूतयोर्द्वयोर्दोषयो प्रकृतिभूताना त्रयाणा वा दोषाणा स्वस्वकार्यरूपाण्येव लिङ्गानि भवन्ति, न त्वतिरिक्तानि । विकृतिविषमसमवायारब्धे तु तानि च तत्तद्द्विशस्त्रिकस्य वा दोषस्य कारणवैचित्र्यात् कोपविशेषाद् विकृतिविशेषात् सयोगतो दोषाणा स्वस्वकर्माणि मिलित्वा परिणम्यासमानजातीयानि लिङ्गानि भवन्तीति ।" (ग.)।

१ "रोमहर्षश्च दाहश्च पर्वभेद. शिरोरुजा । कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरति. ॥ स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृति ॥" (च चि. अ ३)। "तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाह स्वप्ननाश शिरोरुजा । कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तम ॥ पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृति ।" (सु उ अ ३९)। "इदानीं विकृतिविषमसमवेतान् द्वन्द्वजज्वरानाह—तृष्णेत्यादि । यतोऽय विकृतिविषमसमवेत. अतो वातपैत्तिके ज्वरे रोमहर्षारुच्योरभिधान, कफपैत्तिके तन्द्राभिधानम् ।" (ड)। "शिरोर्ति-मूर्च्छा-वमि-दाह-मोह-कण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदा. । उन्निद्रता-तृड्-भ्रम-रोमहर्षा जृम्भाऽतिवाक्त्व च चलात् सपित्तात् ॥" (अ. हृ. नि अ. २)। २ "शीतको गौरव तन्द्रा स्तैमित्य पर्वणां च रुक् । शिरोग्रह. प्रतिश्याय: कास. स्वेदाप्रवर्तनम् ॥ सतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृति ।" (च चि. अ ३)।

विकृतिविषमसमवेत श्लेष्मपित्तज्वरके लक्षण—

कभी दाह और कभी शीत मालूम होना, पसीना कभी आना और कभी रुक जाना, मूर्च्छा, खाँसी, अरुचि, तृषा, कफ और पित्तका वमन, मुँह कफसे लिप्त और पित्तसे कडुआ-तीता रहना तथा तन्द्रा ये श्लेष्मपित्तज्वरके लक्षण हैं[१]।

विकृतिविषमसमवेत सन्निपात ज्वरके लक्षण—

घड़ीमें शीत और घड़ीमें दाह मालूम होना, अस्थियोंकी सन्धियोंमें और सिरमें पीडा, नेत्र अश्रुयुक्त-मलिन लाल और फटे खुले से रहना, कानमें शब्द और पीडा, कण्ठमें काँटेसे चुभना, तन्द्रा, मोह-मूर्च्छा (या इन्द्रियोंका मोह), प्रलाप, खाँसी, श्वास, अरुचि, चक्कर आना, जीभ जली हुई सी-काली और खुरदरी मालूम होना, शरीरकी शिथिलता, रक्त और पित्तमिश्रित कफका थूकना, सिर इधर-उधर हिलाना, प्यास अधिक लगना, निद्रा न आना, छातीमें पीडा, स्वेद-मूत्र और मल देरीसे और थोडा-थोडा आना, शरीर रोगके प्रमाणमें अति कृश न होना, कण्ठसे अस्पष्ट आवाज निकलना (कूजन), श्याम और रक्त वर्णके ददोडे और चकत्ते निकलना, न बोलना, मुख नासिका आदि स्रोतोंका पाक, पेट भारी मालूम होना, दोषोंका देरीसे परिपाक होना (च.),

---

"स्तैमित्य पर्वणा भेदो निद्रा गौरवमेव च। ×××।" (सु उ अ ३९)। "तापदान्य-रुचि-भेद-शिरोरुक्-पीनस-श्वसन-कास-विबन्धा। शीत-जाड्य-तिमिर-भ्रम-तन्द्रा श्लेष्मवातजनित-ज्वरलिङ्गम्॥" (अ हृ नि अ २)।

१ "मुहुर्दाहो मुहु शीत स्वेद स्तम्भो मुहुर्मुहु। मोह कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्त-प्रवर्तनम्॥ लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृति।" (च चि अ ३)। "मोह इन्द्रिय-मोह। श्लेष्म-पित्तप्रवर्तनमिति कफ-पित्तवमनमित्यर्थ।" (ग.)। "लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा, मोह कासोऽरुचिस्तृषा। मुहुर्दाहो मुहु शीत श्लेष्मपित्तज्वराकृति॥" (सु उ. अ ३९)। "एतानि लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य ज्ञेयानि। विकृतिविषमसमवायारब्धत्व चैषा केवल-वातिक-पैत्तिकज्वरलक्षणाना मध्ये केषाञ्चिदेव नियमेन पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च ज्ञेयम्। यथाऽत्रैव वातपैत्तिके ज्वरेऽरुचि-रोमहर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेद सन्तापश्च, एव कफपैत्तिकेऽनवस्थित-शीत-दाहौ, एव सान्निपातिके सास्राक्षि-शिरोलोल(ट)नादि। प्रकृतिसमसमवायारब्धे तु वातादि-ज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति। अत एव चिकित्सिते चरको विकृतिविषमसम-वायारब्धाना द्वन्द्व-सन्निपातज्वराणा लक्षणानि साक्षात् पठित्वा निदानस्थानोक्तवातादिज्वरलिङ्गाति-देशेन प्रकृतिसमसमवायारब्धाना द्वन्द्व-सन्निपातज्वराणा लक्षणान्युक्तवान्। यदाह—निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृति। ससर्ग-सन्निपाताना तया चोक्त स्वलक्षणम्॥" (च. चि. अ. ३)।" इति मधुकोशव्याख्याया विजयरक्षितः। "शीत-स्तम्भ-स्वेद-दाहाव्यवस्था तृष्णा कास श्लेष्म-पित्तप्रवृत्ति। मोहस्तन्द्रा लिप्त-तिक्तास्यता च ज्ञेय रूप श्लेष्मपित्तज्वरस्य॥" (अ. हृ नि. अ. २)।

मद (नशा चढा सा मालूम होना), स्तम्भ (शरीर जकडा सा मालूम होना), उन्माद (पागलकी सी चेष्टाएँ), दाँतों पर काले रगका मैल जमना, बेहोशी (सु.), दिनमे खूब सोना, रातभर जागना या बिलकुल नींद न आना, गाना नाचना-हंसना आदि विकृत चेष्टाएँ करना, मुँह स्निग्ध रहना, आवाज बैठ जाना (वा.) ये सन्निपात ज्वरके (त्रिदोषारब्ध सन्तत ज्वरके) लक्षण है[1] ।

सन्निपात ज्वर(त्रिदोषज सन्तत ज्वर)की अवधि—

वाताधिक सन्निपात ज्वर सातवे दिन, पित्ताधिक सन्निपात ज्वर दसहवे दिन तथा कफाधिक सन्निपात ज्वर बारहवें दिन शीघ्रकारी होनेसे बढ कर उतर जाता है या रोगीको मारता है । साम होनेसे गुरु, बढे हुए, स्तब्ध (ऊर्ध्व या अधोमार्गसे न निकलनेवाले होनेसे निश्चल) और बलवान् वातादि तीनों दोष रसवाही स्रोतो द्वारा समग्र शरीर(रसादि सात धातु तथा पुरीष और मूत्र इन दो मलो)मे व्याप्त होकर त्रिदोषज सतत ज्वर उत्पन्न करते हं । वातादि तीन दोष, रसादि सात धातु और मूत्र तथा पुरीष दो मल—ये बारह त्रिदोषज सन्तत ज्वरके आश्रय है । प्रावृड् पूर्वाह्ण आदि काल, दूष्य (रसादि सात धातु और मूत्र तथा पुरीष ये दो मल) और वातल आदि प्रकृति-इनके तुल्य-समान और निष्प्रत्यनीक (जिनका कोई प्रत्यनीक-प्रतिकूल) नही है ऐसे दोष त्रिदोषज सन्तत ज्वरको उत्पन्न करते है । अत त्रिदोषारब्ध सन्तत ज्वर दु सह होता है और अपनी अवधि कालमर्यादा तक दिन-रात बना रहता है—किसी भी समय साफ उतरता नही है (यदि काल-दूष्य और प्रकृति-इनमेंसे कोई भी प्रतिकूल रहता तो उसके समयमें ज्वर उतर जाता) । सन्तत ज्वर रसादि धातु और मलोकी सम्यक् शुद्धि (दोषमुक्त होना) तथा दोषोंके प्रकृतिगमन (फिर अपने स्वाभाविक रूपमें आना) होने पर सातवे, दसहवें या बारहवे दिन उतर जाता है और जब उनकी

---

१ "क्षणे दाह क्षणे शीतमस्थिसन्धि-शिरोरुजा । सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥ सस्वनौ सरुजौ कर्णौ, कण्ठ शूकैरिवावृत । तन्द्रा मोह प्रलापश्च कास श्वासोऽरुचिर्भ्रम ॥ परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा, स्रस्ताङ्गता परम् । ष्ठीवन रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ शिरसो लोट(ल)न तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा । स्वेद-मूत्र-पुरीषाणा चिराद्दर्शन-मल्पश ॥ कृशत्व नातिगात्राणा प्रतत कण्ठकूजनम् । कोठाना श्याव-रक्ताना मण्डलाना च दर्शनम् ॥ मूकत्व स्रोतसा पाको गुरुत्वमुदरस्य च । चिरात् पाकश्च दोषाणा सन्निपातज्वराकृति ॥" (च चि अ ३) । "निद्रानाशो भ्रम श्वासस्तन्द्रा सुप्ताङ्गताऽरुचि । तृष्णा मोहो मद स्तम्भो दाह शीत हृदि व्यथा ॥ पक्तिश्चिरेण दोषाणामुन्माद श्यावदन्तता । रसना परुषा कृष्णा सन्धि-मूर्धास्थिजा रुज ॥ निर्भुग्ने कलुषे नेत्रे, कर्णौ शब्द-रुगन्वितौ । प्रलाप स्रोतसा पाक कूजन चेतनाच्युति ॥ स्वेद-मूत्र-पुरीषाणामल्पश सुचिरात् स्रुति ।" (सु उ अ ३९) ।

सम्यक् शुद्धि तथा प्रकृतिगमन नहीं होता है तब रोगीको मारता है। किन्तु जब धातु और मल विल्कुल शुद्ध (दोषमुक्त) नही होते (कुछ दोष उनमें बाकी रह जाते हैं) या कुछ शुद्ध (दोषमुक्त) हो जाते हैं और कुछ अशुद्ध (दोषयुक्त) रह जाते हैं तब बारहवें दिन अव्यक्त लक्षण (जिसमें ज्वरमुक्तिके जो लक्षण आगे कहे जायँगे वे स्पष्ट न हों) ऐसा विसर्ग करके-उतरके दीर्घ काल तक चलता है और कृच्छ्रसाध्य हो जाता है[1]। त्रिदोषज सतत ज्वरमें ज्वरमोक्ष (ज्वरका छूटना-उतरना) दारुण ज्वर-मोक्षके प्रकारसे होता है। ज्वरमुक्ति-ज्वर उतरनेके **दारुण** (Crisis) और **अदारुण** (Lysis) दोनों प्रकारके लक्षण आगे इसी अध्यायमें कहे जायँगे।

---

१ "सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥" (सु उ. अ ३९)। "सन्निपातज्वरस्य मोक्ष-वधयोरवधिमाह—सप्तमे इत्यादि। शीघ्र-मध्य-मन्द-शक्तित्वाद्वातादीनां सप्तमे दिने वाताधिकः सन्निपातज्वरः, दशमे दिने पित्ताधिकः, द्वादशे दिने श्लेष्माधिको हन्ति, विमुञ्चति वा ॥" (ड)। "स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः। सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥ दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥ काल-दूष्य-प्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्। निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥ स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः। सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥ यदा तु नाति शुद्ध्यन्ति नवा शुद्ध्यन्ति सर्वशः। द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥ विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम्। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥" (च. चि अ ३)। "गुरव इति वृद्धाः। शीघ्रमिति दशाहादय एव प्रभूततरकालान्तरापेक्षया शीघ्रशब्दवाच्याः। हनन-मोचनविकल्पस्तु रसादीनामशुद्ध्या शुद्ध्या च वक्तव्यः। कस्मादेवमयं दुःसहः शीघ्रकारी च सन्ततो भवतीत्याह—कालेत्यादि। कालः वर्षादिः, दूष्यः रसादिः, प्रकृतिः देहप्रकृतिः श्लेष्मप्रकृत्यादिका। ननु, कालादितुल्यता दोषस्य कदाचिदेव संभवति, यथा—वसन्ते, श्लेष्मप्रकृतौ, मेदसि दूष्ये, कफो दोषः, एवं शरदि पित्तमपि ज्ञेयम्, इतरेषां तु त्रिदोषाणां कालादितुल्यत्वं दुष्प्रापम्, अतस्तत्कृतसततः कथं भवतु? सन्ततश्च द्वादशाश्रयत्वेन त्रिदोषज एव वक्तव्यः। उच्यते—'तुल्य' इत्यभिधायापि यत् 'निष्प्रत्यनीक' इति करोति, तेन कालाद्यनुगुणतामेव कालादितुल्यतां स्फोटयति। कालादीनां चासमानानामपि बलवता दोषेण परिगृहीतानां प्रतीपार्थकरणासामर्थ्येनानुगुणता भवत्येव। यथा बलवतो राज्ञो हृदयेन प्रतिकूला अपि क्षुद्रराजानोऽनुगुणा एव भवन्ति। किंच त्रिदोषारब्ध एवास्मन्मते सन्ततः, तस्य चान्यतरं दोषं प्रति कालादीनां तुल्यत्वं संभवत्येव। × × ×। यथा धातूनित्यादिना सन्ततज्वरस्योत्पादादिक्रमं ब्रूते। धातूनिति रसादिसप्तकम्। ×। यथेति येन प्रकारेण गुरुत्व-स्तब्धत्वादिना। युगपदिति एककालम्। नियमादिति सर्वानेव धातून् सर्वे एव दोषाश्चानुपद्यन्ते। स शुद्ध्या वेत्यादि। स सन्ततः, यदा सर्वे रसादयः सर्वथा विशुद्धा भवन्ति तदा प्रशाम्यति सप्ताहादिषु, यदा रसादयः सर्वे सर्वथा चाशुद्धा भवन्ति तदा हन्तीत्यर्थः। अथ यदा स्तोका शुद्धिस्तदा का विवे-

एकदोषज और द्विदोषज संततज्वरकी अवधि—

स्वल्प और दुर्बल कारणोंसे उत्पन्न तथा जिसमे दूष्य और प्रकृति अल्पतुल्य हो ऐसा सन्तत ज्वर यदि वाताधिक हो तो सात, पित्ताधिक हो तो दस और कफाधिक हो तो बारह दिन तक अविसर्गी (न उतरनेवाला) होता है अर्थात् बना रहता है, परन्तु मारक नहीं होता। यह ज्वर सुखसाध्य तथा अल्प उपद्रव और लक्षणोवाला होता है [१]।

वक्तव्य—हारीत और **भालुकिने** सततज्वरकी मर्यादा ७, ९, ११, १४ १८ और २२ दिनकी बताई है। सामान्यत अनुभवसे देखा जाता है कि-सन्तत ज्वर ७, १०, १२, १४, २२ या २८ दिन तक चलता है। कभी कभी २८ दिनके बाद भी (३५, ४२, ४९, ५६ दिन तक) चलता है और उसकी मर्यादा ७ ७ दिन बढती है[२]।

त्याह—यदा त्वित्यादि। नातिशुद्ध्यन्तीति सर्वे एव नातिविशुद्धा भवन्ति सावशेषदोषा भवन्तीत्यर्थ.। न वा शुद्ध्यन्ति सर्वश इति रसादिषु मध्ये कतिचिच्छुद्ध्यन्ति, कतिचिच्चाविशुद्धा वर्तन्त इत्यर्थ.। द्वादशेति सप्त धातवस्त्रयो दोषा मूत्र पुरीष च। दोषाणा चेह शुद्धि प्रकृतिगमनेन ज्ञेया। ×। विसर्गमिति परित्यागम्। विसर्गस्वरूपमाह—अव्यक्तलक्षणमिति। ××। एभिश्च धात्वादिद्वादशाश्रयित्व-दशाहादिव्यापकत्वादिभिर्धर्मै सन्ततो भिन्न एव वातादिज्वरेभ्य कालानियमेन द्वि-त्र्यादिदिनेषु व्यवच्छेदेनानुसक्तेभ्य।” (च. द.)। “गुरव सामत्वात्। स्तब्धा निश्चला, ऊर्ध्वमधश्चानि सरणात्। ×××। सततादिषु चतुर्षु दोषस्य सप्रत्यनीकतया ज्वरस्य विरतिर्भवति, सतते तु कालादीना सर्वेषा तुल्यतया दोषस्य निष्प्रतिद्वन्द्वत्वात् सप्ताहादिषु अविच्छेद.।” (यो) “धातु-मूत्र-शकृद्वाहिस्रोतसा व्यापिनो मला। तापयन्तस्तनु सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिता॥ बलिनो गुरव. स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिता.। सन्तत निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वर कुर्यु सुदु सहम्॥ मलाज्वरोष्मा धातून् वा स शीघ्र क्षपयस्तत। सर्वाकार रसादीना शुद्ध्याऽशुद्ध्याऽपि वा क्रमात्॥ वात-पित्त-कफै सप्त-दश-द्वादशवासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ इत्यग्निवेशस्य मत, हारीतस्य पुन स्मृति। द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च। शुद्ध्यशुद्धौ पुन काल दीर्घमप्यनुवर्तते।” (अ स नि अ २, अ हृ. नि अ २)। “प्रतिपक्षैरखण्डितशक्तित्वाद्बलिन·, सामत्वाद्गुरव, स्तब्धा ऊर्ध्वमधश्चानि सरणात्।” (इन्दुः)।

१ “सप्ताह वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा। सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्तत स निगद्यते॥” (सु उ. अ ३९)। “सन्निपातारब्धस्य सन्तत‍ज्वरस्य ‘सप्तमे दिवसे प्राप्ते’ इत्यादिना मोक्ष-वधयोरवधि प्रतिपाद्येदानीमेकदोष-द्विदोषजस्य विसर्गकालावधिद्वारेण लक्षणमाह—सप्ताहमित्यादि। सन्तत्या नैरन्तर्येण, अविसर्गी अविसर्जनशील। अय च सुखसाध्य, यदुक्त—‘सन्ततज्वर एवान्य स्वल्प-दुर्बलकारण। एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्य प्रकीर्तित॥’-” (ड.)। “यत्तु तन्त्रान्तरे—“तथा सन्तत एवान्य स्वल्प-दुर्बलकारण। एकदोषो द्विदोषो वा स्वल्पोपद्रवलक्षण॥” इत्यादिना ग्रन्थेनोच्यते, सोऽस्मादन्य एवेति तन्त्रान्तरेऽप्यन्यशब्दप्रयोगात् प्रतिपादितमिति न विरोध।” (च. द.)। २ “हारीतस्य पुन स्मृति। द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्ये-

शल्यतन्त्रवेत्ताओंके मतसे विषम ज्वरकी संप्राप्ति, भेद और लक्षण—

जो कृश और ज्वरमुक्त (जिसका ज्वर तुरत छुटा-उतरा है ऐसा) या जिसमें ज्वर हुआ नहीं है ऐसा मनुष्य मिथ्या आहार और विहारका सेवन करता है, उसके शरीरमें अल्प भी वातादि दोष प्रकुपित तथा वायुसे प्रेरित होकर आमाशय, उर-छाती, कण्ठ, सिर और सन्धि—इन पॉच कफस्थानोंमेंसे किसी एक कफस्थानमें रह कर क्रमसे **सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक** और **प्रलेपक** इन नामोंके पॉच प्रकारके ज्वरोंको उत्पन्न करते हैं। आमाशयमें रहा हुआ दोष अपने प्रकोपकालमें प्रतिदिन दिन-रातमें दो वार (दिनमें एक वार, रातमें एक वार इस प्रकार दिन-रातमें दो वार या दिनमें दो वार और रातमें दो वार) **सततज्वर** उत्पन्न करता है (दोष आमाशयस्थित होनेसे दिनरात ज्वर रहना चाहिए, परन्तु दोष अपने प्रकोपकालमें ही ज्वर उत्पन्न करता है, अत सतत ज्वर दिनरातमें दो वार ही दोषके प्रकोपकालमें होता है)। उर-छातीमें रहा हुआ दोष एक अहोरात्रमें आमाशयमें आकर दूसरे दिन अपने प्रकोपकालमें प्रतिदिन दिनरातमें एक वार **अन्येद्युष्क** ज्वर उत्पन्न करता है। कण्ठमें रहा हुआ दोष एक अहोरात्रमें वक्ष स्थलमें तथा दूसरे दिन आमाशयमें आकर अपने प्रकोपकालमें तीसरे दिन **तृतीयक** ज्वर उत्पन्न करता है। सिरमें रहा हुआ दोष दूसरे दिन कण्ठमें, तीसरे दिन वक्ष स्थलमें तथा चौथे दिन आमाशयमें आकर अपने प्रकोपकालमें **च(चा)तुर्थक** ज्वर उत्पन्न करता है। इन विषम ज्वरोंमें दोषको एक कफस्थानसे दूसरे कफस्थानमें पहुचनेमें एक अहोरात्रका समय लगता है ऐसा माना गया है। ज्वरसप्राप्तिमें कहा गया है कि दोष जब आमाशयमें आता है तब ही ज्वर उत्पन्न करता है, अत आमाशयमें तथा दूर-दूरतर-दूरतम-कफस्थानों (उर-कण्ठ-सिर) में रहे हुए दोषसे क्रमसे **सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक** ये चार प्रकारके विषमज्वर होते हैं यह शल्यतन्त्रवेत्ताओंकी विषम ज्वरके विषयमें उपपत्ति-कल्पना है[1]।

कादशी तथा ॥ एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ शुध्यशुद्धा ज्वर. काल दीर्घमप्यनुवर्तते ॥" (अ स नि अ २)। "द्वादशेऽपि वा इत्यत्रापिशब्दान्नालुकिप्रोक्त सन्निपातज्वरस्य मोक्ष-वधयोरवधि. प्राप्यते। तेन "सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥" इति लब्धम्।" (ड.)।

१ "कृशाना ज्वरमुक्ताना मिथ्याहार-विहारिणाम्। दोष स्वल्पोऽपि सवृद्धो देहिनामनिलेरित. ॥ सततान्येद्युष-त्र्याख्य-चतुर्थान् सप्रलेपकान्। कफस्थानविभागेन यथासख्य करोति हि ॥ अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थान प्रपद्यते। ततश्चामाशय प्राप्य दोष कुर्याज्ज्वर नृणाम् ॥" (सु. उ अ ३९)। "सततज्वरमभिधायेदानीं विषमज्वरान् सततादीनाह—कृशानामित्यादि। कृशाना मिथ्याहार-विहारिणा ज्वरमुक्ताना च मिथ्याहार-विहारिणा दोष स्वल्पोऽपि 'अपथ्ये कृत' इति शेष, पुनरपथ्याहार-विहाराभ्यामभिवृद्धो वातप्रेरित सन् सततादीन् यथासख्य कफस्थानविभागेन करोतीति सबन्ध। कफस्थानानि आमाशयोर -कण्ठ-शिर -सन्धयो यथासख्यं

प्रलेपक ज्वरके लक्षण—

'सन्धि' नामक कफस्थानमें स्थित दोषसे **प्रलेपक** ज्वर होता है। इस ज्वरमें रोगी घर्म (पसीने) और गौरव (भारीपन) से लिपा हुआ सा रहता है, इसलिये इसको **प्रलेपक** कहते हैं। यह राजयक्ष्मावालेको होता है। इसमे ज्वरका सन्ताप मन्द रहता है तथा यह अति कष्टसाध्य और धातुओंका शोषण-क्षय करनेवाला होता है[१] (सु., वृ. वा.)। प्रलेपक ज्वर विषम न होनेपर भी सन्धिरूप कफस्थानमे रहे हुए दोषोंसे उत्पन्न होता है, इसलिये सततादि विषम ज्वरोंके साथ **सुश्रुतने** इसको लिखा है

"प्रलेपक ज्वर राजयक्ष्मा, विद्रधि, विसर्प आदि रोगवालोंको होता है। इसमे ज्वर प्रात काल मन्द-हलका रहता है और अपराह्णमे तथा सायंकाल बढता है। इस ज्वरमें शरीर पसीनेसे लिपा हुआ सा मालूम होता है। यह कफ और पित्तकी अधिकतासे होता है और रस-रक्तादि धातुओंको सुखाता है। **कविराज श्रीगणनाथसेनजी** इसको विषमज्वर मानते हैं। (सिद्धान्तनिदान प्र ख पृ ११८, ११९)[१]।

कथ्यन्ते। तत्र आमाशयस्थ सतत करोति, स च प्रतिदिन कालद्वयमनुवर्तते। उर स्थितो ऽन्येद्युष्क, कण्ठस्थस्तृतीयक, शिर स्थश्चतुर्थक, सन्धिस्थ प्रलेपकम्। ×××। अहोरात्रा-दुर स्थो दोष आमाशय प्राप्य अन्येद्युष्क करोत्यन्यस्मिन् दिवसे, कण्ठस्थितो द्वाभ्यामहोरात्राभ्या तृतीयक तृतीये दिवसे, शिर स्थित स्थानत्रितयमतिक्रम्य चतुर्थक चतुर्थदिवसे, सन्धिषु स्थितो नित्यमेव प्रलेपक, स च राजयक्ष्मिणामेव।" (ड.)। "अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालावनुवर्तते इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा, अह्नि एककाल रात्रावेककालमेव वा, द्वौ काला-वितीशानदेव, नियमानभिधानात्तथा दर्शनाच्च।" (वि र)। "तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सतत क्रियते पर द्विकाल, न सर्वदा, न चामाशयप्राप्त्या सर्वदाऽस्य सभवप्रसङ्ग, अहोरात्रेषु कालेषु प्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्ते।" (आ द)। "प्रलेपको नामामाशयसम्बन्धिस्वाय्वादि-सन्धिस्थितेन दोषेण क्रियत इत्यवोचाम निपुण विभाव्य।" (हा.)। "सन्धिस्थितेन दोषेण प्रलेपक क्रियते, सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति।" (वि र)।

१ "प्रलेपकस्त्वविषम शोषिणा प्राणनाशन। दुश्चिकित्स्यतमो मन्द सुकष्टो धातुशोषकृत्॥" (सु उ अ ३९)। "प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण ('श्लेष्मणा' इति पा०) गौरवेण च। मन्दज्वर-विलेपी च सशीत स्यात् प्रलेपक॥" (अ स. नि २) "प्रातर्हीनोऽपराह्णे य. साय वाऽपि प्रवर्धते। स्वेदै प्रलिम्पन् गात्राणि सोऽय ज्ञेय प्रलेपक॥ शोषिणा स भवेत् प्रायो विद्रध्यादिवता तथा। कफपित्तोल्बण कष्टो विषमो धातुशोषकृत्॥"। अथ प्रलेपक नाम विषमज्वरमाह–प्रातरित्यादि। प्रातर्हीन स्वल्पतर, प्रच्छन्नो वा। अपराह्णे मध्याह्नोत्तर, साय सूर्यास्तसमये प्रदोषे वा, य प्रवर्धते प्रकर्षेण उत्तरोत्तराभिवृद्ध्या वर्धते। किं कुर्वन्? स्वेदै. मुहुर्वारंवार प्रलिम्पन् पिच्छिलस्वेदजलेन प्रलेपमिव गात्रेषु जनयन्। स च स्वेद प्रायेण रात्रौ स्नपयतीवातुरम्। ईदृशो यो ज्वर. स प्रलेपको नाम। स केषा भवतीत्याह—शोषिणा राज-

अन्येद्युष्कविपर्यय, तृतीयकविपर्यय और चतुर्थकविपर्यय ज्वरके लक्षण—

दोष जब आमाशय, हृदय (उर), कण्ठ और सिर इन चार कफस्थानोंमेंसे दो, तीन या चार कफस्थानोंमें रहता है तब क्रमसे **अन्येद्युष्कविपर्यय, तृतीयकविपर्यय और चतुर्थकविपर्यय** नामके तीन कृच्छ्रसाध्य विपर्ययज्वर उत्पन्न करता है। दोष जब आमाशय और हृदय-इन दो कफस्थानोंमें रहता है तब दिन-रातमें दो समय छोड़ कर सारा दिन ज्वर बना रहता है। इसको **अन्येद्युष्कविपर्यय ज्वर** कहते हैं। दोष जब आमाशय, हृदय और कण्ठ-इन तीन कफस्थानोंमें रहता है तब एक दिन छोड़ कर आने वाला **तृतीयकविपर्यय** ज्वर करता है। दोष जब आमाशय, हृदय, कंठ और सिर-इन चार कफस्थानोंमें रहता है तब मध्यके दो दिन रहनेवाला और आदि तथा अन्तके दिन न रहनेवाला **चतुर्थकविपर्यय ज्वर** करता है[1] (सु.) **चरक और वाग्भटने** केवल **चतुर्थकविपर्यय** ज्वर ही लिखा है, **अन्येद्युष्कविपर्यय** तथा **तृतीयकविपर्यय** ज्वर नहीं लिखा है। एक ही कफस्थानमें रहा हुआ दोष संततक ज्वर उत्पन्न करता है, इसलिए उसका विपर्यय ज्वर नहीं होता।

यक्ष्मिणा, विद्रध्यादिवता तथा। विद्रधिर्नाम बाह्य आभ्यन्तरो वा गम्भीरो व्रणशोथः। यः पच्यमानः सर्वान् धातून् विकरोति। स च यदा बाह्योऽस्थिमांसादिसमाश्रितः, आभ्यन्तरो यकृदादिसमाश्रितो वा शनैः पच्यते तदा दोषत्रयमुदीरयन् धातुविदाहेन प्रायो ज्वरं जनयति। सोऽपि पूर्वोक्तलक्षणसामान्यात् प्रलेपकसंज्ञो भवितुमर्हतीति तस्मिन्नन्तर्भाव्यते। आदिपदेन विसर्पाणां ग्रहणम्। ×× । विद्रध्यादिवता शस्त्रचिकित्सया सुसाध्योऽयम्। ×। एष च ज्वरः शोषादीनामनुबन्धरूप एव, न स्वतन्त्रः।" (सि नि प्र स पृ ११८,११९)।

१ "सुश्रुते तु अन्येद्युष्क-तृतीयक-चतुर्थकानां विपर्ययाख्याश्च त्रयो विषमज्वरा उक्ताः। तद्यथा—"कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वि-त्रि-चतुर्षु वा। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥" (सु.उ अ ३९) इति। व्याख्यायते चैतद्वचनम्—आमाशय-हृदय-कण्ठ-शिरांसीति चत्वारि स्थानानि कफस्य। तथाहि यो दोषो निदानविशेषप्रभावात् कुपितोऽन्येद्युष्कविपर्ययं कुरुते स तत्तन्निदानविशेषप्रभावजनितद्विधाभूतत्वकफद्विस्थानस्थितत्वस्वभावं दिने चैकस्मिन् द्वि परित्यागि-सर्वाहोरात्रव्यापित्वस्वभावं चाप्नोति। तेन च कफस्थानानां चतुर्णां तेषां मध्ये द्वयोरामाशय-हृदययोस्तिष्ठन् दोषः एकस्मिन्नेव दिने पूर्वं यो दोषभागः स ज्वरयितुं स्वबलानुत्कर्षादशक्तः कमपि कालमेकं ज्वरयन् निवृत्तवेगो वर्तते, ततश्च यदा हृदयस्थो दोषभाग आमाशयमागच्छति तदा लब्धबलो ज्वरयति स्वबलानुरूपं दीर्घं कालं व्याप्येति द्विकालं दैर्घ्येण व्यापीत्यल्पकालत्यागी ज्वरः स्यात्। अन्येद्युष्कस्तु अहोरात्रमेकवारं कालमल्पं व्याप्य ज्वरयति सर्वाहोरात्रपरित्यागीति विपर्ययः परस्परमनयोः। अल्पकालं ज्वरयन् दीर्घकालमेकवारं परित्यागीत्यन्येद्युष्कविपर्ययाद्भिन्न एव। एवं यश्च तृतीयकविपर्ययज्वरं करोति सोऽपि दोषो निदानविशेषप्रभावात् त्रिधाभूतत्वकफत्रिस्थानस्थायित्वैकदिनोत्तरैकदिनदीर्घकालव्यापिदीर्घकालज्वरकरत्वादिस्वभावानाप्नोति। तेन ह्येकं दिनं विहाय-

कायचिकित्सकोंके मतसे विषम ज्वरकी सम्प्राप्ति—

जो मनुष्य तुरन्त ज्वरसे मुक्त हुआ है परन्तु उसके शरीरमे अल्प दोष शेष रह गया है अथवा जिसको ज्वर उत्पन्न ही नहीं हुआ है ऐसा कृश और दुर्बल मनुष्य जब अहित आहार-विहारोंका सेवन करता है तब उनसे प्रकुपित दोष रस-रक्त आदि अन्यतम (किसी एक) धातुमें प्राप्त होकर विषम ज्वर उत्पन्न करता है। रस और रक्तमें (सु.; चरकके मतसे रक्त और मांसमें) रहा हुआ सप्रत्यनीक (काल-दूष्य और प्रकृतिमेंसे अन्यतम-कोई भी एक या दो जिसका प्रतिकूल है ऐसा) दोष अपने प्रकोपकालमें बढ़नेवाला और प्रत्यनीकके प्रकोपकालमें घटने-उतरनेवाला **संततक** ज्वर उत्पन्न करता है। सततक ज्वर दिन-रातमें दो बार आता और उतरता है। मांसमें (सु.; चरकके मतसे मेदमें) रहा हुआ सप्रत्यनीक दोष काल-दूष्य और प्रकृतिमेंसे किसी एकसे बल प्राप्त करके अपने प्रकोपकालमे दिन-रातमें एक बार **अन्येद्युष्क** ज्वर उत्पन्न करता है। मेदमे (सु.; चरकके मतसे अस्थिमे) रहा हुआ सप्रत्यनीक दोष काल-दूष्य और प्रकृतिमेंसे किसी एकसे बल प्राप्त करके अपने प्रकोपकालमें एक दिन

कस्मिन् परदिने दीर्घकालं व्याप्य ज्वरयति। आमाशय-हृदय-कण्ठेषु त्रिषु स्थानेषु त्रिधाभूय तिष्ठस्तृतीयकविपर्ययकरो दोषस्तृतीयकविपर्ययं करोति। आमाशयस्थदोषभागः स्वबलानुत्कर्षाज्ज्वरयितुमशक्तो वर्तते, यदा हृदयस्थदोषभागो हृदयादामाशयमेति तद्दिने किञ्चिद्बलमादत्ते न च ज्वरयितुं प्रभवति, तद्दिने तृतीयो हि कण्ठस्थदोषभागः कण्ठादागत्य हृदये तिष्ठति। ततः परदिने तु तृतीयदोषभागो हृदयादामाशयमेत्यापरभागद्वयेन मिश्रीभूय पूर्णबलो ज्वरयत्येव सर्वमहोरात्रं दीर्घकालं व्याप्य वर्तते, तृतीयकस्त्वल्पकालं व्याप्येति परस्परं भेदस्तृतीयक-तद्विपर्ययोः। तद्दिन एव कृतवेगत्वात् स्वस्थानं गत्वा निवृत्तवेगो वर्तते, वर्तते चामाशयस्थो दोषभागोऽपि निवृत्तवेग एव। परदिने तु तथैव हृदयस्थदोषभागो हृदयादामाशयमेति, कण्ठस्थश्च कण्ठाद्धृदयमेति, न च तद्दिने ज्वरयितुं प्रभवतीति। पुनः परदिने तृतीयभाग आमाशयमेत्य भागद्वयेन मिश्रीभूय पूर्णबलो ज्वरयतीत्येकदिनं न भूत्वा परदिने दीर्घकालव्यापी ज्वरो भवतीति भावः। एवं यश्च दोषश्चातुर्थकं कुरुते सोऽपि निदानविशेषप्रभावात् कुपितश्चतुर्धा भूत्वाऽऽमाशय-हृदय-कण्ठ-शिरःसु चतुर्षु कफस्थानेषु तिष्ठन् आमाशयस्थदोषभागोऽनत्युत्कर्षात् स्वबलस्य ज्वरयितुमशक्तो वर्तते, हृदयस्थो दोषभागस्त्वपरदिने हृदयादामाशयमेति, तद्दिने किञ्चिद्बलमादत्ते न च ज्वरयितुं प्रभवति। तद्दिने च कण्ठस्थो दोषभागः कण्ठाद्धृदयमेति, शिरःस्थश्च कण्ठमेति, ततः परदिने कण्ठस्थो हृदयं हृदयस्थश्च दोषभाग आमाशयं गत्वा त्रिपादबलमाददानो न ज्वरयति। ततः परदिने तच्चतुर्थदोषभागो हृदयादामाशयमेत्य पूर्णबलः सन् ज्वरयति। तद्दिन एव कृतवेगत्वात् स्वस्थानं गत्वा निवृत्तवेगो वर्तते, वर्तते चामाशयस्थोऽपि निवृत्तवेग एव, इति दिनद्वयं भूत्वा परदिनं न भवतीति चतुर्थक-तद्विपर्ययोरस्ति भेद इति व्याचक्ष्महे। × ×। स्वल्प-दीर्घकालव्यापकत्वं तु निदानविशेषेण बलस्य न्यूनाधिक्यविशेषाद्भवतीति भावः।" (ग.)। "सततस्य तु विपर्ययो न भवति, एकस्मिन्नेव कफस्थाने स्थितेन दोषेण तत्करणात्।" (ड.)।

बीचमें छोड़ कर तीसरे दिन आनेवाला **तृतीयक** ज्वर उत्पन्न करता है। तृतीयक ज्वर यदि कफ और पित्तसे उत्पन्न हुआ हो तो त्रिक (कमर) मे, वात और कफसे उत्पन्न हुआ हो तो पृष्ठमे तथा वात और पित्तसे उत्पन्न हुआ हो तो सिरमे विशेष वेदना–पीडा करता है। मज्जागत सप्रत्यनीक दोष काल–दूष्य और प्रकृतिमेंसे किसी एकसे वल प्राप्त करके अपने प्रकोपकालमे दो दिन बीचमे छोडकर चौथे दिन **चतुर्थक** ज्वर उत्पन्न करता है। चतुर्थक ज्वर यदि कफसे उत्पन्न हुआ हो तो प्रथम जङ्घा (पिण्डलियों) मे और वातसे उत्पन्न हुआ हो तो प्रथम सिरमें और पीछे समग्र शरीरमे पीडा करता है। अस्थि और मज्जामें रहा हुआ दोष **चतुर्थकविपर्यय** ज्वर उत्पन्न करता है। इस ज्वरमे पहले और चौथे दिन ज्वर नही रहता है, परन्तु बीचके दो दिन (दूसरे और तीसरे दिन) ज्वर होता है।[1]

---

१ "दोषोऽल्पोऽहितसभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुन । धातुमन्यतम प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥ सतत रस-रक्तस्थ, सोऽन्येद्यु पिशिताश्रित । मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगत पुन ॥ कुर्याच्चतुर्थक घोरमन्तक रोगसकरम् ॥" (सु उ. अ ३९)। "इदानीं भोज-भालुकि-पुष्कलावतप्रभृतीना शल्यतन्त्रविदा मतेन विषमज्वरोत्पत्तिमभिधाय कायचिकित्साविदामग्निवेशादीना मतेन धातुस्थानैर्दोषैर्विषमज्वराणामुत्पत्तिं दर्शयति–दोष इत्यादि। अपथ्यसभूत अपथ्याद्वृद्धिं गत । ज्वरोत्सृष्टस्य ज्वरमुक्तस्य, 'वा' शब्देन 'कृशस्य' इति समुच्चीयते । कृशानामित्यादिना कफस्थानविभागेन प्राक् सततादयो दर्शिता, अत्र तु धात्वन्तरगतभेदेनेति न पुनरुक्तता।" (ड.)। "'वा'शब्दश्च ज्वरेणैकान्ततोऽसंस्पृष्टान् समुच्चिनोतीत्यवश्य वक्तव्यम्, "आरम्भाद्विषमो यस्तु" इति तन्त्रान्तरीयस्मरणात्।" (हा.)। "रक्तधात्वाश्रय प्रायो दोष सततक ज्वरम्। सप्रत्यनीक कुरुते कालवृद्धि-क्षयात्मकम् ॥ अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते। काल-प्रकृति-दूष्याणा प्राप्यैवान्यतमाद्बलम् ॥ अन्येद्युष्क ज्वर दोषो रुद्ध्वा मेदोवहा सिरा । सप्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि ॥ दोषोऽस्थि-मज्जग कुर्यात्तृतीयक-चतुर्थकौ । ××। अन्येद्युष्क प्रतिदिन, दिन हित्वा तृतीयक । दिनद्वय यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थक ॥ कफ-पित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वात-कफात्मक । वात-पित्ताच्छिरोग्राही त्रिविध स्यात्तृतीयक ॥ चतुर्थको दर्शयति प्रभाव द्विविध ज्वर । जङ्घाभ्या श्लैष्मिक पूर्वं, शिरस्तोऽनिलसभव ॥ विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्यय । त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थ करोति यम् ॥" (च चि अ ३)। "प्रायोग्रहणात् कदाचिद्रक्तव्यतिरिक्त मासधातुमप्याश्रयतीति दर्शयति। सप्रत्यनीक सह प्रत्यनीकेन कालादीनामन्यतमेन अतुल्यत्वाद्दोषप्रतिपक्षभूतेन वर्तमान सप्रत्यनीक सप्रतिद्वन्द्व । अत काले वृद्धि-क्षयात्मक वृद्धि-क्षयभाक्। प्रत्यनीकस्य वलकाले क्षीयते, तस्य दुर्वलत्वे च वर्धते, इतरयोस्तुल्यत्वात्। सततादिषु चतुर्षु दोषस्य सप्रत्यनीकतया ज्वरस्य विरतिर्भवति, सन्तते तु कालादीना सर्वेषा तुल्यतया दोषस्य निष्प्रत्यनीकत्वात् सप्ताहादिष्वविच्छेद । सततको ज्वर अहोरात्रे द्वौ कालौ अहन्येकवार, रात्रावेकवारमिति द्वौ कालौ, अहन्येव द्वौ कालौ, रात्रावेव द्वौ कालाविति वा, नियमस्यानभिधानात्। ×××। सततक अहोरात्रे द्वौ कालौ, अन्येद्युष्कस्तु सकृत्। अद्य विरतस्य पुनरन्येद्यु. अन्यस्मिन् दिने

वक्तव्य—ज्वरकी सामान्य सप्राप्तिमें कहा गया है कि-वातादि दोप आमाशयमें आ, रस धातुमें मिल तथा समग्र शरीरमें व्याप्त होकर ज्वर (सताप) उत्पन्न करते हैं । अर्थात् दोपोंका आमाशयमें आना, रस धातुमें मिलना तथा समग्र शरीरमें व्याप्त होना यह ज्वरोत्पत्तिके लिये आवश्यक माना गया है । सामान्य वातादि ज्वर कालके अनियमसे २-३ आदि दिन रह कर उतर जाते हैं; और सतत ज्वर सप्ताह आदि नियत समय रह कर उतर जाता है, जो विना अपथ्य सेवनके फिर नहीं आता । परन्तु विपम ज्वर आता है, उतर जाता है और विना अपथ्य सेवन किये फिर आता है । जवतक उसकी सम्यक् चिकित्सा न की जाय तवतक यह क्रम चलता रहता है । यह क्यों होता है? इस विषयमें शल्यतन्त्रवेत्ताओंने और कायचिकित्सकोंने अपनी-अपनी भिन्न भिन्न उपपत्तियाँ वताई हैं । शल्यतन्त्रवालोंकी उपपत्ति पहले लिखी है (देखें इसी ग्रन्थमें पृ १६ पर) । कायचिकित्सकोंका कहना है कि दोष रस धातुमे मिले विना ज्वर उत्पन्न नहीं कर सकता । रक्तादि उत्तरोत्तर धातुओंके स्रोत सूक्ष्म-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम मुखवाले तथा दूर, दूरतर और दूरतम होते हैं, अत रक्तसे मास, माससे मेद, मेदसे अस्थि तथा अस्थिसे मज्जामें रहे हुए दोपको रस धातुमे पहुँचनेमें अधिकाधिक विलंव होता है, इस लिये विपम ज्वरके **सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक** और **चतुर्थक** ये भेद होते हैं[1] । कई आचार्य विपमज्वर भूताभिषङ्ग (भूतों-रोगोत्पादक कीटाणुओं) से उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं, क्यों कि विपमज्वरमें प्राय आगन्तु (बाह्य) कारणोंका संवन्ध भी पाया जाता है[2] ।

आगमनादन्येद्युष्कसञ्ज्ञा । अस्थि-मज्जगो दोप सप्रत्यनीक काले वृद्धिक्षयभाक्, क्रमादस्थिग तृतीयक, मज्जगश्च चतुर्थक कुर्यात् । तृतीयक-चतुर्थकाविति तृतीय-चतुर्थदिनभावित्वात् ।" **(यो.)** । "सप्रति मध्ये अहनी ज्वरयत्यादावन्ते च यो मुञ्चति स चतुर्थकविपर्ययत्वेन चतुर्थकग्रहणगृहीत एवेति दर्शयन्नाह-विपमेत्यादि । त्रिविधो धातुरिति वातादि । द्विधातुस्थ इति अस्थि-मज्जगत । अय विपमज्वर इति सामान्येनोक्त, तथाऽपि चतुर्थकस्य प्रकाररूप एवेति मन्तव्यम्, अत्र तन्त्रान्तरम्-"अस्थि-मज्जोभयगते चतुर्थकविपर्यय. । त्र्यहाद् द्व्यह ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति ॥" इति" । **(च. द.)** । x x ।

१ "अन्ये तु तृतीयक-चतुर्थकावेव विपमो, विपमाणां चिरेणोत्पादात्, यदाह **दारुवाहः**— "सूक्ष्म-सूक्ष्मतरास्येषु दूर-दूरतरेषु च । दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्प चिरेण यत् ॥ याति देह न वा (चा) शेप (?) भूयिष्ठ दोपजेऽपि च । क्रमोऽय, तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वर ॥" **(च द.)** । २ "परो हेतु. स्वभावो वा विपमे कैश्चिदीरित. । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विपमज्वरे ॥ केचिद्भूताभिषङ्गोत्थ ब्रुवते विपमज्वरम् ।" (सु उ. अ ३९) । "परो भूतादिः, हेतु. कारण, स्वभावो वेति विपमज्वरे हेतुरित्यर्थ । x x । विपमज्वरे भूतादिर्हेतुरुक्तस्तस्य समर्थनमाह-आगन्तुरित्यादि । प्रायशो वाहुल्येन, आगन्तु भूतादि, अनुवन्ध कारण, हि यस्मादर्थे ।" **(ड.)** ।

आधुनिक मतसे विषमज्वरके प्रकार—

"जब अशुकेत (परिपक्व कीटाणु) लाल कणोंको विदीर्ण करके बाहर आते हैं तब शीतादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । इनके परिपक्व होकर (लाल) कणोंके बाहर आनेका काल प्रत्येक जातिके कीटाणुओंमें भिन्न-भिन्न होनेके कारण ज्वरावेग भिन्न-भिन्न समय पर आया करता है और इसी ज्वरकालके अनुसार विषमज्वरके तृतीयकादि भेद किये गये हैं ।

तृतीयक—इसके कीटाणुओंका अमैथुनी चक्रका काल ठीक ४८ घण्टेका होनेसे लाल कणोंके भीतर प्रविष्ट हुए इसके सपूर्ण अशुकेत ठीक ४८ घण्टेके बाद उनको विदीर्ण करके रक्तरसमें आते हैं । इसलिये तृतीयकके कीटाणु प्रति तीसरे दिन ज्वर उत्पन्न करते हैं । इस कारणसे इस ज्वरको **तृतीयक, तैया,** या अन्तरा (एकान्तरा) (Tertian) कहते हैं ।

चतुर्थक—इसके कीटाणुओंका अमैथुनी चक्रका काल ठीक ७२ घण्टेका होनेसे लाल कणोंके भीतर प्रविष्ट हुए सब कीटाणु ठीक ७२ घण्टेके पश्चात् उनको विदीर्ण करके रक्तरसमें आते हैं, इसलिये चतुर्थकके अशुकेत प्रति चौथे दिन ज्वर उत्पन्न करते हैं । इस कारणसे इस ज्वरको **चतुर्थक या चौथिया** (Quartan) कहते हैं ।

मारात्मक-इसके कीटाणुओंके अमैथुनी चक्रका काल ३६ से ४८ घण्टेका कुछ अनिश्चितसा होता है । इसका अर्थ यह है कि तृतीयक और चतुर्थकके अशुकेतोंके समान लाल कणोंके भीतर प्रविष्ट हुए इसके सब अशुकेत एक समय पर उनको विदीर्ण करके बाहर नहीं आते, परन्तु ३६-४८ घण्टेके बीचमें समय-समय पर उनके झुंड निकलते रहते हैं । परिणाम यह होता है कि ज्वरावेग तृतीयक या चतुर्थकके समान एक समयमें नहीं आता । ज्वर प्राय अर्धविसर्गी स्वरूपका बना रहता है और कभी-कभी एक ज्वरावेग समाप्त होनेके पहिले-एक ही दिनमें दूसरा ज्वरावेग आ जाता है । इसलिये मारक विषम ज्वर प्रतिदिन आनेवाला अर्धविसर्गी और कई बार दिनमें दो बार चढने वाला (सततक) होता है ।

इनके अतिरिक्त **अन्येद्युष्क** और **चतुर्थक विपर्यय** करके और दो प्रकारके ज्वर होते हैं, परन्तु उनके स्वतन्त्र कीटाणु नही होते । अन्येद्युष्क ज्वर प्रतिदिन आता है, और पूर्णविसर्गी स्वरूपका होता है । तृतीयक कीटाणुके दो स्वतन्त्र वशविस्तार दो लगातार दिन होनेसे (Double Tertian) प्रतिदिन आनेवाला ज्वर होता है । मान लीजिए कि किसी मनुष्यके लाल कणोंमें १३ तारीखको अपना जीवनचक्र जारी करनेवाला एक कीटाणुदल रहा, और १४ तारीखको जीवनचक्र जारी करनेवाला दूसरा कीटाणु-दल रहा । पहिला दल १५, १७, १९, २१ इत्यादि दिनोंपर ज्वर करेगा और दूसरा दल १६, १८, २०, २२ इत्यादि दिनो पर ज्वर करेगा । इसलिये ज्वर प्रतिदिन आने पर भी कारणभूत कीटाणु तृतीयक ही रहेंगे । वैसे ही चातुर्थकके तीन दलोंसे अन्येद्युष्क ज्वर आ सकता है ।

चातुर्थकविपर्यय—(Double Quarten) यह और एक प्रकारका ज्वर होता है। जिसमें दो दिन लगातार ज्वर आता है, और एक दिन निर्ज्वर रहता है। यह प्रकार चतुर्थक कीटाणुके दो वंशविस्तार दो लगातार दिन होनेसे उत्पन्न होता है। मान लीजिए कि किसी व्यक्तिको चतुर्थक कीटाणुका एक दल १७ तारीखको ज्वर उत्पन्न करता है और दूसरा दल १८ तारीखको ज्वर उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्थामे जब दोनों दल काम करेंगे तब पहले दलसे २०, २३, २६, २९ इत्यादि दिनो पर ज्वर आयगा और दूसरे दलसे २१, २४, २७, ३० इत्यादि दिनो पर ज्वर आयगा। इस प्रकार दो दिन सज्वर और एक निर्ज्वर दिन होने पर भी कारणभूत कीटाणु चतुर्थक ही होंगे। सक्षेपमे चातुर्थकविपर्यय चातुर्थक कीटाणुसे ही होता है और अन्येद्युष्क तृतीयक और चातुर्थक दोनोंसे भी हो सकता है (डॉ श्री **भा. गो. घाणेकरजी** विरचित **औपसर्गिकरोग** तृतीयसस्करण पृ ६०१-६०३)।

विषम ज्वरकी अवस्थाएं—

इसकी ६-१० घटेकी निम्न तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) **शीतकी-अवस्था**-इसकी अवधि १-२ घण्टेकी होती है। जाड़ा या झुर-झुरी इसका प्रधान लक्षण है। यह शीत स्वप्रत्यक्ष (Subjective) है, परप्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि शरीर पर हाथ रखनेसे वह ठण्डा न होकर गरम मालूम होता है और धीरे-धीरे अधिकाधिक गरम होता जाता है। इस अवस्थामे शीतके मारे दॉत कटकटाने लगते हैं, सिरसे पैर तक सपूर्ण शरीर भूतसचारके समान जोरसे कॉपता है। जो भी और जितना भी कपड़ा मिलता है उसको रोगी ओढ़ लेता है। चेहरेका रग फीका हो जाता है, गाल पिचक जाते हैं, अगुलियॉ सिकुड़ जाती हैं, त्वचाका रग कुछ नीलासा होता है और पैरकी पिण्डलियोंमे ऐंठन होतीं हैं। बच्चोंमे इस अवस्थामें आक्षेप (Convulsion's) आते हैं। इसमें वमन भी होता है।

(२) तापकी अवस्था (Hot Stage) इसकी अवधि तीन-चार घण्टेकी होती है। इसमें शीत जाता रहता है, शरीर गरम होता है, पहलेके ओढ़े हुए कपड़ोंको रोगी फेंकने लगता है, चेहरा लाल होता है, नाड़ी पूर्ण और द्विस्पन्दी (Dicrotic) होती है, त्वचा गरम और जलती हुई मालूम होती है, वमन प्राय जारी रहता है, तीव्र शिर शूल होता है और ज्वरमापक (Thermometer) से देखा जाय तो ताप १०४° से १०६° तक रहता है।

(३) स्वेदकी अवस्था (Sweating Stage)-इसकी अवधि २-४ घण्टेकी होती है। इसमें बड़े जोरके साथ पसीना शरीरसे छुटने लगता है, जिससे सपूर्ण शरीर, वस्त्र और बिस्तरा तथा अन्य कपड़े भीग जाते हैं। पसीना आनेसे ज्वर कम होने लगता है, शिर शूल दूर होता है और बेचैनी कम होकर रोगीकी तबियत हलकी हो जाती है। पसीना आना बंद होने पर यद्यपि थकान मालूम होती है तथापि रोगी घूम-फिर

सकता है । उसके पश्चात् रोगके प्रकारके अनुसार दूसरा ज्वरावेग आने तक १-२ दिन रोगी निर्ज्वर रहता है और इस अवधिमें शरीरका ताप प्रकृतसे भी कुछ कम रहता है । यद्यपि विषमज्वरमें ज्वरमोक्ष दारुणपद्धति (Crisis) से होता है तथापि ज्वर-मोक्षके समय रोगीको किसी प्रकारका डर नहीं रहता (डॉ श्री **भा. गो. घाणेकरजी** विरचित **औपसर्गिकरोग** तृतीय संस्करण पृ ६१९-६२०) ।

दोषोंके प्रकोपकालमें विषम ज्वरका वेग होता है—

दिन-रातमें दोषोंके प्रकोपके जो छ काल **व्रणप्रश्नाध्याय** (सु सू अ. २१) में कहे गये हैं (यथा-पूर्वाह्णमें कफका, मध्याह्नमें पित्तका, अपराह्णमें वातका, पूर्व रात्रिमें कफका, मध्य रात्रिमें पित्तका तथा अपर रात्रिमें वातका प्रकोप होता है)-उन कालोंमें तत्-तत् दोषकी अधिकतावाला विषम ज्वर दिनरातमें दो वार, दिनरातमें एक वार, एक दिन छोड कर अथवा दो दिन छोड कर सहसा (एकाएक-हठात्) आता (वेग करता) है । अर्थात् विषम ज्वर अपने प्रकोपकालमें अचानक आता है, इसमें प्राय पूर्वरूप नही होते-दीखते नहीं[1] ।

विषम ज्वरमें वेग शान्त होने पर दोष अपने स्थानमें आ जाते है—

विषम ज्वरमें दोष अपना वेग करके जब क्षीणबल (गतबल) होते हैं तब उसी दिन अपने-अपने स्थानों (शल्यतन्त्र वालोंके मतमें पहले लिखे हुए कफस्थानोंमें तथा कायचिकित्सकोंके मतमें रक्तादि धातुओं) में आ कर ठहर जाते हैं और जब फिर बढ़ते हैं तब अपने-अपने समयमें ज्वर उत्पन्न करते हैं[2] ।

वेगकी निवृत्तिके समयमें भी विषम ज्वर शरीरमें बना रहता है—

विषमज्वरमें दोष जब अपना वेग करके शान्त होते हैं तब ज्वर चला गया-उतर गया ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु वह सर्वथा निकला हुआ नहीं होता है (किन्तु ऊपर लिखे हुए किसी कफस्थानमें या धातुमें लीन होकर छिपा हुआ पडा रहता है) और जब वह कालादिसे बल प्राप्त करके बढ़ता है तब ज्वर उत्पन्न करता है । वेगकी शांतिके समयमें भी विषमज्वर देहको सर्वथा कदापि छोडता नहीं है, क्योंकि उस समयमें भी

---

१. "रात्र्यह्नो षट्सु कालेषु कीर्तितेषु यथा पुरा । प्रसह्य विषमोऽभ्येति मानव बहुधा ज्वर ॥" (सु उ अ ३९)। "षट्सु कालेषु पूर्वाह्ण-मध्याह्नापराह्ण प्रदोषार्धरात्र-प्रत्यूषेषु, यथा पुरा येन प्रकारेण पूर्व व्रणप्रश्नाध्याये । तत्र पूर्वाह्ण-प्रदोषयोः कफस्य, मध्याह्नार्धरात्रयो पित्तस्य, अपराह्ण-प्रत्यूषयोर्वातस्य प्रकोप इति । एव पूर्वकथितेषु स्व-स्वदोषप्रकोपकालेषु, प्रसह्य हठाद्विषमो ज्वरोऽभ्येति । × × । बहुधेति अहोरात्रे कालद्वयम्, एककालम्, एकदिनान्तरम्, द्विदिनान्तर च ।" **(ड.)** । "अत्र विषम प्रति प्रसह्येति विशेषणं प्रायेणास्यापूर्वरूपकत्वमाख्यातुम् ॥" **(हा)** । २ "कृत्वा वेग गतबला. स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिता. । पुनर्विवृद्धा. स्वे काले ज्वरयन्ति नर मला ॥" (च. चि. अ. ३) ।

ग्लानि, शरीर और सिरका भारीपन, कृशता, अरुचि तथा मुँहका मीठापन-वैरस्य या कड़ुवापन-ये लक्षण बने रहते हैं। सम्यक् चिकित्सा द्वारा ज्वरकी सर्वथा निवृत्ति न हो तब तक यह अवस्था चलती रहती है[1]।

वेगकी निवृत्तिके कालमें धातुओंमें लीन दोष अनुकूल स्थिति प्राप्त होने पर फिर वेग करते है—

जैसा भूमिमें बोया हुआ बीज जमीनमें पड़ा रहता है और जलका सिंचन होने पर योग्य कालमें अङ्कुर उत्पन्न करता है, इसी प्रकार रोगके बीजरूप दोष धातुओंमें लीन होकर पड़े रहते हैं और कालादिसे जब उनको बल प्राप्त होता है तब बढ़ कर अनुकूल स्थिति प्राप्त होने पर वेग उत्पन्न करते हैं[2]।

शीतपूर्व और दाहपूर्व ज्वरके लक्षण—

विषम ज्वरमें जब प्रकुपित कफ और वायु त्वचामें रहते हैं तब पहले शीत-ठण्ड लग कर ज्वर आता है और उनके शान्त होनेपर अन्तमें-पीछे दाह होता है, इसको **शीतपूर्व** ज्वर कहते हे; तथा त्वचामें रहा हुआ पित्त आरम्भमें दाह करता है और उसका वेग शात होने पर पीछे कफ तथा वायु शीत उत्पन्न करते हैं, इसको **दाहपूर्व** ज्वर कहते हैं। इन दोनो प्रकारके ज्वरोंमें दाहपूर्व ज्वर अधिक कष्ट देने वाला और कृच्छ्रसाध्य होता है (विषम ज्वर प्राय शीतपूर्वक ही देखा जाता है, दाहपूर्वक ज्वर क्वचित् ही देखनेमें आता है[3])।

रसादि धातुगत ज्वरोंके लक्षण—

शरीरका भारीपन, मनकी ग्लानि (दैन्य), मनका उद्वेग, सुस्ती (अवसाद), वमन, अरुचि, बाहरसे अधिक संताप, अंगोंकी पीड़ा, जंभाई आना और जी मिचलाना-ये

---

१ "स चापि विषमो देह न कदाचिद्विमुञ्चति। ग्लानि-गौरव-कार्श्येभ्य. स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते।" (सु. उ अ. ३९)। "समाहारत्वेन कार्श्यादिति सिद्धे यत् 'कार्श्येभ्य' इति बहुवचन, तेन लक्षणान्तरमपि गृह्यते। तथा च तन्त्रान्तर—"शिरसो गौरव ग्लानिर्नाति श्रद्धा च भोजने। माधुर्यमथ वैरस्य तिक्तत्वमथ वा पुन ॥ वक्त्रस्य जायते यस्मात् प्रवेगेऽपि गते सति। तस्मात्तु नियतो लीन शरीरे विषम-ज्वर. ॥" (ड.)। २ "अधिशेते यथा भूमिं बीज काले च रोहति। अधिशेते तथा धातून् दोष. काले च कुप्यति ॥" (च चि. अ ३)। "भूमौ स्थित जलै सिक्त कालमेव प्रतीक्षते ॥ अङ्कुराय यथा बीज दोषबीजं रुजे तथा ॥" (अ. स नि अ २)। ३ "त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे। तयो प्रशान्तयो पित्तमन्ते दाह करोति च ॥ करोत्यादौ तथा पित्त त्वक्स्थ दाहमतीव च। प्रशान्ते कुरुतस्तस्मिञ्छीतमन्ते च तावपि ॥ द्वावेतौ दाह-शीतादी ज्वरौ ससर्गजौ स्मृतौ। दाहपूर्वस्तयो. कष्ट कृच्छ्रसाध्यश्च स स्मृतः ॥" (सु उ अ ३९)।

लक्षण **रसधातुगत** ज्वरमे होते हैं[१]। शरीर पर रक्तवर्ण और उष्णस्पर्शवाली पिटकाएँ निकलना, तृषा, वारवार रक्तमिश्रित थूक आना, दाह, शरीर रक्तवर्ण होना, चक्कर आना, प्रलाप और मद–ये लक्षण **रक्तधातुगत** ज्वरमें होते हैं[२]। ज्वरका सन्ताप अधिक रहना, भीतरसे दाह, तृषा, इन्द्रियोंका मोह, ग्लानि, मल-मूत्र साफ आना, शरीरमें दुर्गन्ध, हाथ-पाँव वार-वार हिलाना तथा पिण्डियोंका टूटना–ये लक्षण **मांसगत** ज्वरमे होते हैं[३]। पसीना अधिक आना, अधिक प्यास लगना, प्रलाप, वार-वार वमन होना, अपने शरीरका गन्ध सहन न होना–बुरा लगना, ग्लानि, अरुचि तथा मूर्च्छा–ये लक्षण **मेदोगत** ज्वरमे होते हैं[४]। वमन और विरेचन दोनों होना, हड्डियोंमें टूटनेकी सी पीडा, हाथ-पॉव वार-वार पछाड़ना और श्वास–ये लक्षण **अस्थिगत** ज्वरमें होते हैं[५]। हिचकी, श्वास, खासी, ऑखोंके सामने अँधेरा दीखना, मर्मस्थानोंमें कटनेकी सी पीडा तथा शरीर बाहरसे ठण्डा और भीतरसे जलन मालूम होना–ये लक्षण **मज्जगत** ज्वरमे होते हैं[६]। **शुक्रगत** ज्वरमें लिङ्गकी स्तब्धता, शुक्रका स्राव तथा मरण ये लक्षण होते हैं[७]। रसगत, रक्तगत, मासगत और मेदोगत ज्वर साध्य, अस्थि

---

१ "गुरुत्व दैन्यमुद्वेगः सदन छर्द्यरोचकौ। **रसस्थिते** बहिस्ताप साङ्गमर्दौ विजृम्भणम् ॥" (च चि अ ३)। "गुरुता हृदयोत्क्लेश सदन छर्द्यरोचकौ। **रसस्थे** तु ज्वरे लिङ्ग दैन्यं चास्योपजायते ॥" (सु उ अ ३९)। २ "रक्तोष्णा पिटकास्तृष्णा सरक्त ष्ठीवन मुहु.। दाह-राग-भ्रम-मदा. प्रलापो **रक्तसंस्थिते** ॥" (च चि अ. ३)। "रक्तनिष्ठीवन दाह. स्वेदश्छर्दन-विभ्रमौ ॥ प्रलाप पिटिकास्तृष्णा **रक्तप्राप्ते** ज्वरे नृणाम् ॥" (सु उ. अ ३९)। ३ "अन्तर्दाह सतृण्मोह सग्लानि. सृष्टविट्कता। दौर्गन्ध्य गात्रविक्षेपो ज्वरे **मांसस्थिते** भवेत् ॥" (च चि अ ३)। "पिण्डिकोद्वेष्टन तृष्णा सृष्टमूत्र-पुरीषता। ऊष्माऽन्तर्दाह-विक्षेपौ ग्लानि **स्यान्मांसगे** ज्वरे ॥" (सु उ अ ३९)। ४ "स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्यभीक्ष्णश। स्वगन्धस्यासहत्व च **मेद.स्थे** ग्लान्यरोचकौ ॥" (च चि. अ. ३)। "भृश स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च। दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥" (सु उ. अ ३९)। ५ "विरेक-वमने चोभे सास्थिभेद प्रकूजनम्। विक्षेपण च गात्राणा श्वासश्चा**स्थिगते** ज्वरे ॥" (च चि अ ३)। "मेदोऽस्थ्नां कूजन श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च। विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥" (सु. उ अ. ३९)। ६ "हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्। मर्मच्छेदो वहि शैत्य दाहोऽन्तश्चैव **मज्जगे** ॥" (च चि अ ३)। "अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥" (सु उ अ ३९)। ७ "**शुक्रस्थानगत** शुक्रमोक्ष कृत्वा विनाश्य च। प्राण वाय्वग्नि-सोमैश्च सार्ध गच्छत्यसौ विभु ॥" (च. चि. अ. ३)। "मरण प्राप्नुयात्तत्र **शुक्रस्थानगते** ज्वरे। शेफसः स्तब्धता मोक्ष. शुक्रस्य तु विशेषत. ॥" (सु उ अ. ३)।

तथा मज्जगत ज्वर कृच्छ्रसाध्य और शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है[1]। वातज्वर, पित्तज्वर, कफज्वर, वातपित्तज्वर, वातश्लेष्मज्वर, पित्तश्लेष्मज्वर तथा सन्निपात (त्रिदोषज) ज्वरके जो लक्षण पहले कहे गये हैं रसादिधातुगत तत्तत् दोषज ज्वरोंके भी वही लक्षण जानने चाहिए[2]।

आगन्तु ज्वरके भेद—

अभिघातज, अभिषङ्गज, अभिचारज तथा **अभिशापज**—इन भेदोंसे **आगन्तु ज्वर** चार प्रकारका होता है (अर्थात् आगन्तु ज्वरके ये चार वर्ग होते हैं[3])।

अभिघातज ज्वरके लक्षण—

नाना प्रकारके शस्त्र (हथियार), लोष्ट (मिट्टीका ढेला-पत्थर), चाबुक, काष्ठ, मुट्ठी, हाथ-पॉवका तल, दॉत-नख तथा इस प्रकारके अन्य मारनेके साधनोंसे शरीर पर चोट-मार लगनेसे (या क्षत-छेद आदिसे) एवं दाह (अग्नि-बिजली आदिसे जलने और धूमोपघात-धुँआ लगनेसे) तथा श्रमसे जो ज्वर आता है उसको **अभिघातजज्वर** कहते हैं। अभिघातज ज्वरमे वायु प्राय रक्तको ('प्राय' शब्दसे मास आदिको भी) दूषित करके पीडा, शोथ और वैवर्ण्य (त्वचाका वर्ण बदलना–विशेषत रक्त या श्याव वर्ण होना), क्षत-छेदादि जन्य ज्वरमे तथा श्रमज ज्वरमे शरीरकी पीडा-इन लक्षणोंके साथ ज्वर उत्पन्न करता है (च.)। श्रम, धातुओंका क्षय और अभिघातसे वायु प्रकुपित होकर तथा रसवह स्रोतों द्वारा समग्र शरीरमें व्याप्त होकर ज्वर उत्पन्न करता है (सु.)। अभिघातज ज्वरमें प्रथम पीडा होती है और पीछे वातादि दोषोंका अनुबन्ध-प्रकोप होकर ज्वर-सन्ताप होता है। अभिघातज ज्वरमें भी वातज आदि ज्वरोंके जो लक्षण कहे गए हैं उन लक्षणोंसे दोषप्रकोपका निर्णय करना चाहिए[4]। अति धुआँ लगनेसे श्वास, छींक आना, पेटका अफारा, खॉसी, ऑखोंकी जलन और ललाई, धूमयुक्त नि श्वास आना, धुएँके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारके गन्धका ज्ञान न होना, न सुनना, प्यास अधिक लगना, दाह, अवसाद और मूर्च्छा—इन लक्षणोंके साथ

---

१ "रस-रक्तगत साध्यो मास-मेदोगतश्च य.। अस्थि-मज्जगत कृच्छ्र शुक्रस्थो नैव सिध्यति॥" (च चि. अ. ३)। २ "वात-पित्त कफोत्थाना ज्वराणा लक्षण यथा। तथा तेषा भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्॥ समस्तै सन्निपातेन धातुस्थमपि निर्दिशेत्। द्वन्द्वज द्वन्द्वजैश्चैव लिङ्गैश्चापि वदेत् कृतम्॥" (सु उ. अ ३९) ३ "आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विध.। अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापज॥" (च चि अ ३)। ४ "शस्त्र-लोष्ट-कशा-काष्ठ-मुष्टयरत्नि-तल-द्विजै। तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वर स्यादभिघातज॥ तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्त प्रदूषयन्। सव्यथा-शोथ-वैवर्ण्य करोति सरुज ज्वरम्॥" (च. चि. अ. ३)। "श्रम-क्षयाभिघातेभ्यो देहिना कुपितोऽनिल। पूरयित्वाऽखिल देह ज्वरमापादयेद्भृशम्॥" (सु. उ. अ. ३९)। "तत्र क्षत-च्छेद-दाहाद्यैरभिघातज.। श्रमाच्च, तस्मिन् पवन प्रायो रक्त प्रदूषयन्॥ सव्यथा-शोथ-वैवर्ण्य सरुज कुरुते ज्वरम्॥" (अ हृ नि अ २)। "तत्र सव्यथा-शोथ-वैवर्ण्यमिति क्षतादिजस्य लक्षण, सरुजमिति श्रमजस्य, एकलक्षणत्वे व्यथा-रुजयो. पौनरुक्त्यात्।" (हे.)।

ज्वर होता है[1]। बिजलीसे जलने पर अति दाहके साथ ज्वर आता है तथा चक्कर आना, मूर्च्छा और अति तृषा आदि लक्षण होकर मनुष्य मरता है[2]। अग्निसे जलने पर जो (**अग्निदग्धज**) ज्वर होता है उसमें तृषा, मूर्च्छा, फोटे–फफोले उठना, अति जलन, सताप, चक्कर आना और क्रमशः प्यास बढ़ना ये लक्षण होते हैं[3]। अति श्रमसे जो (**श्रमज**) ज्वर होता है उसमें अगोंमे पीडा, तन्द्रा, ग्लानि, सन्धियोंकी शिथिलता और स्वेद आना ये लक्षण होते हैं[4]। नाना प्रकारके अभिघातसे, व्रणशोथ-विद्रधि आदिकी उत्पत्ति तथा उनके पकनेकेसे और अन्य आगन्तु कारणोंसे जो ज्वर होता है उसमें वातादि दोषोंके लक्षणानुसार उनके वातज, पित्तज आदि भेद जानने चाहिए[5]।

अभिषङ्गज ज्वरके भेद और लक्षण—

काम-शोक-भय और क्रोध–इनके उत्पन्न होनेसे, देवादिग्रहोंके आवेशसे (तथा रोगोत्पादक भूतों–जीवाणुओंके शरीरमें प्रवेश होनेसे) जो ज्वर आता है उसको **अभिषङ्गज** ज्वर कहते हैं। विषैले–जहरीले उद्भिज्जोकी वायुके स्पर्श (तथा श्वासादि द्वारा शरीरमें प्रवेश होने) से, अन्य स्थावर–जङ्गम विषोंके भक्षण आदिसे और सविष प्राणियोंके दंश–स्पर्श आदिसे जो ज्वर आता है उसको भी कई आचार्य **अभिषङ्गज** ज्वर मानते हैं। काम, शोक और भयसे वायुका प्रकोप होता है (अत कामज, शोकज और भयज ज्वरमें वातज्वरके लक्षण होते हैं), क्रोधसे पित्तका प्रकोप होता है (अत क्रोधज ज्वरमे पित्तज्वरके लक्षण होते हैं) तथा भूताभिषङ्ग (देवादि ग्रहोंके आवेश) से तीनों दोषोंका प्रकोप होता है (अत भूताभिषङ्गज ज्वरमें सन्निपात ज्वरके तथा तत्तत् भूत-ग्रह के आवेशसे होने वाले जो लक्षण कहे गए हैं वे दोनों होते हैं)। इन ज्वरोंमे दोषलक्षणोंके अतिरिक्त आगे कहे जाने वाले इन ज्वरोंके विशिष्ट लक्षण भी होते हैं। कामज्वर (काम–विशिष्ट स्त्री या पुरुषकी अभिलाषा, उसकी पूर्ति न होनेसे उत्पन्न ज्वर) मे ध्यान (अभीष्ट स्त्री या पुरुषके चिन्तनमे मग्न रहना), नि श्वास, मनका विभ्रंश, तन्द्रा,

---

१ "अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् । श्वसिति क्षौति चात्यर्थमप्या(त्या)धमति कासते ॥ चक्षुषो परिदाहश्च रागश्चास्योपजायते । सधूमक नि श्वसिति घ्रेयमन्यन्न वेत्ति च ॥ तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते । तृष्णा-दाह-ज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति ॥ धूमोपहत इत्येष" (सु सू अ १२)। २ "तथा वज्राग्निदग्धे स्याज्ज्वरस्तीव्रोऽतिदाहवान् । भ्रम-मूर्च्छा-तृषाद्यैश्च मृत्यु याति ध्रुव नर ॥" (नि. दी)। ३ "दग्धे पिपासा-मूर्च्छे च ज्वर-स्फोटातिदाहरुक् । सन्तापोऽतिभ्रमस्तीव्रा तृड्वृद्धि क्रमशो भवेत् ॥" (नि. दी.)। ४ "निस्तुदन्त इवाङ्गानि तन्द्रा ग्लानि प्रजायते । शैथिल्यमिव सन्धीना स्वेदश्च श्रमजे भवेत् ॥" (नि. दी.)। ५ "विविधेनाभिघातेन ज्वरो य. सप्रवर्तते । यथादोषप्रकोप तु तथा मन्येत त ज्वरज्वरम् ॥ रोगाणां तु समुत्थानाद्विदाहागन्तुतस्तथा । ज्वरोऽपर. सभवति तैस्तैरन्यैश्च हेतुभि । दोषाणा स तु लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते ॥" (सु उ अ ३९)।

आलस्य, अरुचि, हृदयमे पीड़ा, शरीर सूखना, इन्द्रियोंका मोह (या मूर्च्छा), शरीरमे दाह तथा लज्जा-निद्रा-बुद्धि और धैर्य-इनका क्षय (कम होना) ये लक्षण होते है। शोकज ज्वरमे रोना और प्रलाप (असवद्ध बोलना) ये लक्षण होते हैं। भयसे उत्पन्न ज्वरमें डरना-घवराना और प्रलाप ये लक्षण होते हैं। क्रोधसे उत्पन्न ज्वरमें शरीर कॉँपना, सिरमे दर्द और खीजना ये लक्षण होते हैं। विषैली ओषधियोंके गन्धसे जो ज्वर होता है उसमें मूर्च्छा, सिरमे पीड़ा, वमन तथा छीके आना ये लक्षण होते हैं। विषसे उत्पन्न ज्वरमें मुखमण्डल-चेहरा श्याम पड़ जाना, दाह, अतिसार, हृदयमे पीड़ा, अरुचि, तृषा, सूई चुभनेकी-सी वेदना, मूर्च्छा, मद (नशा) और छाती जकड़ीसी मालूम होना ये लक्षण होते हैं। ग्रहावेशसे होने वाले ज्वरमे मनकी उद्विग्नता, अकस्मात् (विना कारण) रोना या हंसना, शरीर कॉपना तथा अमानुष (मनुष्यस्वभावसे विलक्षण) लक्षण होते हैं। काम, शोक, भय और क्रोधसे उत्पन्न ज्वरोंके जो लक्षण यहाँ कहे गए हैं वे कामादिसे उत्पन्न अन्य रोगोंमे भी होते हैं[1]।

इन कामज आदि अभिषङ्गज ज्वरोंमे कभी पहिले देहका सताप बढ कर पीछे अन्य लक्षण होते हैं, कभी अन्य लक्षण प्रथम होकर पीछे देहका सताप बढ़ता है और कभी देहसताप और अन्य लक्षण दोनों एक साथ होते हैं। कामादिसे मन अभिद्रुत-दूषित होने पर भी जब तक देह वातादिसे दूषित नही होता तब तक ज्वरका बल-जोर बढ़ता नहीं है, इसी प्रकार शरीर पहले वातादिसे दूषित होने पर भी मन दूषित हुए विना ज्वर बलवान् नहीं होता है। कामादिज आगन्तु ज्वर प्रथम केवल मानस ज्वर (के

---

१ "काम-शोक-भय-क्रोधैरभिपक्तस्य यो ज्वर। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गज ॥ विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषलक्षणै। अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ॥ काम-शोक-भयाद्वायु, क्रोधात् पित्त, त्रयो मला। भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणा ॥ भूताधिकारे व्याख्यान नदष्टविधलक्षणम् ॥ ध्याननि श्वासबहुल लिङ्ग कामज्वरे स्मृतम्।" (च चि अ. ३)। "कामजे चित्तविभ्रशस्तन्द्राऽऽलस्यमरोचक ॥ हृदये वेदना चास्य गात्र च परिशुष्यति।" (सु उ अ ३९)। "कामान्मोहोऽरुचिर्दाहो ह्री-निद्रा-धी-धृतिक्षय।" (अ. स नि अ २)। "शोकजे बाष्पबहुल" (च चि अ ३)। "भयात् प्रलाप शोकाच्च" (सु उ. अ. ३९)। "त्रासप्राय भयज्वरे।" (च. चि अ. ३)। "क्रोधजे बहुसरम्भ" (च. चि अ ३) "भवेत् क्रोधाच्च वेपथु।" (सु. उ अ. ३९)। "क्रोधात् कम्प शिरोरुक् च" (अ स. नि अ २)। "ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथु. क्षव.।" (सु उ. अ. ३९)। 'मूर्च्छा-मोह-मद-ग्लानिभूयिष्ठ विषसभवे।" (च. चि अ. ३)। "श्यावास्यता विषकृते दाहातीसार-हृद्ग्रहा।" (सु. उ. अ. ३)। "भूतावेशे त्वमानुषम्।" (च चि अ. ३)। "भूताभिषङ्गादुद्वेग-हास्य-कम्पन-रोदनम्" (सु उ अ ३९)। "ग्रहेणासिन्नकस्माद्धास-रोदने।" (अ स नि अ २)।

लक्षण वाले) ही रहते हैं और पीछेसे निज-वातादि दोषोंके मिश्र-मिले हुए लक्षणवाले होते हैं। आगन्तुज्वरोंके हेतु और उनकी चिकित्सा निज-वातादि दोषज ज्वरोंसे विशिष्ट प्रकारकी होती है[१]।

अभिचारज और अभिशापज ज्वरोंके लक्षण—

मन्त्रसिद्ध पुरुषोंके अभिचार (मारणादिके लिये प्रयुक्त आथर्वण या तान्त्रिक प्रयोग) से या वचनसिद्ध पुरुषोंके अभिशाप (किसीका अनिष्ट होनेके लिए कहे हुए वचन) से जो **अभिचारज** या **अभिशापज** ज्वर होता है उसमे सन्निपात (त्रिदोषज) ज्वरके जो लक्षण कहे गए हैं वे तथा मोह (इन्द्रियों का मोह—अयथार्थ ज्ञान या मूर्च्छा) और तृषा ये लक्षण होते हैं। ये दोनों प्रकारके ज्वर दु सह होते हैं। अभिचार और अभिशापके विविध प्रकार होनेसे उनसे उत्पन्न ज्वरमे अभिचार तथा अभिशापके प्रयोगानुसार नाना प्रकारके लक्षण होते है। अभिचार या अभिशापके प्रयोगका ज्ञान स्वयं देख कर प्रत्यक्षसे, आप्त पुरुषसे सुनकर शब्दप्रमाणसे अथवा अभिचार और अभिशापकी शान्तिके लिए किए हुए कर्मोंसे ज्वरकी शान्ति होती हुई देखकर अनुमानसे होता है। (**च.**)। अभिचारसे पहले चित्त-मनमे और पीछे देहमे सताप होता है तथा विस्फोटक (शरीर पर फोड़े-फफोले निकलना), तृषा, चक्कर आना, दाह और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं[२]

वातबलासकज्वरके लक्षण—

वातबलासक ज्वरमे नित्य मन्द—हलका ज्वर रहना, शरीरमे रूक्षता, शोथ, अगोंकी स्तब्धता और अवसाद (चलने-फिरनेमे असमर्थता) ये लक्षण होते हैं। वात-

---

१ "केषाञ्चिदेषा लिङ्गाना सन्तापो जायते पुर । पश्चात्तुल्य तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु ॥ मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् । ज्वर प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दुष्यति ॥ देहे चाभिद्रुते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम् । ज्वर प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दूष्यति ॥ ते पूर्वं केवला पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणा । हेत्वौषधिविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वरा ॥" (च चि अ ३)। "कामादिजानामुद्दिष्ट ज्वराणा यद्विशेषणम् । कामादिजानामन्येषा रोगाणामपि तत् स्मृतम् ॥" (च चि अ ३)॥ २ "अभिचाराभिशापाभ्या सिद्धानां य प्रवर्तते सन्निपातज्वरो घोर स विज्ञेय सुदु सह ॥ सन्निपातज्वरस्योक्त लिङ्ग यत्तस्य तत् स्मृतम् । चित्तेन्द्रिय-शरीराणामार्तयोऽन्याश्च नैकश ॥ प्रयोग त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि । स्वय श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन च ॥ वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके । यथाकर्मप्रयोगेण लक्षण स्यात् पृथग्विधम् ॥" (च चि अ ३) । "अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ।" (सु उ अ ३९)। "तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृड्भ्रमै । सदाह-मूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यह वर्धते ज्वर ॥" (अ स नि अ २)।

प्रेरित सर्वसन्धिगत कफसे यह ज्वर होता है, इस लिए इसको **वातवलासक** ज्वर कहते हैं[1]।

हारिद्रक ज्वरके लक्षण—

जिस ज्वरमें रोगीका शरीर और मूत्र हलदी और मेंढकके वर्ण(रंग)का हो जाय उस ज्वरको **हारिद्रक** ज्वर कहते हैं। हारिद्रक ज्वर असाध्य है[2]।

सूतिकाज्वरके भेद और हेतु—

प्रसूता-सूतिका स्त्रियोंको **वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, स्तन्यावतरणज** और **आगन्तुज** भेदसे छह प्रकारका ज्वर होता है। मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना, रूक्षता, व्यायाम, रक्तका अतिस्राव, शोक, अग्निका अति संताप, कटु-अम्ल और उष्ण पदार्थोंका अति सेवन, दिनमें सोना, पूर्व दिशाका वायु, गुरु और अभिष्यन्दि पदार्थोंका खाना, नया स्तन्य-दूध आना, ग्रहबाधा, अजीर्ण तथा प्रसव ठीक न होना (प्रसवके समयमें कष्ट होना) इन कारणोंसे ज्वर आता है। सूतिकाज्वरके पूर्वरूपमें विरोधी-अहित ऐसे स्नेह, शीतल जलसे स्नान, शीतल जलका पान तथा आहारके सेवनसे कष्टसाध्य सन्निपात ज्वर होता है[3]।

छह प्रकारके सूतिकाज्वरोंके लक्षण—

वातज सूतिकाज्वरमें संतापका वैषम्य (कभी संताप अधिक तो कभी कम, शरीरके किसी अवयवमें कम तो किसीमें अधिक), अंगोंमें पीडा, जँभाई-उबासी, रोयें खड़े होना, मुँहका स्वाद कसैला या विरस होना, शीतका द्वेष, उष्ण-गरमकी इच्छा, दन्तहर्ष, प्रलाप, सूखी-खाली डकार, नींद न आना, आध्मान और अंगोंको संकुचित करना-ये लक्षण होते हैं। **पित्तज सूतिकाज्वरमें** तृषा, दाह, प्रलाप, मुँह कडुआ-तीता रहना, चेहरा-नख-दन्त-नेत्र-विष्ठा और मूत्रका पीलापन, कंठ सूखना, सब

---

१ "नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति ('शून. कृच्छ्रेण सिध्यति' इति पा०)। स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥" (अ सं अ नि अ. २)। "मन्दज्वरो मन्दवेगज्वर । × × । वातबलासकस्तु यथार्थ. । आमवातेरितो बलास आरम्भको यस्येति ।" (आ द.)। "प्रलेपकं वातबलासकं च कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः ।" (सु उ. अ. ३९)। २ "हरिद्राभेकवर्णाभस्तद्वर्णं य प्रमेहति । स वै हारिद्रको नाम ज्वरभेदोऽन्तकः स्मृत ॥" (अ सं नि अ. २)। ३ "षड्विधस्तु प्रसूताना नारीणा जायते ज्वर । निजागन्तुविभागेन निदान तस्य मे शृणु ॥ वेगसंधारणाद्रौक्ष्याद्व्यायामात्यसृक्क्षयात् । शोकादत्यग्निसन्तापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात् ॥ दिवास्वप्नात् पुरोवात-गुर्वभिष्यन्दिभोजनात् । स्तन्यागमाद्ग्रहाबाधादजीर्णाद्दुष्प्रजायनात् ॥ ज्वर सजायते नार्या षड्विधो हेतुभेदत. । स एव पूर्वरूपेषु व्यभिचीर्णो विरोधिभि ॥ संसृष्टो स्नेहशीताम्बुपानात्यनशनादिभि । सन्निपातज्वरो घोरो जायते दुरुपक्रम. ॥' (काश्यपसंहिता पृ २७३-२७४)।

जलता हुआ सा दीखना, चक्कर आना और शीतल पदार्थोंके सेवनकी इच्छा-ये लक्षण होते हैं। **कफज सूतिकाज्वरमें** उष्ण पदार्थोंके सेवनकी इच्छा, खाँसी, शिरका दर्द, शरीरका भारीपन, ज्वरका सताप मंद-हलका रहना, जुकाम, मल और मूत्र श्वेत होना, नीद अधिक आना, तन्द्रा, शीतका द्वेष, वार-वार थूकना, मुँहका स्वाद मीठा रहना, शरीरकी शिथिलता और अन्नका द्वेष-ये लक्षण होते हैं। **सन्निपातज सूतिकाज्वरमें** कभी ठंड लगना तो कभी दाह मालूम होना, कभी शरीरका सताप एकसरीखा रहना तो कभी घटना-बढना, दस्त-पेशाव और अधोवात कष्टसे आना, वातसे अङ्गोमें और ऑतोंमें पीडा, पित्तसे दाह-तृषा-प्रलाप और मन विक्षिप्त (पागल) सा होना तथा कफसे भारीपन, कंठ रुकना और वार-वार ठंड लगना-ये लक्षण होते हैं। तीसरे या चौथे दिन स्त्रियोंके स्तनसे दूधकी प्रवृत्ति होती है। उस समय सवृत (संकुचित) दुग्धवाही स्रोत खुलते हैं तव स्तनोंमे स्तब्धता, प्यास, हृदय धडकना, पेट-पार्श्व और कमरमें शूल, अगमर्द और सिरमें दर्द-ये लक्षण (**स्तन्यावतरण ज्वरमें**) होते हैं। दूध शुद्ध और ठीक प्रवृत्त होने पर स्तन्यावतरण ज्वर उतर जाता है। ग्रहवाधा, मानसिक त्रास, जोरकी हवा लगना, शरीर जोरसे हिलाना-इन आगन्तु कारणोंसे जो **आगन्तुज ज्वर** होता है। उसमें शरीर कॉपना, कुन्थन, दृष्टिका विभ्रम, थकावट, हाथ और नेत्रका कंप, चेहरा और नेत्र हलदी जैसे रंगके होना, शरीरका क्षणमें श्याम पड जाना और क्षणमें स्वाभाविक वर्णका हो जाना × × सिरके वाल खीचना और अन्य वातज्वरके लक्षण होते हैं[1]।

---

१ "अत पर ज्वराणां तु लक्षण सप्रवक्ष्यते। विषमोष्माऽङ्गमर्दश्च जृम्भण रोमहर्षणम्॥ कषाय-विरसास्यत्व शीतद्वेषोष्णकामते। दन्तहर्ष प्रलापश्च शुष्कोद्गार प्रजागर॥ आध्मानमङ्ग-सकोचो वातज्वरनिदर्शनम्। तृष्णा दाह प्रलापश्च वमथु कटुकास्यता॥ पीतास्य-नख-दन्ताक्षि-विण्मूत्रत्व च लक्ष्यते। कण्ठस्य शोष सर्वं च प्रदीप्तमिव मन्यते॥ भ्रम शीताभिलापश्च पित्त-ज्वरनिदर्शनम्। उष्णाभिकामता कास शिरोरुग्गात्रगौरवम्॥ मन्दोष्मता प्रतिश्याय शुक्लमूत्र-पुरीषता। निद्रा तन्द्रीर्हिमद्वेष कफज्वरनिदर्शनम्॥ मुहु शीत मुहुर्दाहो मुहुरूष्मा समोऽसम॥ कृच्छ्रविण्मूत्र-वातत्व वातादङ्गाभिसजनम्। दाहस्तृष्णा प्रलापश्च पित्ताद्विक्षिप्तचित्तता॥ गुरुत्व कण्ठसरोध कफाच्च प्रतिशीतता। सन्निपातज्वरस्यैतल्लक्षण समुदाहृतम्॥ तृतीयेऽहि चतुर्थे वा नार्या स्तन्य प्रवर्तते। पयोवहानि स्रोतांसि सवृतान्यतिघट्टयेत्॥ करोति स्तनयो. स्तम्भ पिपासां हृदयद्रवम्। कुक्षि-पार्श्व-कटीशूलमङ्गमर्द शिरोरुजाम्॥ एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्त स्वलक्षणम्। स हि पीयूषसशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति॥ ग्रहावलोकित-त्रास-वाताघाता-वधूनने। ज्वर्यते चेत् प्रसूता स्त्री तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्॥ उद्वेपको निष्टनन चक्षुषो विभ्रम श्रम। कम्पन हस्त-नेत्राणा हारिद्रमुख-नेत्रता॥ क्षणेन श्यावताऽङ्गाना क्षणेन च सवर्णता। सुप्रबोध· सह ×× क्रोश केशलुञ्चनम्॥ पवनज्वररूपाणि विविधानि करोति च।" (**काश्यप-संहिता. पृ २७४-२७५**)।

आम, पच्यमान और निराम ज्वरके लक्षण—

अन्न पर अरुचि, खाए हुए अन्नका परिपाक न होना, पेटका भारीपन, छातीकी जड़ता (छाती शुद्ध मालूम न होना), तन्द्रा, आलस्य, ज्वरका वेग अधिक रहना, ज्वर न उतरना, दोषों (वात-पित्त-कफ) की प्रवृत्ति न होना, मुँहमें लाला अधिक आना, जी मिचलाना, भूख न लगना, मुँह विरस (बेजायका) मालूम होना, शरीरके अवयव स्तब्ध (जकड़ेसे)-सूनेसे और भारी मालूम होना, पेशाब अधिक आना, विष्ठा-मल ठीक न पकना, शरीर कृश न होना, विबन्ध (दस्तकी कब्जियत), पसीना न आना और बेचैनी—ये **आमज्वर**के लक्षण हैं। ज्वरका वेग अधिक रहना, प्यास अधिक लगना, प्रलाप (असम्बद्ध बोलना), श्वासकी गति अधिक रहना, चक्कर आना, मलकी प्रवृत्ति और जी मिचलना-उलटी सा मालूम होना ये **पच्यमान ज्वर**के लक्षण हैं। भूख लगना, शरीर कृश और हलका मालूम होना, ज्वरका वेग कम होना, दोषोंकी प्रवृत्ति होना तथा आठ दिन बीतना—ये **निराम ज्वर**के लक्षण हैं[1]।

साध्य ज्वरके लक्षण—

रोगी बलवान् हो, ज्वरारम्भक दोष अल्प हों तथा ज्वरमें उपद्रव उत्पन्न न हुए हों तो वह ज्वर साध्य होता है[2]।

वक्तव्य-खाँसी, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, तृषा, अतिसार, दस्तकी कब्जियत, हिचकी, श्वास और शरीरकी फूटनी (शरीरमें टूटनेकी सी पीडा)-ये दश ज्वरके उपद्रव हैं[3]।

असाध्य ज्वरके लक्षण—

जो ज्वर बहुत-अनेक और बलवान् कारणोंसे उत्पन्न हुआ हो, जिसमें अनेक-सब लक्षण अति प्रमाणमें देखनेमें आते हों तथा जिसमें शीघ्र (उत्पन्न होते ही) इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जाय वह ज्वर प्राणहर-असाध्य होता है। जिस तीक्ष्ण (त्रिदोषज) ज्वरमें

---

१ "अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च। हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च॥ ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्। लालाप्रसेको हृल्लास क्षुन्नाशो विरस मुखम्॥ स्तब्ध-सुप्त-गुरुत्व च गात्राणा बहुमूत्रता। न विड् जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम्॥ ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप श्वसन भ्रम। मलप्रवृत्तिरुत्क्लेश पच्यमानस्य लक्षणम्॥ क्षुत् क्षामता लघुत्व च गात्राणा ज्वरमार्दवम्। दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम्।" (च चि अ ३)। "हृदयोद्वेष्टनं तन्द्रा लालास्रुतिररोचक। दोषाप्रवृत्तिरालस्य विबन्धो बहुमूत्रता॥ गुरूदरत्व-मस्वेदो न पक्ति शकृतोऽरति। स्वाप स्तम्भो गुरुत्व च गात्राणा वह्निमार्दवम्। मुखस्याशुद्धि-र्ग्लानि प्रसङ्गी बलवाञ्ज्वर। लिङ्गैरेतैर्विजानीयाज्ज्वरमाम विचक्षण॥ तीक्ष्णे ज्वरे गुरौ देहे विबद्धेषु मलेषु च। सामदोष विजानीयाज्ज्वर पक्वमतोऽन्यथा॥" (सु उ अ ३९)।

२ "बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वर साध्योऽनुपद्रव।" (च चि अ ३)। ३ "कास-मूर्छारुचि-च्छर्दि-तृष्णातीसार-विड्ग्रहा। हिक्का-श्वासो-ऽङ्गभेदश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥" इति आयुर्वेददीपिकाया तन्त्रान्तरवचनम्।

प्रलाप, भ्रम (चक्कर आना) और श्वास ये तीनों लक्षण एकसाथ देखनेमें आते हों वह सन्निपात ज्वर वाताधिक हो तो सात, पित्ताधिक हो तो दस और कफाधिक हो तो बारह दिनमें रोगीको मारता है। क्षीण और शोथयुक्त पुरुषमें जो ज्वर हुआ हो, जो गम्भीर धातु(शुक्र)स्थ (या गम्भीरज्वर-लक्षणयुक्त) हो, दीर्घ-लम्बे समयसे चला आता (दीर्घरात्रानुबन्धी) हो तथा जिस ज्वरमें रोगीके सिरके बालोंमें अपने-आप माग सी बन जाय वह ज्वर असाध्य होता है (च.)। जिस रोगीकी प्रभा-कान्ति और इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हुई हो, जो अरुचिसे पीडित हो तथा गम्भीर ज्वरके लक्षणयुक्त और तीक्ष्ण ज्वरवेगसे पीड़ित हो वह रोगी असाध्य होता है। जिस ज्वरमें भीतर अधिक दाह, तृषा, श्वास, खाँसी तथा दोषों और मल-मूत्र आदिका अवरोध हो उसको **गम्भीर ज्वर** जानना चाहिए। (सु.)। जो मनुष्य सज्ञानाश और मोह (इन्द्रियोंका मोह या मूर्च्छा) से युक्त हो, जो सोया हुआ ही पड़ा रहता हो (उठने-बैठनेमें समर्थ न हो), जिसका शरीर बाहरसे ठंढा हो परन्तु उसको भीतरसे दाह मालूम होता हो वह ज्वरवाला मरता है। जिस ज्वरवालेको रोमहर्ष (रोएँ खड़े होना), आँखें लाल होना, हृदय-छातीमें ज़ोरसे मारनेकी सी पीड़ा तथा मुँहसे ही श्वास लेना (नाकसे श्वास न ले सकना)–ये लक्षण हों वह मरता है। जिस ज्वरवालेका शरीर ठंढा हो, शरीरसे अति प्रमाणमें पिच्छिल पसीना आता हो और उठाने-बैठाने पर मूर्च्छा आ जाती हो वह मरता है। वातादि ज्वरोंके पूर्वरूप जो पहिले कहे गये हैं (देखें इसी ग्रन्थमें पृ ५–६) वे सब तथा अति मात्रामें जिस रोगीमें देखनेमें आते हों वह रोगी ज्वरसे मरता है[1]।

दारुण ज्वरमोक्ष (ज्वरमुक्ति–ज्वर छुटने)के लक्षण—

बहुत दोषवाले रोगीका बलवान् और प्राय अभिनव-तरुण ज्वर लङ्घनादि क्रिया (चिकित्सा)से दोषोंका परिपाक होनेपर जब उतरने लगता है तब रोगीको गलेसे अव्यक्त

---

[1] "हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षण । ज्वर प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशन ॥ सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च । सप्रलाप-भ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नृणाम् ॥ ज्वर क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिक । असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वर. ॥" (च चि अ ३) ॥ "हतप्रभेन्द्रिय क्षीणमरोचकनिपीडितम् ('दुरात्मानमुपद्रुतम्' इति पा०)। गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त ज्वरित परिवर्जयेत् ॥ गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया । आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वास-कासोद्भवेन च ॥" (सु उ अ ३९) ॥ "दुरात्मान निश्चेष्टशरीररम्, आत्मा, यत्न, चेष्टेति हि पर्याया । गम्भीरोऽन्तर्वेग । आनद्धत्वेन दोष-मलाना निरुद्धत्वेनेत्यर्थ ।" (डा.) । "विसञ्ज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा । शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नर ॥ यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि सघातशूलवान् । नित्य वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्त ज्वरो हन्ति मानवम् ॥ हिक्का-श्वास-पिपासार्त मूढ विभ्रान्तलोचनम् । सन्ततोच्छ्वसिन क्षीण नर क्षपयति ज्वर ॥" (सु सू अ ३३) । "पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । य विशन्ति विशत्येन मृत्युर्ज्वरपुर सर ॥" (च. इ. अ. ५) ।

शब्द (कूजन), वमन, विकृत चेष्टाएँ, श्वास, शरीरका वर्ण बदलना, शरीरसे पसीना छुटना, शरीर काँपना, बिछौनेमें पडना, प्रलाप, शरीर अति गरम या ठंडा होना, सञ्ज्ञा नष्ट होना, क्रोधके साथ देखता हुआ सा मालूम होना, पित्त-कफयुक्त और शब्द तथा वेगके साथ दस्त होना–ये लक्षण होते हैं। इस प्रकारके ज्वरमोक्ष(ज्वर उतरने) को **दारुणमोक्ष** (क्राइसिस् Crisis) कहते हैं[1]।

अदारुण ज्वरमोक्षके लक्षण—

जो चिरकारी (अधिक समय चलनेवाले) ज्वर दोषानुसार वेग करके दोषपाक होने पर क्रमसे-धीरे-धीरे उतरते हैं उनमें ऊपर लिखे हुए दारुण ज्वरमोक्षके लक्षण नहीं होते हैं। इस प्रकारके ज्वरमोक्षको अदारुण मोक्ष (लाइसिस् Lysis) कहते हैं[2]।

ज्वरमुक्तके लक्षण—

जिसका क्लम (विना परिश्रमके थकावट)-सताप (शरीर गरम रहना) और शरीरकी पीडा चली गई-नष्ट हुई हो, इन्द्रियाँ निर्मल हों, मन स्वाभाविक परिस्थितिमें हो (**च.**), सिर हलका हो, मुँह कुछ पाण्डुवर्ण और पका हुआ हो, छींके आतीं हो और अन्न खानेकी इच्छा होती हो उसको ज्वरमुक्त जानना चाहिए[3] (**सु.**)।

---

१ "ज्वरप्रमोक्षे पुरुष कूजन् वमति चेष्टते। श्वसन् विवर्ण स्विन्नाङ्गो वेपते शीयते ('लीयते' इति पा०) मुहु ॥ प्रलपत्युष्णसर्वाङ्ग शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसञ्ज्ञो ज्वरवेगार्त सक्रोध इव वीक्षते ॥ सदोषशब्द च शकृद्द्रव सृजति वेगवत् । लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षण ॥ बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वर । स क्रियादोषपक्त्या च विमुञ्चति सुदारुणम् ॥" (च चि अ ३)। "ज्वरस्य प्रमोक्षे मोक्षारम्भे, कूजन् वमन् निश्चेष्टो भवति। ×××। शीयते स्वयमेव तदुद्वेगात् शयनमाश्रयते। ×××। यदा वीक्षते तदा सक्रोध इव पश्यतीति लक्ष्यते। तथा शकृत् सदोष-शब्द सदोष पित्त-कफयुक्त, सशब्द, द्रव, वेगवच्च सृजति। ×××। बहुदोषस्य पुसोऽभिनवो ज्वर प्रायेण बलवान् भवति। स ज्वरो बहुदोषजत्वेन बलवत्त्वात् क्रियादोषपक्त्या क्रियया लङ्घनादिना दोषाणा पक्त्या पाकेन चेद्यदि विमुञ्चति तदैवमुक्तरूप दारुण विमुञ्चति।" (**ग**)। "धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते। तेन व्याकुल-चित्तस्तु म्रियमाण इवेहते ॥" (सु उ अ ३९)। २ "कृत्वा दोषवशाद्वेग क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणा चिरकारिणाम् ॥" (च चि अ ३)। "ये च ज्वरा कालेन दोषपाकवशाद्वेग कृत्वा क्रमादुपरमन्ति नाश यान्ति तेषा चिरकारिणा ज्वराणा मोक्षोऽदारुण एवरूपेण न दारुण इत्यर्थ।" (**ग**)। ३ "विगतक्लम-सन्तापमव्यथ विमलेन्द्रियम्। युक्त प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥" (च चि अ ३)। "लघुत्व शिरस स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च ('स्वेदो लघुत्व शिरस कण्डु पाको मुखस्य च।' इति **माधवनिदाने** पा०)। क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥" (सु उ अ ३९)। "केचिदाचार्या 'धातून् प्रक्षोभयन्' इत्यादिकमनन्तरोक्त सन्निपातज्वरमुक्तिलक्षण, 'लघुत्व शिरस' इत्यादिक चेतरज्वरमुक्तिलक्षणमिति ब्रुवते।" (**ड.**)।

वक्तव्य-इस अध्यायमें स्नातक पाठ्यक्रममें उपयुक्त ज्वर संबन्धी अवश्य ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन किया गया है। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम तथा अध्यापकोंके लिए उपयुक्त शेष विषयोंका वर्णन अन्तमें परिशिष्टमें दिया जायगा।

ज्वरनिदानाध्याय प्रथम समाप्त ॥ १ ॥

महास्रोतोगत[1] (आम-पक्वाशयगत) रोग-विज्ञानीयाध्याय-द्वितीय।

अतिसाराधिकार।

अतिसारके सामान्य हेतु—

मात्रा-गुण (वीर्य) और विपाकसे गुरु द्रव्य-अति स्निग्ध-अति रूक्ष-अति उष्ण-अति शीत-अति द्रव-अति स्थूल (संहतावयव) और संयोग-मात्रा आदिसे विरुद्ध पदार्थोंका भोजन, एक बार खाया हुआ आहार पचन-हजम होनेके पहिले दूसरी बार खाना, अजीर्ण (अपक्व अन्न), विषमाशन (अधिक, अल्प या अकालमें भोजन), स्नेह-स्वेद-वमन विरेचन-आस्थापन और अनुवासन—इनका अतियोग या अयोग, विष, भय, शोक, दुष्ट-बिगडा हुआ जल, मद्यका अतिसेवन, सात्म्य आहार-विहारमें और ऋतुओंमें सहसा परिवर्तन होना, अति जलक्रीडा, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना, पेटमें कृमि उत्पन्न होना या बाहरसे खान पान द्वारा कृमियोंका शरीरमें प्रवेश होना (सु.), अति जल पीना, कृश प्राणियोंका मांस—सूखा मांस-तिलके कल्कसे (या तिलके कल्क और मैदेसे) बनाए हुए भक्ष्य—अङ्कुरित धान्य-असात्म्य अन्न-पान—इनका सेवन, अर्श (बवासीर) तथा अन्य इस प्रकारके कारणोंसे (वा.) अतिसार उत्पन्न होता है[2] (ये अतिसारके सामान्य कारण-निदान हैं।)

अतिसारकी सामान्य संप्राप्ति—

वातादि दोषोंके प्रकोपसे उदरमें बढ़ा हुआ द्रव धातु जठराग्नि (पाचक पित्त) को मन्द कर, पुरीष (मल) के साथ मिल (पुरीषको पतला कर), अपान वायु द्वारा प्रेरित होकर गुदासे अति प्रमाणमें बाहर आता है, इस व्याधिको **अतिसार** कहते हैं। इस व्याधिमें द्रव मलका शरीरसे अति प्रमाणमें (और बार-बार) सरण होता है इसलिये

---

१ "कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः, शरीरमध्यं, महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे।" (च. सू. अ. ११)। २ "गुर्वतिस्निग्ध-रूक्षोष्ण-द्रव-स्थूलातिशीतलैः। विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः। शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः। नृणां भवत्यतीसारः" (सु. उ. अ. ४०)। "स पुनरा जायतेऽत्यम्बुपानतः। कृश-शुष्कामिषासात्म्य-तिलपिष्ट-विरूढकैः। मद्य-रूक्षातिमात्रान्नैरर्शोभिः स्नेहविभ्रमात्। क्रिमिभ्यो वेगरोधाच्च तद्विधैः" (अ. सं. नि. अ. ८)।

इस व्याधिको **अतिसार** कहा जाता है। 'गुदाद्वारा द्रव मलका अति प्रमाणमे सरण होना' यह अतिसारका प्रत्यात्म लक्षण है[१]।

अतिसारके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, शोकज और **आमज** भेदसे अतिसार छह प्रकारका होता है[२]।

वक्तव्य—कारणभेदसे अतिसारके **वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, शोकज** और **आमज** ये छह भेद **सुश्रुतने** लिखे हैं। **चरक** और **वाग्भटने** **आमजके** स्थान पर **भयज** भेद मानकर छह भेद लिखे हे। शेप भेद चरकके समान ही लिखे हैं। इस मतभेदका समाधान करते हुए **मधुकोशकार** लिखते हैं कि-चरकने **भयज** और **शोकज** का वातजमे अन्तर्भाव होनेपर भी लक्षण, सज्ञा और कार्यभेदसे उनको भिन्न लिखा है तथा आमज अन्नके अजीर्णसे प्रकुपित तीनों दोपोंसे होता है इसलिए उसका त्रिदोपजमे अन्तर्भाव माना है, इसलिए चरकके मतमे अतिसार छह प्रकारका होता है। सुश्रुतने हेतुविपरीत चिकित्साके लिए शोकजका वातजमे और आमजका त्रिदोपजमे अन्तर्भाव होनेपर भी उनको स्वतन्त्र लिखा है और भयजका वातजमें अन्तर्भाव किया है।

अतिसारके पूर्वरूप—

हृदय (छाती)-नाभि-गुदा-उदर (पेट) और कुक्षि (उदरपार्श्व या पेडू) मे तोद (तीस-सुई चुभनेकी सी वेदना), शरीरका अवसाद-शैथिल्य, अधोवात और मलका अवरोध-रुकना, पेटका अफारा और अन्न हजम-पचन न होना-ये अतिसारके पूर्वरूप हैं।[३]

---

१ "सशम्यापा धातुरग्निं प्रवृद्ध शकृन्मिश्रो वायुनाऽध प्रणुन्न । सरत्यतीवातिसार तमाहु" (सु उ. अ ४०)। "कुपितोऽनिल । विस्रसयत्यधोऽब्धातु हत्वा तेनैव चानलम् ॥ व्यापद्यानुगकृत्कोष्ठ पुरीप द्रवता नयन् । प्रकल्पतेऽतिसाराय" (अ स नि अ ८)। २ "एकैकश सर्वशश्चापि दोपै. शोकेनान्य. षष्ठ आमेन चोक्त ।" (सु उ अ ४०)। "दोपैर्व्यस्तै समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च पड्विध । अतीसार" (अ स नि अ ८)। "ननु चरकादौ दोपैरेकैकशस्त्रय, सन्निपातेनैक, भय-शोकजौ द्वौ, एव पड्, अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्राय ? उच्यते—चरके भय-शोकजौ लक्षण-सज्ञा-कार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आमजस्त्वन्नाजीर्णकुपितत्रिदोपजत्वेन सन्निपातेऽवरुद्ध इति न सख्यातिरेक । सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितो वातजत्व-सन्निपातजत्वाविशेपेऽपि, एव भय-शोकजावपि चरके हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पठितौ, सुश्रुते भयज केवलवातिकेऽवरुद्ध, मानसत्वाविशेपाद्वा शोकजे।" (वि. र.)। ३ "हृन्नाभि-पायूदर-कुक्षितोद-गात्रावसादानिलसन्निरोधाः । विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुर सराणि ॥" (सु उ अ ४०)। "तोदो हृदयादिपु व्यथा एव ।" (आ. द.)। "लक्षण तस्य भाविन. । तोदो हृद्गुद-कोष्ठेपु गात्रसादो मलग्रह. । आध्मानमविपाकश्च" (अ स. नि ८)।

वातातिसारके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

जो वातल-वात प्रकृतिवाला मनुष्य वायु-धूप और व्यायामका अति मात्रामे सेवन करता है, रूक्ष और उचित प्रमाणसे अल्प तथा समय वीतने पर भोजन करता है, तीक्ष्ण मद्य और मैथुनका नित्य सेवन करता है तथा मल-मूत्र आदिके वेगोको रोकता है उसके शरीरमे वायुका प्रकोप होता है और जठराग्नि उपहत (पचनक्रियामे असमर्थ) होती है। प्रकुपित वायु जठराग्निका उपघात होनेपर मूत्र और स्वेद (के लिये उपयोगमे आनेवाले द्रवाश) को मलाशय (पक्वाशय) मे ला, उस द्रवाशसे मलको पतला करके अतिसार उत्पन्न करता है। यदि वातातिसार आम हो तो उसमे पिच्छिल, आमलक्षण-युक्त, फैलनेवाला, भूमिपर गिरनेपर भूमिमे विलीन हो जाय ऐसा, स्निग्धतारहित, पतला, अपक्व मासके सदृश गन्धवाला, पीड़ाके साथ, कुछ शब्दके साथ या शब्दरहित तथा मूत्र और अधोवातके निरोधके साथ मल-दस्त आता है वायु पेटके अन्दर गुड़-गुड आवाज और दर्दके साथ फिरता है तथा नीचे या ऊपरसे निकलता-सरता नही है (ये आम वातातिसारके लक्षण हैं) । यदि वातातिसार पक्व हो तो उसमे विवन्ध (रुकावट) के साथ थोड़ा-थोडा, शब्द-शूल-फेन-पिच्छा (लुआब) और ऐंठन (पेट कटनेकी सी वेदना) के साथ मल-दस्त आता है । दस्त आते समय रोएँ खड़े होते हैं, रोगी जोरसे श्वास छोड़ता है, रोगीका मुँह सूखता है, दस्त जाते समय कमर-जॉघ-गुठने-पृष्ठ और पार्श्वमे पीड़ा होती है तथा गुदा वाहर आती है। पक्व वातातिसारमे यदि वार-वार, पतला और वायुसे विग्रथित (पतले मलके साथ वीच-वीचमे गाठ सा) मल आता हो तो उस अतिसारको कई आचार्य **अनुग्रथित** कहते हैं **(च.)**, वातातिसारमे पेटमे दर्द, मूत्रका अवरोध, ऑतोंमे गुड-गुड शब्द, गुदा वाहर आना, कमर-जॉघ और पिण्डलियोमे शिथिलता, मुँह सूखना, रोमहर्ष—इन लक्षणोके साथ थोडा-थोडा, फेनयुक्त, स्निग्धतारहित, श्याव या जले हुए गुड़ जैसे रगका, पिच्छिल, पतलेके साथ वीच-बीचमे गठा हुआ दस्त वार-वार आता है **(सु , वा.)**[1] ।

---

१ "वातलस्य वातातप-व्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्प-प्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्य-व्यवायनित्य-स्योदावर्तयतश्च वेगान् वायु प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते। स वायु प्रकुपितोऽग्नावुपहते मूत्र-स्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य, ताभ्या पुरीष द्रवीकृत्यातिसाराय प्रकल्पते। तस्य रूपाणि—विज्जलमाम विप्लुतमवसादि रूक्ष द्रव सशूलमामगन्धमीषच्छब्दमशब्द वा विवद्धमूत्र-वातमतिसार्यते पुरीष, वायुश्चान्त कोष्ठे सशब्द-शूलस्तिर्यक् चरति विवद्ध इत्यामातिसारो वातात् । पक्व वा विवद्ध-मल्पाल्प सशब्द सशूलफेन-पिच्छा-परिकर्तिक हृष्टरोमा विनि श्वसन् शुष्कमुख कट्यरु-त्रिक-जानु-पृष्ठ-पार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीष वातात्, तमाहु 'अनुग्रथितम्' इत्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात्। इति वातातिसार ।" (च चि अ १९)। "वातलस्येत्यनेन वात-प्रकृतिं प्राप्य वातातपादीना वातातिसारजनने सामर्थ्यातिशयो दर्श्यते, तेनान्यप्रकृतेरपि वाता-तपादयोऽतिसारस्य कारण भवन्तीति ज्ञेयम्। एव पित्तल-श्लेष्मलशब्दयोरपि तात्पर्य व्याख्येयम्।

पित्तातिसारके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

पित्तल (पित्तप्रकृतिवाला) मनुष्य जब अम्ल-लवण-कटु (चरपरे)-क्षार-उष्ण और तीक्ष्ण पदार्थोंका अतिमात्रामें सेवन करता है, अधिक समय अग्निके ताप धूप और गरम हवा-लूमें रहता है तथा अतिक्रोध या ईर्ष्या करता है तब उसका पित्त प्रकुपित हो, अपने द्रव गुणसे जठराग्निको मन्द कर, मलाशय (पक्वाशय)में आ, अपने उष्ण-द्रव और सर गुणसे मलको पतला करके अतिसार उत्पन्न करता है। पित्तातिसारमें हल्दीके जैसे रंगका, पीला, हरा, काला, कुछ लाल रंगका, रक्त और पित्तमिश्रित, उष्ण स्पर्शवाला, अति तीक्ष्ण, फटा हुआ सा, मांस धोए हुए जल जैसा, अति दुर्गन्धवाला, पतला मल-दस्त वेगसे आता है और तृषा, दाह, पसीना आना, मूर्च्छा, पेटमें शूल, गुदामें जलन और पकना तथा ज्वर ये लक्षण होते हैं[१]।

श्लेष्मातिसारके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

श्लेष्मल (कफप्रकृति वाला) मनुष्य जब गुरु-मधुर-शीत और स्निग्ध द्रव्योंका सेवन करता है, अतिभोजन करता है, चिन्ता नहीं करता, दिनमें सोता है तथा आलस्यसे

प्रमिताशनमतीतकालभोजनम्। × । पुरीषाशयमुपहत्येति पक्वाशयं नीत्वा । × । विप्लुतमिति प्रसरणशीलम्। अवसादीति भूमौ पतित लीनं भवति। तमाहुरनुग्रथितमिति विग्रथितपुरीषातिसारा-वस्था प्रायः वातातीसारम्। वातग्रथितवर्चस्त्वादित्यनेन यत्र पक्वातिसारेऽपि वातानुग्रथितवर्चस्त्वं न भवति नासावनुग्रथितसंज्ञ इति दर्शयति।" (च द)। "शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी रुस्तापानः सन्नकट्यूरु-जङ्घः । वर्चो मुञ्चत्यल्पमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन॥" (सु. उ. अ. ४०)। "तत्र वातेन विज्जलम् । अल्पाल्पं शब्द-शूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते । रूक्षं सफेन-पिच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः । तथा दग्ध-गुडाभासं सपिच्छ-परिकर्तिकम्। शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन्।" (अ. स. नि. अ. ८)। "विनिष्टनन् निष्कुथन्।" (अ. द.)। "विनिष्टनन् निष्टनिका प्रवाहिका कुर्वन्।" (चन्द्रः)।

१ "पित्तलस्य पुनरम्ल-लवण-कटुक-क्षारोष्ण-तीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्नि-सूर्यसंतापोष्ण-मारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयविसृतमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय प्रकल्पते। तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृषा–दाह-स्वेद-मूर्च्छा-शूल–ब्रध्नसन्ताप-पाकपरीत इति पित्तातिसारः।" (च. चि. अ. १९)। "द्रवत्वादूष्माणमु-पहत्येति यद्यपि पित्तमुष्णमग्नेः समानतया वर्धकं भवतीति युज्यते, तथाऽपि द्रवत्वादूष्माणमग्निरूपं हन्तीत्यर्थः। पुरीषाशयविसृतमिति पुरीषाशयगतं पित्तम्। ब्रध्नो गुदः।" (च. द.)। "दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम् । पित्तात् पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णा-मूर्च्छा-दाह-पाक-ज्वरार्तः॥" (सु. उ. अ. ४०)। "पित्तेन पीतमसितं हारिद्रं शाद्वलप्रभम् । सरक्तमतिदुर्गन्धं तृण्मूर्च्छा-स्वेद-दाहवान् ॥ सशूलं पायुसंताप-पाकवान्" (अ. स. नि. अ. ८)।

कुछ कार्य-परिश्रम नहीं करता तव उसके शरीरमें कफका प्रकोप होता है। वह प्रकुपित कफ पक्वाशयमें आ, अपने सौम्य-गुरु-मधुर-शीत और स्निग्ध स्वभावसे जठराग्निको मन्द तथा मलको पतला करके अतिसार उत्पन्न करता है। श्लेष्मातिसारमें स्निग्ध, श्वेतवर्ण, पिच्छिल, तन्तुयुक्त, आम (अपक्व), गुरु, दुर्गन्धि, कफमिश्रित, थोड़ा-थोड़ा, शूल और मरोड़के साथ, विना शब्दके वार-वार दस्त आता है। पेट, गुदा, मूत्राशय और वंक्षण (कटी और ऊरुका सन्धि प्रदेश)-इनमें गुरुता मालूम होती है, दस्त ठीक होजानेपर भी दस्त ठीक नहीं हुआ-और दस्त आवेगा ऐसी शंका वनी रहती है तथा रोगीको तन्द्रा, निद्रा, आलस्य, रोमहर्ष, जी मिचलाना, अवसाद (शिथिलता) और अन्नपर द्वेष-ये लक्षण मालूम होते हैं[१]।

त्रिदोषज अतिसारके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

अति शीत-स्निग्ध-रूक्ष-उष्ण-गुरु-खर और कठिन पदार्थोंका भोजन करना, विषम (वहु, अल्प या अकालमें भोजन), विरुद्ध (मात्रा-सयोग-देश काल आदिसे विरुद्ध) तथा असात्म्य पदार्थोंका भोजन करना, भोजन न करना, भोजनका समय वीत जाने पर भोजन करना, पथ्य-अपथ्य चाहे सो (एक साथ) खा लेना, विगड़ा हुआ मद्य और जल पीना, अति मद्य पीना, सशोधन न करना, पञ्चकर्मोंका मिथ्यायोग, पञ्चकर्मोंके मिथ्या योगकी चिकित्सा न करना, अग्नि-धूप-वायु और जलका (अवगाहादि द्वारा) अति सेवन करना, न सोना या अति सोना, मल-मूत्र

---

१ "श्लेष्मलस्य तु गुरु-मधुर-शीत-स्निग्धोपसेविन सपूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते । स स्वभावाद्गुरु-मधुर-स्निग्ध स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीपाशयमुपह(ग)त्योपक्लेद्य पुरीपमतिसाराय कल्पते । तस्य रूपाणि—स्निग्ध श्वेत पिच्छिल तन्तुमदाम गुरु दुर्गन्ध श्लेष्मोपहितमनुवद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिक, गुरूदर-वस्ति-वक्षणदेश. कृतेऽप्यकृतसञ्ज्ञ सलोमहर्ष सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीत सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसार ।" (च चि अ १९)। "सपूरकस्येति अतिमात्राशनशीलस्य । पुरीपाशयमुपहत्येति पुरीपाशय गत्वा, हन्तेर्हिंसा-गत्यर्थकत्वादत्र गत्यर्थता। ×। अत्र च पित्तातिसारे श्लेष्मातिसारे च यद्यपि सामतालक्षण नोक्त, तथाऽपि सामवातातिसारप्रोक्तविज्जलत्वामगन्धित्वप्रकारैर्लक्षणैस्तयोरप्यामातिसाररूपाऽवस्था ज्ञेयैव । तथा हि 'पित्तातिसार पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वय विदित्वा' इत्यादिनाऽऽमपित्तातिसारे पृथक् चिकित्सा वक्ष्यति, श्लेष्मातिसारे तु सामे निरामे च रूक्षोष्णादिरूपा चिकित्सा समानैवेति कृत्वा पृथगामश्लेष्मातिसारचिकित्सा नोक्ता ।" (च. द)। "तन्द्रा-निद्रा-गौरवोत्क्लेश-सादी वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूय ॥ शुक्ल सान्द्र श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्त भक्तद्वेषी नि स्वन हृष्टरोमा ॥" (सु उ अ ४०)। "श्लेष्मणा घनम्। पिच्छिल तन्तुमच्छ्वेत स्निग्धमाम कफान्वितम्। अभीक्ष्ण गुरु दुर्गन्ध विवद्धमनुवद्धरुक् । निद्रालुरलसोऽन्नद्विडल्पाल्प सप्रवाहिकम् । सरोमहर्ष सोत्क्लेशो गुरुवस्ति-गुदोदरः । कृतेऽप्यकृतसञ्ज्ञश्च" (अ. स. नि. अ. ८)।

आदिके वेगोंको रोकना, ऋतुविपर्यय (सर्दीमे गरमी, गर्मीमें सर्दी, वर्षा ऋतुमे वर्षा न होना आदि), अपने बल-शक्तिसे अधिक कार्य करना, भय-शोक और चित्तके उद्वेगका अतियोग, उदर-कृमिशोष(राजयक्ष्मा)-ज्वर और अर्श-इन रोगोंका अधिक समय चलना-रहना इन कारणोंसे तीनों दोष प्रकुपित हो, जठराग्निको मन्द कर, पक्काशयमें आ, मलको पतला करके ऊपर लिखे हुए तीनों दोषोंके मिले हुए लक्षणोंवाला त्रिदोषज (सान्निपातिक) अतिसार उत्पन्न करते हैं। जब प्रकुपित वातादि तीनों दोष रक्तादि धातुओंको अति दूषित करते हैं तब धातुगत दोषस्वभावकृत अतिसारके नानाविध वर्ण उत्पन्न करते हैं। रक्तादि धातु अति दूषित होने पर हलदी जैसा, हरा, नील, मजीठ जैसा, मांस धोए हुए जल जैसा, लाल, काला, श्वेत, सुअरकी चरबी जैसा, वेदनाके साथ या वेदनारहित, ग्रथित (द्रव नहीं ऐसा-गाठसा), कभी आमलक्षण-युक्त तथा कभी पक्कलक्षणयुक्त, कभी ऊपर कहे हुए सब लक्षणोंसे युक्त और कभी थोड़े लक्षणोंसे युक्त मल आता है। ऐसे रोगीका यदि बल और मांस अति क्षीण नहीं हुआ हो, जठराग्नि मन्द हो और मुँहका रस (स्वाद) नष्ट हो गया हो तो उसको कष्टसाध्य जानना चाहिए। यदि इन (वक्ष्यमाण) वर्णोंवाला मल आता हो और ये (वक्ष्यमाण) उपद्रव हों तो रोगको असाध्य जानना चाहिए, जैसे–पका हुआ रक्त–यकृतका टुकड़ा-चरबी-मांस धोया हुआ जल-दही-घृत-मज्जा-तैल-वसा-दूध-वेसवार (एक प्रकारकी मांसकी चटनी) जैसा, अति नील-अति रक्त-अति काला-जलके सदृश स्वच्छ, मेचक वर्ण (स्निग्ध कृष्ण)-अति स्निग्ध-हरा-कषायवर्ण-और नानाविध मिश्रित वर्णवाला, मलिन, पिच्छिल, तन्तुयुक्त (रेशेदार), आमलक्षणयुक्त, चमकदार, सड़े हुए शव और पीव जैसी दुर्गन्धवाला, कच्चे मछलीके मांस जैसी गन्धवाला, मक्खियोंको प्रिय (जिस पर मक्खियाँ बैठती हों ऐसा), सड़े हुए बहुत धातुओंके स्रावसे युक्त तथा अल्प मलयुक्त या मलरहित दस्त आते हो तथा जिसको तृषा-दाह-ज्वर-चक्कर आना-आँखोंके सामने अन्धेरा दिखना, हिचकी और श्वास ये रोग अनुबन्ध-उपद्रव रूपमें हों, अति वेदना रहती हो या न रहती हो, गुदामें पाक हो, गुदा बाहर आती हो, बल-मांस और रक्त क्षीण हुआ हो, अस्थि और अस्थि-सन्धियोंमें शूल-अरुचि-बेचैनी-प्रलाप इन्द्रियोंका मोह (या मूर्च्छा) ये लक्षण हों तथा रोग सहसा-अकस्मात् निवृत्त हो जाय तो उस रोगीको असाध्य जानना चाहिए[1]।

---

१ "अतिशीत-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-गुरु-खर-कठिन-विषम-विरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद्यत्किञ्चिदभ्यवहरणात् प्रदुष्ट-मद्य-पानीयपानादतिमद्यपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणा विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्य-पवन-सलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद्वेगविधारणादृतुविपर्ययाद-यथाबलमारम्भाद्भय-शोक-चित्तोद्वेगातियोगात् कृमि-शोष-ज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषा प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्काशयमनुप्रविश्यातिसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति। अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रकृष्टं दूषयन्तो धातु-दोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्र-हरित-नील-माञ्जिष्ठ-मांसधावनसन्निकाशं रक्तं कृष्णं श्वेत

भयज और शोकज अतिसारके लक्षण—

भय और शोकसे **भयज** और **शोकज** नामके दो प्रकारके आगन्तु कारणोंसे उत्पन्न मानस अतिसार होते हैं। भय और शोकसे शीघ्र वायुका प्रकोप होता है, अतः भयज और शोकज अतिसारमें वातज अतिसारके लक्षण होते हैं[1] (च.) भय और शोकसे चित्त-मनका क्षोभ होकर पित्तयुक्त वायुका प्रकोप होता है। इन दोनों अतिसारमें शीघ्र-शीघ्र, उष्ण और पतला दस्त शब्दके साथ आता है तथा वातज और पित्तज अतिसारमें कहे हुए अन्य लक्षण भी होते हैं[2] (वृ. वा.) बन्धुनाश-धननाश आदि कारणोंसे शोक करनेवाले और शोकसे ही कम खानेवाले मनुष्यके शरीरमें शोकसे उत्पन्न बाष्प (नेत्र-नासा गलादिगत जल) जठराग्निको मन्द कर, कोष्ठ (पक्काशय) में जाकर वहाँके रक्तको क्षुब्ध-प्रवृत्त करता है। गुञ्जाके सदृश वर्णका वह रक्त मलके साथ मिलकर या अकेला, दुर्गन्धयुक्त (मलके साथ मिला हो तो) या दुर्गन्धरहित (मलरहित हो तो) वेदनाके साथ (इस अतिसारमें) आता है। यह शोकातिसार कष्टसाध्य होता है (सु.) (क्यो कि शोक गये विना केवल औषधसे लाभ नहीं होता)[3]।

वराहमेद सदृशमनुबद्धवेदनमवेदन वा समास-व्यत्यासादुपवेश्यते शकृद्ग्रथितमाम सकृत्, सकृदपि पक्कमनतिक्षीणमास-शोणित-बलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च, तादृशमातुर कृच्छ्रसाध्य विद्यात्। एभिर्वर्णैरतिसार्यमाण सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत । तद्यथा—पक्कशोणिताभ यकृत्खण्डोपम मेदो-मांसोदकसन्निकाश दधि-घृत-मज्ज-तैल-वसा-क्षीर-वेसवाराभमतिनीलमति-रक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छ पुनर्मेचकाभमतिस्निग्ध हरित-नील-कषायवर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिल तन्तुमदाम चन्द्रकोपगतमतिकुणप-पूतिपूयगन्ध्याममत्स्यगन्धि मक्षिकाका(का)न्त कुथित-बहुधातुस्रावमल्पपुरीषमपुरीष वाऽतिसार्यमाण तृष्णा-दाह-ज्वर-भ्रम-तमक-हिक्का-श्वासानु-बन्धमतिवेदनमवेदन वा स्रस्त-पक्कगुद पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबल-मास-शोणित सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसमोहपरीत सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्य विद्यात्। इति सन्निपातातिसार'।" (च चि अ १९)। "यत्किञ्चिदभ्यवहरणादिति पथ्यापथ्य-भोजनात्। अनुपचारादिति प्रतिकर्मणामेवासम्यगुपचारात्। सलिलातिसेवनादित्यत्र अवगाहा-दिना बाह्यसेवन सलिलस्योच्यते, अतिपान तु प्रागेवोक्तम्। अपि चेत्यादिना विकृतिविषमसम-वायारब्धत्रिदोषलक्षणमाह। अतिप्रकृष्ट प्रदूषयन्त इति अतिप्रकृष्ट यथा भवति तथा प्रदूषयन्त इत्यर्थ । समास-व्यत्यासादुपवेश्यत इति समास यथोक्तलक्षणाना मेलक, व्यत्यास अमेलक । सकृदिति कदाचित् । तृष्णेत्यादिना सोपद्रवमित्यनेन सूचितानुपद्रवानाह । मुक्तनालमिति मुक्तगुदम्।" (च ट)

१ "आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भय शोकजौ । तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्॥ मारुतो भय-शोकाभ्या शीघ्र हि परिकुप्यति।" (च चि अ १९)। २ "भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत्। वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्ण द्रव प्लवम्॥ वात-पित्तसम लिङ्गै-राहुस्तद्वच्च शोकत ॥" (अ स नि अ ८)। ३ "तैस्तैर्भावै शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पा-

आमातिसारके लक्षण—

आमाजीर्णसे प्रकुपित वातादि दोष कोष्ठ (पक्वाशय), रक्तादि धातु तथा पुरीषादि मलोंको दूषित करके आमातिसार उत्पन्न करते हैं। आमातिसारमें शूल (पेटके दर्द)के साथ विविध वर्णके दस्त बार-बार होते हैं[1] (सु०)।

चिकित्साके विचारसे अतिसारके भेद—

संक्षेपमें अतिसारके **साम** और **निराम** तथा **सासृक्** (**सरक्त**-जिसमें रक्त आता हो) और **निरसृक्** (जिसमें रक्त न आता हो-रक्तरहित)-इस प्रकार चार भेद होते हैं[2] (वा.)।

साम और निराम अतिसारके लक्षण—

साम अतिसारमें अपक्व मल जलकी अपेक्षया गुरु होनेसे जलमें डूब जाता है (कफज अतिसारमें पक्व मल भी जलमें डूब जाता है) तथा दुर्गन्धयुक्त और पिच्छिल होता है। सामातिसारमें पेटमें गुड़गुड़ाहट, विष्टम्भ (मल रुक-रुक कर आना) और प्रसेक (मुँहमें लाला अधिक आना) ये लक्षण होते हैं। निराम-पक्व अतिसारमें ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे विपरीत लक्षण होते हैं तथा मल और शरीरमें हलकापन मालूम होता है[3]।

रक्तातिसारके लक्षण—

जो पित्तातिसारवाला मनुष्य पित्तका प्रकोप करनेवाले द्रव्योंका अति सेवन करता है उसका अति बढ़ा हुआ पित्त रक्तको दूषित करके रक्तातिसार उत्पन्न करता है। रक्ाति-

---

वेगः ('बाष्पोष्मा वै' इति पा०) पक्तिमाविध्य जन्तोः। कोष्ठं गत्वा क्षोभयत्यस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम्॥ निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः। शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः॥" (सु उ अ ४०)। "तैस्तैर्भावैरिति धनबन्धुनाशादिभिः। ×। अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्य। ×। बाष्पोऽस्त्युद्गतनेत्रनासा-गलादिगतं जलं, तत्सहितं ऊष्मा शोकजं देहतेजो बाष्पोष्मा, स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविध्य (ह्य) व्याकुलीकृत्य, क्षोभयत्यस्य रक्तम्, ऊष्मत्व-द्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्। तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशमधस्तान्निर्गच्छेत्। ×। दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात्।" (वि. र)।

१ "आमाजीर्णोपद्रुता क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान् मलांश्च। नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति॥" (सु उ अ ३९) २ "अतिसारः समासेन द्वेधा **सामो निरामकः। सासृङ् निरस्रः**" (अ सं. नि अ ८)। ३ "संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति। पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्॥ एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै। लाघवं च शरीरस्य ('पुरीषस्य इति' पा०) तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥" (सु उ अ. ४०)। "तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति। शकृद्दुर्गन्धमाटोप-विष्टम्भातिप्रसेकिनः॥ विपरीतो निरामस्तु कफात् पक्वोऽपि मज्जति।" (अ. सं. अ ८)।

सारमें केवल रक्तके या मलमिश्रित रक्तके दस्त आते हैं तथा ज्वर, तृषा, दाह और गुद-पाक ये लक्षण होते हैं[१]।

अतिसारके असाध्य लक्षण—

जिस अतिसारमें घृत-मेद (चरबी)-वेसवारका जल-तैल-मज्जा-दूध-मधु (शहद)-मजीठका क्वाथ और मस्तुलुङ्गके सदृश, सड़े हुए मांस जैसी गन्धवाला, शीतस्पर्श, मुर्दे (शव) के जैसी गन्धवाला, सुरमेके सदृश काले रंगका, रेखायुक्त, चमत्कार (मयूरपिच्छ सदृश चन्द्रिकायुक्त), पीव (मवाद) या कीचड़ (कर्दम) जैसा और उष्ण मल आता हो, रोगी क्षीण और अरिष्टलक्षणयुक्त हो तथा जिस अतिसारमें अनेक उपद्रव हों वह असाध्य होता है। जो रोगी गुदाका संवरण न कर सकता (वेगसमाप्तिके अनन्तर गुदाको ऊपर-अन्दर न खींच सकता) हो, अजितेन्द्रिय (बदपरहेज) हो, क्षीण हो, खूब आध्मानयुक्त हो तथा गुदा पक गई हो परन्तु शरीर ठंडा पड़ गया हो वह असाध्य होता है (सु.)। जिस अतिसारमें पके हुए जामुनके सदृश रंगका, यकृत्के टुकड़े जैसे रंगका, मांस धोए हुए जल जैसा, कृष्ण-नील-अरुण-मेचक (काजलके पिंड सदृश)-या नाना वर्णका, सुगन्धयुक्त, गाढा तथा (आहारसे) प्रमाणमें अधिक मल आता हो तथा तृषा दाह-आँखोंके सामने अंधेरा दिखना-श्वास-हिचकी-पार्श्वशूल-अस्थिशूल-मूर्च्छा-बेचैनी-इन्द्रियोंका मोह-अतितृषा-शरीरका शोथ-ज्वर-खाँसी और वमन ये रोग उपद्रवरूपमें हों (लक्षणरूपमें नहीं) तो उसको असाध्य जानना चाहिए। विशेष करके इन लक्षणों वाला अतिसार वृद्धको हुआ हो तो वह असाध्य होता है[२]।

---

१ "पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते। पित्तलान्यन्न-पानानि तस्य पित्तं महाबलम्॥ कुर्याद्रक्तातिसारं तु रक्तमाशु प्रदूषयन्। तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्॥" (च. चि. अ. १९)। "पित्तातिसारी यो मर्त्यः पित्तलान्यतिसेवते। पित्तं प्रदुष्टं तस्याशु रक्तातीसारमावहेत्॥ ज्वरं शूलं तृषां दाहं गुदपाकं च दारुणम्॥" (सु. उ. अ. ४०)।

२ "सर्पिर्मेदो-वेसवाराम्बु-तैल-मज्जा-क्षीर-क्षौद्ररूपं स्रवेद्यत्। मञ्जिष्ठाभं मस्तुलुङ्गोपमं वा विस्रं शीतं प्रेतगन्ध्यञ्जनाभम्॥ राजीमद्वा चन्द्रकैः संततं वा पूयप्रख्यं कर्दमाभं तथोष्णम्। हन्यादेतद्यत् प्रतीपं भवेच्च क्षीणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः॥ असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मानमुपद्रुतम्। गुदे पक्के गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्॥" (सु. उ. अ. ४०)। "श्वास-शूल-पिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतिसारो विनाशयेत्॥" (सु. सू. अ. ३३)। "पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु। घृत-तैल-वसा-मज्ज-वेसवार-पयो-दधि–॥ मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्। मेचकं स्निग्ध-कर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम्॥ कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि ('दुर्गन्धि' इति पा०) कुथितं बहु। तृष्णा-दाह-तमः-श्वास-हिक्का-पार्श्वास्थिशूलिनम्॥ सम्मूर्च्छा-रति-संमोहयुक्तं पक्कवली-गुदम्। प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्॥ शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्॥" (मा. नि.)।

अतिसारनिवृत्तिके लक्षण—

जब जठराग्नि प्रदीप्त हो, पेट हलका मालूम हो तथा विना दस्तके भी पेशाब आवे तथा अधोवायु सरे तब अतिसार निवृत्त हुआ है ऐसा जानना चाहिए[1]।

प्रवाहिकाधिकार।

प्रवाहिकाकी संप्राप्ति—

अहित आहारसे सञ्चित कफको प्रकुपित (अपान) वायु गुदमार्गसे बाहर निकालता है, इस व्याधिमें प्रवाहण (कुन्थन-दस्त लानेके लिए जोर)के साथ वार-वार कफ (आँव) मिश्रित (रक्तज प्रवाहिकामें रक्त और आँव दोनोंसे मिश्रित) मल आता है, इस व्याधिको **प्रवाहिका** (पेचिश) कहते हैं। प्रवाहणके साथ कफ (आँव) मिश्रित दस्त आना यह प्रवाहिकाका प्रत्यात्म (खास) लक्षण है[2]।

दोषभेदसे प्रवाहिकाके लक्षण—

वातज प्रवाहिकामें शूल (पेटमें दर्द), पित्तज प्रवाहिकामें पेटमें जलन, कफज प्रवाहिकामें दस्तमें कफ-आँव अधिक आना तथा रक्तज प्रवाहिकामें आँव और मलके साथ रक्त आना ये लक्षण विशेष रूपसे होते हैं। कफज प्रवाहिका स्निग्ध, वातज प्रवाहिका रूक्ष तथा पित्तज और रक्तज प्रवाहिका तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थोंके अति सेवनसे होती है। प्रवाहिकाके दोषभेदसे लक्षण, आम और पक्व मलके लक्षण तथा चिकित्साक्रम अतिसारके सदृश ही जानना चाहिए[3]।

वक्तव्य–प्रवाहिका भी अतिसारका ही भेद होनेसे अतिसारके अनन्तर प्रवाहिकाका वर्णन किया गया है।

ग्रहण्यधिकार।

ग्रहणी रोगके सामान्यहेतु और संप्राप्ति—

जो मनुष्य भोजनकी लोलुपता (लालसा) से शास्त्रमें कही हुई भोजनविधिको छोड कर यथेच्छ (चाहे सो और चाहे जैसा) खा लेता है उसको शीघ्र ग्रहणीदोषसे होने-

---

१ "यस्योच्चार विना मूत्र सम्यग्वायुश्च गच्छति। दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामय. ॥" (सु उ अ ४०)। "उच्चार पुरीषम्। सम्यगिति प्रवृत्तिशङ्कारहितम्। वातोऽत्र अधोवात। दीप्ताग्नेरिति प्रथमावस्थापेक्षया, तेन 'अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नि' इति वक्ष्यमाण न विरुध्यते। X। स्थितो निवृत्त। उदरामयोऽतिसार, प्रकरणात्।" (ड)। २ "वायु प्रवृद्धो निचित बलास नुदत्यधस्तादहिताशनस्य। प्रवाहतोऽल्प बहुशो ('प्रवाहमाणस्य मुहु' इति पा०) मलाक्त प्रवाहिका ता प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥" ३ "प्रवाहिका वातकृता सशूला, पित्तात् सदाहा, सकफा कफाच्च। सशोणिता शोणितसभवा च, ता स्नेह-रूक्षप्रभवा मतास्तु ॥ तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्ग क्रम चाम-विपक्वता च।" (सु. उ अ. ४०)। "स्नेह-रूक्षप्रभवेति स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा, 'तु' शब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा, रक्तजा च।" (वि. र.)।

वाले विकार ('ग्रहणीरोग' नामसे प्रसिद्ध चार प्रकारके विकार तथा ग्रहण्याश्रित दोषसे होने वाले अग्निमान्द्य अजीर्ण-आदि अन्य रोग) होते हैं (च)। अतिसार (और प्रवाहिका) की निवृत्तिके पीछे जब मनुष्यकी जठराग्नि मन्द होती है तब अपथ्य-अहित भोजन करनेसे अथवा जिसको अतिसार या प्रवाहिका हुई नहीं है ऐसा मनुष्य भी जब अग्निको मन्द करनेवाले हेतुओंका सेवन करता है तब उसको ग्रहणीरोग होता है (सु.)। अतिसार (या प्रवाहिका) में जो मनुष्य वर्ज्य पदार्थोंके वर्जन और सेव्य पदार्थोंके सेवनमें अति यत्न नहीं करता है उसको ग्रहणी रोग होता है (वा.)।

ग्रहणी रोगके भेद—

अत्यन्त बढ़े हुए (प्रकुपित) वातादि एक एक दोषसे **वातज, पित्तज** और **कफज** तथा तीनों दोषोंसे **त्रिदोषज**—इन भेदोंसे चार प्रकारका ग्रहणीरोग होता है।

ग्रहणी रोगके सामान्य लक्षण—

दुर्बल जठराग्निसे अन्नका विदाह (कुछ पकना-कुछ न पकना) होता है। वह विदग्ध अन्न ऊपरके मार्गसे (उलटीद्वारा) या नीचेके मार्गमे (दस्तद्वारा) प्रवृत्त होता है। जब नीचेके मार्गसे पक्व या अपक्व (कभी पक्व और कभी अपक्व) रूपमें प्रवृत्त होता है तब उसको **ग्रहणीरोग** कहते हैं। ग्रहणी जब दुष्ट-विकृत होती है तब खाया हुआ अन्न बहुत करके कच्चा ही और कभी पक्का हुआ, पीडाके साथ, दुर्गन्धयुक्त तथा कभी बँधा हुआ तो कभी पतला छोड़ देती है। ग्रहणी रोगवालेको खाया हुआ अन्न प्राय

---

१ "यो हि भुङ्क्ते विधिं हित्वा ग्रहणीदोषजान् गदान्। स लौल्याल्लभते शीघ्रं" (च. चि अ १५)। "ग्रहणीदोषजानिति ग्रहण्याश्रितदोषजान्। एतेन वक्ष्यमाणलक्षणाश्चत्वारो ग्रहणी-विकारा विशेषेण 'ग्रहणीदोष'शब्दवाच्या गृह्यन्ते, तथाऽग्निमान्द्याजीर्णादयश्च ग्रहण्याश्रिता रोगा गृह्यन्ते। अग्निमान्द्याजीर्णादयस्तु यद्यपि ग्रहण्याश्रितत्वेन ग्रहणीरोगा एव, तथाऽपीह ग्रहणीरूपनालीव्यापारवैपरीत्येन ये जायन्ते त एव मुख्य'ग्रहणी'शब्दवाच्याश्चत्वारो रोगाः।" (च. द.)। "दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः। अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः॥ भूयः सदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्।" (सु उ अ ४०)। "दुष्यति विकृतिं याति। ×× । अग्निसादनहेतुभिः अग्निनिर्वापणकारणैः। एतेनातिसारं विनाऽपि ग्रहणी-रोगसंभव उक्तः। निवृत्तेऽपीत्यपिशब्दादनिवृत्तेऽपि। ग्रहणीमिति अग्न्यधिष्ठानम्।" (ड.)। "अतिसारे तु यो नाति यत्नवान् ग्रहणीगदः। तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरत्यर्थसेवितैः॥" (अ. सं नि अ ८)। "अतिसारेषु वर्ज्यवर्जने, सेव्यसेवने च यो नातियत्नवान् भवति तस्य नरस्य ग्रहणीगदः स्यात्। तथाऽन्यस्याप्यनतिसारस्याप्यग्निनाशकरैः सेवितैर्ग्रहणीदोषः स्यादिति संबध्यते।" (इन्दुः)। २ "एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः। सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति॥ पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्। ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः॥" (सु उ अ ४०)।

विदग्ध होता है (कुछ पक्व, कुछ अपक्व रहता है), उसको कभी अच्छे खुलासेसे तो कभी अवरोधके साथ पतला दस्त आता है तथा तृषा, अरुचि, वैरस्य (मुँहका स्वाद बिगड़ना), लालास्राव, आँखोंके सामने अँधेरा दीखना, हाथ पाँवमें शोथ, अस्थि और सन्धियोंमें पीड़ा, वमन, ज्वर, लोहके सदृश गन्धवाली अपचीकी खट्टी और कड़वी डकारें आना (च.) शरीरमें कृशता, खाने-पीनेमें लोलुपता, दाह, खट्टा-कड़ुआ तथा लोहे और धुएँकी-सी गन्धवाला वमन होना (सु.), मूर्च्छा, सिरमें दर्द तथा हृद्रोग-पाण्डुरोग-उदर-और प्लीहवृद्धिकी शंका (वा.) ये लक्षण होते हैं[१]।

ग्रहणीरोगके पूर्वरूप—

तृषा, आलस्य, बलका क्षय-ह्रास, अन्नका विदाह, अन्न देरीसे पचना, शरीर भारी और शिथिल मालूम होना, बिना परिश्रमके थकावट मालूम होना, अरुचि, खाँसी, कानमें आवाज आना, आँतोंमें गुड़-गुड़ाहट, खट्टी डकारें आना, लालास्राव, (मुँहमें पानी आना) मुँहका स्वाद बिगड़ जाना, चक्कर आना, पेट खींचा हुआ सा मालूम होना तथा वमन होना ये ग्रहणी रोगके पूर्वरूप हैं[२]।

वातिक ग्रहणी रोगके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

चरपरे-कड़ुए (तीते)-कसैले-अतिरूक्ष और सयोगादि विरुद्ध पदार्थोंका भोजन, थोड़ा खाना, उपवास, अति चलना, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना तथा अति मैथुन-इन

---

१ "दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा। अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः॥ उच्यते, सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते। अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते॥ तृष्णारोचकवैरस्य-प्रसेक-तमकान्वितः। शूनपाद-करः सास्थि-पर्वरुक् छर्दनं ज्वरः॥ लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गार-श्चास्य जायते॥" (च. चि. अ. १५)। "मन्दाग्निव्यापारमाह—दुर्बल इत्यादि। उक्तविकारेष्व-ध्यायप्रकृतं ग्रहणीदोषविकारं निर्धारयन्नाह—अधस्त्वित्यादि। पक्वमामं वेति 'वा'शब्दः समुच्चये, तेन किञ्चित् पक्वं, किञ्चिदपक्वं च। कुतः पक्वापक्वं सृजतीत्याह-सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते इति, पक्वापक्वं भवति।" (च. द.)। "अथ जाते भवेज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः। पर्वरुग्लौल्य-तृट्छर्दि-ज्वरारोचक-दाहवान्॥ उद्गिरेच्छुक्त-तिक्ताम्ल-लोह-धूमामगन्धिकम्। प्रसेक-मुख-वैरस्यतमकारुचिपीडितः॥" (सु. उ. अ. ४०)। "लौल्यं सर्वरसेषु लोलुपत्वम्। उद्गिरेत् वमेत्। शुक्तं चुक्रम्।" (ड.)। "सामान्यलक्षणं कार्श्यं धूमकस्तमको ज्वरः। मूर्च्छा शिरोरुग्विष्टम्भः श्वयथुः कर-पादयोः॥" (अ. स. नि. अ. ८)। २ "पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः। विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम्॥" (च. चि. अ. १५)। "तस्योत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनालस्य-तृट्-क्लमाः। बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडो-ऽन्त्रकूजनम्॥" (सु. उ. अ. ४०)। "प्राग्रूपं तस्य सदनं चिरात् पचनमम्लकः। प्रसेको वक्त्रवैरस्यमरुचिस्तृट् क्लमो भ्रमः॥ आनद्धोदरता च्छर्दिः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम्॥" (अ. स. नि. अ. ८)।

कारणोंसे वायु प्रकुपित तथा जठराग्निको मन्द करके ग्रहणीरोग उत्पन्न करता है । वातिक ग्रहणीरोगमें अन्न कष्टसे पचना, अन्नका अम्ल पाक होना, शरीरकी त्वचा खर (कर्कश) स्पर्शवाली होना, कण्ठ और मुँह सूखना, झूठी भूख लगना, तृषा, आँखोंके सामने अँधेरा दिखना, कानमें आवाज आना, पार्श्व-जाँघ-वंक्षण और ग्रीवामें पीड़ा होना, विसूचिकाके सदृश उलटी और दस्तसे आम मलकी प्रवृत्ति होना, हृदय (छाती) में पीड़ा, कृशता, दुर्बलता, मुँहका स्वाद बिगड़ जाना, गुदा और पेटमें काटने जैसी पीड़ा, सब रसवाले भोजन खानेकी लोलुपता, मनकी दुर्बलता, अन्न पचन होनेके समयमें या बाद पेटमें अफारा होना, खाने पर कुछ समय अच्छा मालूम होना, रोगीको वातगुल्म-हृद्रोग-पाण्डुरोग-अर्श और प्लीहरोगकी आशंका होना, देरीसे-कष्टके साथ-पतला या सूखा-थोड़ा-कच्चा मल (दस्त) शब्द और फेनके साथ बार-बार आना, खाँसी, श्वास, (च.), गुदा-छाती-पार्श्व-उदर और सिरमें दर्द, विष्ठा मूत्र-नख-नेत्र और चेहरा काला अथवा अरुण वर्ण होना (सु.) तथा तालु सूखना (वा.) ये लक्षण होते हैं[१] ।

पैत्तिक ग्रहणीके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

कटु-चरपरे-अजीर्ण (असम्यक् पक्व अन्न) और विदाही अन्न तथा अम्ल, क्षार, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण आदि पदार्थोंके सेवनसे प्रकुपित (बढा हुआ) पित्त जैसे खूब तपाया हुआ जल गरम होने पर भी अपने द्रवगुणसे अग्निको बुझाता है इस प्रकार अपने द्रव गुणसे जठराग्निको मन्द-विकृत करके ग्रहणी रोग उत्पन्न करता है । पैत्तिक ग्रहणीरोगमें अपक्व, नील तथा पीले रंगके पतले दस्त आते हैं, रोगीका शरीर पीला पड़ जाना, दुर्गन्ध और खट्टी डकारें आना, छाती और कण्ठमें जलन होना, अन्न खाने पर अरुचि, तृषा (च.), गुदा-हृदय-पार्श्व-उदर तथा सिरमें दाह और विष्ठा-मूत्र-नेत्र तथा चेहरा-इनका

---

१ "कटु-तिक्त-कषायातिरूक्ष-सदुष्टभोजनैः । प्रमितानशनात्यध्व-वेगनिग्रह-मैथुनैः ॥ करोति कुपितो मन्दमग्निं सञ्छाद्य मारुतः । तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः । पार्श्वोरुवंक्षण-ग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥ हृत्पीडा-कार्श्य-दौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका । गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च । स वातगुल्म-हृद्रोग-प्लीहाशङ्की च मानवः ॥ चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्द-फेनवत् । पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥" (च. चि. अ. १५) । "वाताच्छूलाधिकैः पायु-हृत्पार्श्वोदर-मस्तकैः । पित्तात् सदाहैर्गुरुभिः कफात्त्रिभ्यस्त्रिलक्षणैः ॥ दोषवर्णैर्नखस्तद्वद्विण्मूत्र-नयनाननैः । हृत्पाण्डूदर-गुल्मार्शः प्लीहाशङ्की च मानवः ॥" (सु. उ. अ ४०) । "तत्रानिलात्तालुशोषस्तिमिरं कर्णयोः स्वनः । पार्श्वोरु-वङ्क्षण-ग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥ रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका । जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यं समश्नुते ॥ वातहृद्रोग-गुल्मार्शः-प्लीह-पाण्डुत्वशङ्कितः । चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्द-फेनवत् ॥ पुनः पुनः सृजेद्वर्चः पायुरुक्-श्वास कासवान् ।" (अ. सं. नि. अ. ८) ।

वर्ण नील-पीत-रक्त या काला होना (सु.) ये लक्षण होते हैं[1]।

श्लैष्मिक ग्रहणीरोगके हेतु संप्राप्ति और लक्षण—

गुरु-अति स्निग्ध-अति शीतल आदि कफवर्धक पदार्थोंका भोजन, अति भोजन, खानेके बाद तुरन्त सो जाना–इन कारणोंसे कफ बढ़ (प्रकुपित हो), जठराग्निको मन्द करके श्लैष्मिक ग्रहणीरोग उत्पन्न करता है। श्लैष्मिक ग्रहणीरोगमें अन्नका कष्टसे देरीसे पचन होना, जी मिचलाना, वमन, अरुचि, मुँहका कफसे लिप्त (लिपा हुआ) सा रहना, मुँहका स्वाद मीठा रहना, खाँसी, वार-वार थूकना, पीनस (जुकाम), छाती जकड़ी सी मालूम होना, पेट निष्क्रिय सा और भारी मालूम होना, मीठी और खराब डकारें आना, स्त्रीगमनमें हर्ष-इच्छा न होना, पतला-आम और कफयुक्त तथा भारी मल आना, शरीर कृश न होने पर भी दुर्बलता मालूम होना, आलस्य (च.), गुदा-छाती-पार्श्व-उदर और शिरमें भारीपन तथा विष्ठा-मूत्र-नेत्र और चेहरेका वर्ण श्वेत-पाण्डु होना (सु.) ये लक्षण होते हैं[2]।

त्रिदोषज ग्रहणीरोगके हेतु और लक्षण—

वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक ग्रहणीरोगके जो भिन्न-भिन्न हेतु और लक्षण कहे गए हैं वे जहाँ एकत्र (एक साथ) पाए जायँ उसको त्रिदोषज (सान्निपातिक) ग्रहणी-रोग जानना चाहिए[3]।

ग्रहणीरोगमें साम और निराम मलके लक्षण—

अतिसारमें जो साम और निराम मलके लक्षण कहे गए हैं उन लक्षणों परसे ग्रहणीरोगमें भी साम और निराम मलकी परीक्षा करें[4]।

---

१ "कट्वजीर्ण-विदाह्यम्ल-क्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥ सोऽजीर्णं नील-पीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्। पूत्यम्लोद्गार-हृत्कण्ठदाहारुचि-तृडर्दितः॥" (च. चि. अ. १५)। "पित्तेन नीलपीताभं पीताभः सृजति द्रवम्। पूत्यम्लोद्गार-हृत्कण्ठ-दाहारुचि-तृडर्दितः॥" (अ. हृ. नि. अ. ८)। २ "गुर्वतिस्निग्ध-शीतादिभोजनादतिभोजनात्। भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥ तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लास-च्छर्द्यरोचकाः। आस्योपदेह-माधुर्य-कास-ष्ठीवन-पीनसाः॥ हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु। दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥ भिन्नामश्लेष्मसंसृष्ट-गुरुवर्चःप्रवर्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके॥" (च. चि. अ. १५)। "श्लेष्मणा पच्यते दुःखमन्नं छर्दिररोचकः। आस्योपदेह-निष्ठीव-कास-हृल्लास-पीनसाः॥ हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु। उद्गारो दुष्ट-मधुरः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥ भिन्नाम-श्लेष्मसंसृष्ट-गुरुवर्चःप्रवर्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्य" (अ. हृ. नि. अ. ८)। ३ "पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतु-लिङ्गसमागमे। त्रिदोषं निर्दिशेत्" (च. चि. अ. १५)। ४ "दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत्।" (मा. नि. अ. ४)।

ग्रहणीरोगके असाध्य लक्षण—

अतिसारके जो असाध्य लक्षण कहे गए हैं उन लक्षणों परसे (उन लक्षणोंको देख कर) ग्रहणीरोगको भी असाध्य जानना चाहिए[1]।

वक्तव्य–ग्रहणीरोग प्राय अतिसार और प्रवाहिकाकी सम्यक् चिकित्सा न होनेसे वे रोग जीर्ण–पुराने होने पर होता है, अत अतिसार और प्रवाहिकाके अनन्तर ग्रहणीरोगका वर्णन किया गया है।

विषम, तीक्ष्ण और मन्द अग्नि भी ग्रहणीविकार है—

चरकके **रोगानीक विमान** नामके विमानस्थानके छठे अध्यायमें (तथा अष्टाङ्गहृदय शारीरस्थानके **अङ्गविभाग शारीर** नामके तीसरे अध्यायमें) **सम, विषम, तीक्ष्ण** और **मन्द** नामके जठराग्नि (पाचकाग्नि) के जो चार प्रकार-भेद कहे गये हैं, उनमें सम अग्निको छोड कर शेष तीनो भेदो (विषम, तीक्ष्ण और मन्द) को हम **ग्रहणीदोष** कहते हैं[2] **(च., वा.)**।

जठराग्निके भेद और उनके लक्षण—

ऊपर **चरक** और **वाग्भटके** मतसे कहा गया है कि समाग्निको छोड कर जठराग्निके जो अन्य तीन भेद (विषम, तीक्ष्ण और मन्द) कहे गये है उनको भी हम **ग्रहणी-दोष** कहते (मानते) हैं, अत ग्रहणीविकारके प्रकरणमे ही उक्त तीनों प्रकारके अग्नियोका वर्णन किया जाता है। जव महास्रोतस् (आम-पक्वाशय) में समान वात, पाचक पित्त और क्लेदक कफ तीनोंकी समानता रहती है (अर्थात् महास्रोतस् किसी भी दोषसे दूपित नही होता है) तव जठराग्नि सम रहता हे। जो अग्नि उचित काल और योग्य मात्रामें खाए हुए पथ्य अन्नका सम्यक् पचन करता है उसको **सम (समाग्नि)** कहते हैं। यदि मिथ्या आहार-विहार न किया जावे तो सम अग्नि प्रकृति (समावस्था)-मे रहता है, परतु मिथ्या आहार-विहारसे विकृत होता है। जव समान वायु विमार्गगामी तथा महास्रोतस् वातसे दूपित होता है (महास्रोतसमें वातकी अधिकता होती है) तव जठराग्नि विषम होता है। विषमाग्निमे कभी अन्नका सम्यक् पचन होता है और कभी पेटका अफारा-भारीपन और दर्द, कभी मलावरोध तो कभी अतिसार, पेटमें गुड़-गुड़ाहट तथा प्रवाहण (कुन्थन-मलविसर्जनके लिए जोर लगाना) ये लक्षण होते हैं और अन्नका सम्यक् पचन नही होता है। जव समान वायु पित्तसे अभिमूर्च्छित-मिश्रित होता है तथा महास्रोतस्में पित्तकी अधिकता होती है तव जठराग्नि तीक्ष्ण होता है। जो अग्नि अधिक मात्रामे, अकालमे तथा पथ्य-अपथ्य चाहे सो खाए हुए आहारको भी पचा

१ लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत्।" (मा नि)। २ "यश्चाग्नि पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विध। त चापि ग्रहणीदोष समवर्ज प्रचक्ष्महे॥" (च चि अ १५)। "विभागेऽङ्गस्य ये चोक्ता विषमाद्यास्त्रयोऽग्नय। तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषा" (अ हृ नि अ. ८)।

देता है उसको **तीक्ष्ण (तीक्ष्णाग्नि)** जानना चाहिए। यह तीक्ष्णाग्नि ही अधिक बढ़ जानेसे **अत्यग्नि (भस्मकाग्नि-भस्मक रोग)** कहलाता है। जिस मनुष्यके शरीरमें कफ क्षीण हुआ है उसके शरीरमें समान वायुसे प्राप्तवल पित्त जब ग्रहणीस्थित अग्नि (पाचकाग्नि) को बल देता है तब वह प्राप्तबल अग्नि रूक्ष शरीरमे वायुके साथ मिल कर अपनी तीक्ष्णताके कारण वार-वार खाए हुए अन्नको भी पचा देता है। अन्नको पचानेके वाद रक्तादि धातुओंको भी पकाता है। इस कारण उस मनुष्यको दुर्वलता, तृषा, श्वास, दाह, मूर्च्छा, गला-तालु और होंठका सूखना, संताप आदि लक्षण तथा मृत्यु तक होती है। जब समान वायु कफदूषित होता है तथा महास्रोतस्में कफकी अधिकता होती है तब जठराग्नि मन्द होता है। जो जठराग्नि यथाविधि, पथ्य और अल्प मात्रामें खाए हुए अन्नको भी पेट और सिरमे भारीपन, खाँसी, मुँहमे पानी आना, वमन और शरीरमे थकावट उत्पन्न करके देरीसे पचाता है उसको **मन्द (मन्दाग्नि)** कहते हैं। विषम अग्निसे वातज, तीक्ष्ण अग्निसे पित्तज तथा मन्द अग्निसे कफज रोग उत्पन्न होते हैं[१]।

---

१ "अग्निषु तु खलु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो वलभेदेन भवति, तद्यथा-तीक्ष्णो, मन्द , समो, विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्नि सर्वापचारसह., तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्द , समस्तु खल्पचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृतावेवावतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इति। त एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र सम-वात-पित्त-श्लेष्मणा प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नय , वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नय , पित्तलाना पित्ताभिभूते ऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नय , श्लेष्मलाना तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नय ।" (च. वि. अ. ६)। "शारीरेष्विति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगतानग्नीन् ग्राहयति । विवरणे तु जठराग्नेरेव 'तीक्ष्णोऽग्नि सर्वापचारसह' इत्यादिना यच्चातुर्विध्यमुक्त तज्जठराग्नितीक्ष्णतादिमूलकमेव धात्वग्न्यादितीक्ष्णत्वादिकमिति ज्ञापयति । × ×। तद्विपरीतलक्षण इति स्वल्पापचारमपि यो न सहते स मन्द इत्यर्थ । समलक्षणविपरीतलक्षण इति कदाचिद्विषमोऽपचारादपि न विक्रियते, कदाचिद्विक्रियते ॥" (च. द.)। "नरे क्षीणकफे पित्त कुपित मारुतानुगम्। स्वोष्मणा पावकस्थाने वलमग्ने प्रयच्छति ॥ तदा लब्धवलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः। परिभूय पचत्यन्नंतैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहु ॥ पक्त्वाऽन्न स ततो धातूञ्छोणितादीन् पचत्यपि । ततो दौर्वल्यमातङ्कान्मृत्यु चोपनयेन्नरम् ॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्ति जीर्णमात्रे प्रताम्यति । तृट्-श्वास-दाह-मूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसभवा ॥" (च चि. अ १५)। "प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचक । स चतुर्विधो भवति–दोषानभिपन्न एक , विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति–विषमो वातेन, तीक्ष्ण पित्तेन, मन्द. श्लेष्मणा, चतुर्थ. समः सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमन्नमुपयुक्त सम्यक् पचति स समः समैर्दोषै , य कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मान-शूलोदावर्तातिसार-जठरगौरवान्त्रकूजन-प्रवाहणानि कृत्वा स विषम , य प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्ण , स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतर

अजीर्णाधिकार ।

अजीर्णके भेद—

जिस व्याधिमे खाये हुए आहारका ठीक परिपाक नहीं होता है उस व्याधिको **अजीर्ण** कहते हैं। दोपभेदसे अजीर्णके **आम (आमाजीर्ण)**, **विदग्ध (विदग्धाजीर्ण)** और **विष्टब्ध (विष्टब्धाजीर्ण)** ये तीन भेद होते हैं। कफकी अधिकता (कफके प्रकोप) से **आमाजीर्ण**, पित्तकी अधिकतासे **विदग्धाजीर्ण** और वातकी अधिकतासे **विष्टब्धाजीर्ण** होता है। **सुश्रुतने** एकीय मतसे चौथा **रसशेपाजीर्ण** लिखा है (आहार जीर्ण होने पर भी कभी-कभी आहारसे साररूपमें उत्पन्न रसका शेपभाग (कुछ अश) कुछ समयके लिए अजीर्ण (अपरिपक्व) रह जाता है, उसको **रसशेपाजीर्ण** कहते हैं)[1]।

अजीर्णके सामान्य हेतु—

अभोजन (उपवास), अपक्व (असम्यक् पक्व) आहारका भोजन, अतिभोजन, विषम भोजन (वहुत, अल्प या अकालमे भोजन), असात्म्य (प्रकृति-देश-काल आदिके प्रतिकूल)-गुरु-शीत-अतिरूक्ष तथा सयोग-मात्रा आदिसे विरुद्ध पदार्थोंका भोजन, वमन-विरेचन तथा स्नेहन कर्मकी व्यापत्ति (अयोग, मिथ्यायोग या अतियोग), ज्वर आदि व्याधि दीर्घ काल चलना, देश-जल और ऋतुओंका वैपम्य, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना, अति जल (आदि द्रव पदार्थ) पीना, दिनमें सोना, रात्रिमें जागना, दु ख देनेवाली शय्या-इन शारीरिक तथा ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, शोक, दैन्य (लाचारी-निर्गतित्व), द्वेष, चिन्ता आदि मानसिक कारणोंसे योग्य कालमें, सात्म्य तथा लघु (हलका) भी खाया हुआ अन्न ठीक पचता नहीं हैं। वह अपक्व अन्न सिरके-शुक्तके सदृश अम्ल होकर विषरूप हो जाता है[2]।

पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोष-दाह-सतापाञ्जनयति, यस्तु स्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरव-कास-श्वास-प्रसेक-च्छर्दि-गात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्द । विपमो वातजान् रोगान् तीक्ष्ण पित्तनिमित्तजान् । करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसभवान् ॥" (सु सू अ ३५)। "सम समाने स्थानस्थे विषमोऽग्निर्विमार्गगे । पित्ताभिमूर्च्छिते तीक्ष्णो मन्दोऽस्मिन् कफपीडिते ॥ समोऽग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चैव चतुर्विध. । य पचेत् सम्यगेवान्न भुक्त सम्यक् समस्त्वसौ ॥ विषमोऽसम्यगप्याशु सम्यग्वाऽपि चिरात् पचेत् । तीक्ष्णो वह्नि पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम् ॥ मन्दस्तु सम्यगप्यन्नमुपयुक्त चिरात् पचेत् । कृत्वाऽऽस्यशोषाटोपान्त्रकूजनाध्मान-गौरवम् ॥" (अ हृ शा अ. ३)।

१ "आम विदग्ध विष्टब्ध कफ-पित्तानिलैस्त्रिभि· । अजीर्णं, केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषत. ॥" (सु सू अ ४६)। "आहारस्यैव पक्वस्योर्वरितो रसो रसशेष । तस्मादल्पदोषदूषितत्वान्न तस्य दोषव्यपदेशो भवति ।" (ड)। "जीर्णेऽप्याहारे कदाचिदाहारसारो रसोऽजीर्ण. स्यात् ।" (अ द)। २ "अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् । असात्म्यगुरु शीतातिरूक्ष-सदुष्टभोजनात् ॥ विरेक-वमन-स्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् । देशोदकर्तु-

वक्तव्य—चरकके वर्तमान समयमें उपलब्ध पुस्तकोंमें 'देश-कालर्तुवैषम्यात्' यह पाठ मिलता है। परन्तु कालका 'ऋतु' शब्दसे ग्रहण हो जाता है और अजीर्णका प्रधान कारण व्यापन्न उदक-जल रह जाता है, अत मूलके पाठमें 'देशोदकर्तुवैषम्यात्' यह पाठ होना चाहिए यह मान कर पाठमें ऐसा परिवर्तन और तदनुसार अर्थ किया है। व्यापन्न देश, काल और जलका वर्णन चरक-विमानस्थानके **जनपदोध्वंसनीय** नामक तिसरे अध्यायमें देखें

अजीर्णके सामान्य लक्षण—

मलका विबन्ध (दस्त साफ न आना) या मलकी अतिप्रवृत्ति, शरीरकी ग्लानि (अवसाद), अधोवात और डकार न आना (वायुका रुकना), पेटमें गुडगुडाहट और अफारा, शरीरका भारीपन, चक्कर आना, सिरमें पीडा, मूर्च्छा, पृष्ठ और कमरका जकडना, जंभाई आना, अंगोंमें पीडा, तृषा, ज्वर, वमन, प्रवाहण (दस्त लानेके लिए जोर करना), अन्न पर अरुचि और अन्न पचन न होना—ये अजीर्णके सामान्य लक्षण हैं। जब अजीर्णसे उत्पन्न अन्नविष पित्तके साथ मिलता है तब दाह, तृषा, मुखपाक, अम्लपित्त तथा पैत्तिक रोगोंको, जब कफके साथ मिलता है तब राजयक्ष्मा, पीनस (जुकाम), प्रमेह आदि कफ रोगोंको, जब वातसे संसृष्ट होता है तब बहुतसे वात-रोगोंको, जब मूत्रके साथ मिलता है तब मूत्र रोगोंको, जब मल-विष्ठाके साथ संयुक्त होता है तब कुक्षि-पेटके रोगोंको तथा जब रस-रक्त आदि धातुओंके साथ मिलता है तब रस-रक्त आदि धातुगत रोगोंको उत्पन्न करता है[1]।

वैषम्याद्वेगाना च विधारणात् ॥ दुष्यत्यग्नि, स दुष्टोऽन्न न तत् पचति लघ्वपि। अपच्यमान शुक्तत्व यात्यन्न विषरूपताम् ॥" (च चि अ १५)। "विरेकादिविभ्रमोऽसम्यग्योग ।" (ग.)। देशवैषम्य देशव्यापत्। सा च जनपदोद्ध्वसनीये प्रोक्ता।" (च. द)। "अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च। कालेऽपि सात्म्य लघु चापि भुक्तमन्न न पाक भजते नरस्य ॥ चिन्ता-भय-क्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्न न सम्यक् परिणाममेति ॥" (सु सू अ. ४६)। "मात्रयाऽप्यभ्यवहृत पथ्य चान्न न जीर्यति। चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दु.खशय्या-प्रजागरै ॥" (च वि अ २)।

१ "तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भ सदन तथा। शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रम पृष्ठ-कटि-ग्रह ॥ जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दि प्रवाहणम्। अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्नविष च तत् ॥ ससृज्यमान पित्तेन दाह तृष्णा मुखामयान्। जनयत्यम्लपित्त च पित्तजाश्चापरान् गदान् ॥ यक्ष्म-पीनस-मेहादीन् कफजान् कफसगतम्। करोति वातससृष्ट वातजांश्च गदान् बहून् ॥ मूत्ररोगाश्च मूत्रस्थ, कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च ससृष्ट कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥" (च चि अ १५)। "यक्ष्मणस्त्रिदोषजत्वेऽपि स्रोतोवरोधे कफप्राधान्यादिह कफजत्वमुक्तम् ॥" (च द)। "विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता। अजीर्णलिङ्ग सामान्य विष्टम्भो गौरव भ्रम ॥" (अ. हृ. सू. अ. ८)।

आमाजीर्णके लक्षण—

कफके प्रकोपसे आमाजीर्ण होता है। आमाजीर्णमें अक्षिकूट (आँखकी पलक) और गालकी सूजन, तुरन्त खाया हुआ हो ऐसी अविदग्ध और मधुर डकारें आना, मुँहमें पानी आना, जी मिचलाना और शरीरका भारीपन—ये लक्षण होते हैं[१]।

विदग्धाजीर्णके लक्षण—

पित्तके प्रकोपसे विदग्धाजीर्ण होता है। जिसके आमाशय और पच्यमानाशयमें पित्तकी अधिकता होती है उसको खाया हुआ विदाहि या अविदाहि अन्न विदग्ध-अम्ल-पाक होता है। विदग्धाजीर्णमें तृषा, मूर्च्छा, चक्कर आना, खट्टी और भीतरसे धुआँ उठता हो ऐसी डकारें आना, पेट और छातीमें जलन, पसीना आना तथा अन्य पित्तज व्याधियाँ होती हैं[२]।

विष्टब्धाजीर्णके लक्षण—

वातके प्रकोपसे विष्टब्धाजीर्ण होता है। विष्टब्धाजीर्णमें पेटमें दर्द, मल और अधोवातकी अप्रवृत्ति (रुकावट), पेटका अफारा, स्तम्भ (पेट जकड़ा सा मालूम होना), इन्द्रियोंका मोह, अगोंमें पीड़ा तथा तोद-भेदादि अन्य वात वेदनाएँ होती हैं।

रसशेषाजीर्णके लक्षण—

रसशेषाजीर्णमें डकार शुद्ध आनेपर भी अन्न खानेकी इच्छा नहीं होती, छातीमें पीड़ा और भारीपन मालूम होता है तथा मुँहसे पानी आता है[३]।

---

१ "अजीर्णं च कफादाम तत्र शोथोऽक्षिकूटयो.। सद्योभुक्त इवोद्गार· प्रसेकोत्क्लेश-गौरवम् ॥" (अ हृ सू अ ८)। "सद्योभुक्तवदप्राप्तविदाहावस्थ उद्गार.।" (अ. द.)। "माधुर्यमन्न गतमापसन्न" (सु सू अ ४६)। २ "स्रोतस्यन्नवहे पित्त पक्तौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यत्र विदह्यते ॥" (सु सू. अ. ४६)। "स्रोतस्यन्नवहे आमाशये ।" (ड)। "पित्ताद्विदग्ध तृण्मोह-भ्रमाम्लोद्गारदाहकृ(व)त्।" (अ. हृ. सू. अ. ८)। "विदग्धसञ्ज्ञ गतमम्लभावम्। किञ्चिद्विपक" (सु सू अ ४६)। "विदग्धे भ्रम-तृण्मूर्च्छा पित्ताच्च विविधा रुज.। उद्गारश्च सधूमाम्ल. स्वेदो दाहश्च जायते ॥" (मा. नि. अ ६)। "भृशतोद-शूल विष्टब्धमान(व)द्धविरुद्धवातम् ॥" (सु सू. अ. ४६)। "वैगुण्यादध प्रतिबद्ध प्रतिलोमेन प्रवृत्तश्च वातोऽत्रेति आबद्धविरुद्धवातम् ।" (हा)। "विष्टब्धमनिलाच्छूल-विबन्धाध्मान-सादकृत्।" (अ. हृ. सू. अ. ८)। "विष्टब्धे शूलमाध्मान विविधा वातवेदना। मल-वाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥" (मा. नि. अ ६)। ३ "उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य। रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥" (सु सू. अ. ४६)। "अश्रद्धा हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषत: ।" (अ. हृ सू अ. ८)। "अश्रद्धा अन्नानभिलाष.। हृद्व्यथा हृदयस्य शूल गौरव च।" (अ द.)।

अजीर्णके उपद्रव—

अजीर्णसे मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, अवसाद और चक्कर आना ये उपद्रव होते हैं तथा अति बढ़ने पर विसूचिका आदि रोग होकर मरण भी होता है[१]।

आमप्रदोष-आमविषके कारण और लक्षण—

कुशल वैद्य अतिमात्र (प्रमाणसे अधिक) भोजनको सर्व दोषोंके प्रकोपका कारण मानते हैं। जो मनुष्य मूर्त (द्रव नहीं ऐसे) आहारोंसे तृप्त होकर (खूब खाकर) ऊपरसे द्रव पदार्थ (दूध-मांसरस-यूष आदि) खूब पीता है उसके आमाशयमें अति-मात्र आहारसे प्रपीडित तीनों दोषोंका एक साथ प्रकोप होता है। इस प्रकार प्रकुपित तीनों दोष उस-आम आहारसे मिलकर जब विष्टब्ध-अवरुद्ध होते हैं तब **अलसक** (या **विलम्बिका**) और जब ऊपर तथा नीचेके मार्गसे प्रवृत्त होते हैं तब **विसूचिका** और इन (वक्ष्यमाण) विकारोंको (लक्षणोंको) उत्पन्न करते है, यथा-प्रकुपित वात शूल, आनाह, अंगोंकी पीडा, मुँह सूखना, मूर्च्छा, चक्कर आना, जठराग्निकी विषमता, पार्श्व-पृष्ठ और कमरका दर्द तथा सिराओंका सकोच और स्तम्भन ये लक्षण उत्पन्न करता है, प्रकुपित पित्त ज्वर, अतिसार, शरीरके भीतर दाह, तृषा, नशा चढ़ा सा रहना, चक्कर आना तथा प्रलाप ये लक्षण उत्पन्न करता है, और प्रकुपित कफ वमन, अरुचि, पचन न होना, शीतज्वर, आलस्य तथा शरीरका भारीपन ये लक्षण उत्पन्न करता है। केवल अति मात्र आहारसे ही आम दोष होता है ऐसा नहीं है परन्तु गुरु-रूक्ष-शीत-शुष्क-अप्रिय-विष्टम्भि-विदाहि-अशुचि(मलिन) और विरुद्ध द्रव्योंका भोजन तथा अकाल भोजन (भूख न लगने पर भी खाना) इन शारीरिक तथा काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-लज्जा-शोक-घमण्ड-उद्वेग और भय इनसे मन सतप्त होने पर खाना-इन मानसिक कारणोंसे **आमदोष** होता है। सयोग-मात्रा आदिसे विरुद्ध पदार्थोंका भोजन, एक वार खाया हुआ अन्न पचन न होने पर दूसरा अन्न खालेना तथा अपक्व (अवकच्चा-पका) अन्न खाना इन कारणोंसे जो आमदोष होता है, वह विषके समान आशुकारी (तुरन्त विकार उत्पन्न करनेवाला) और विरुद्धोपक्रम (आममें उष्णोपचार करना होता है वह विषको बढाता है और विषमें शीतोपचार करना होता है वह आमको बढाता है) होनेसे उसको **आमविष** कहते हैं, वह परम कष्टसाध्य होता है[२]।

---

१ "मूर्च्छा प्रलापो वमथु प्रसेक सदन तथा। उपद्रवा भवन्त्येते मरण चाप्यजीर्णत ॥" (सु सू अ ४६)। २ "अतिमात्र पुन सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशला । यो हि मूर्तानामाहारजाताना सौहित्य गत्वा द्रवैस्तृप्तिं गच्छति भूयस्तस्यामाशयगता वात-पित्त-श्लेष्माणोऽत्यभ्य-वहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमाना सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते । ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरि-णतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमाश्रिता विष्टम्भयन्त सहसा वाऽप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्या प्रच्यावयन्त. पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तु । तत्र वात शूलानाहाङ्गमर्द-मुखशोष-मूर्च्छा-

आमप्रदोषसे होनेवाले विकार—

आमप्रदोषसे **विसूचिका** और **अलसक** ये व्याधि होते हैं (च), आम, विदग्ध और विष्टब्ध ये तीन प्रकारके जो अजीर्ण कहे गये हैं (उनके बढ़ने पर) उनसे **विसूचिका, अलसक** और **विलम्बिका** ये तीन रोग होते हैं (सु.)[1]।

विसूचिकाके लक्षण—

जिस व्याधिमे वमन द्वारा ऊपरसे और विरेचन द्वारा नीचेसे आम मलकी प्रवृत्ति हो तथा मूर्च्छा, तृषा, पेटमे शूल, चक्कर आना, उद्वेष्टन (पिण्डलियोंमे रस्सी बाँधने जैसी पीडा), उवासी, दाह, शरीरका वर्ण बदलना (श्याव होना), कम्प, छातीमें पीडा, सिरमे फटनेकी सी पीडा तथा वातादि दोषोके अति प्रकोपसे अगोंमे सूईसे वींधनेकी सी पीडा हो उसको **विसूचिका** कहते है । विसूचिकामे वातसे पेटमे शूल, चक्कर आना, आनाह, कम्प, स्तम्भ आदि, पित्तसे ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, तृषा, मूर्च्छा आदि, तथा कफसे उलटी, शरीरका भारीपन, बोलनेमे स्खलन और बार-बार थूकना ये लक्षण होते है । भोजन सबन्धी नियमोंको जानने वाले और परिमित आहार करने वाले मनुष्योंको विसूचिका नही होती है, किन्तु भोजन सबन्धी नियमोंको न जानने वाले, अजितेन्द्रिय (जिनकी जीभ वशमे नही है) और जो खानेके लालची हैं उन लोगोको विसूचिका होती है । निद्रानाश, बेचैनी, कंप, मूत्राघात-पेशाब न आना और बेहोशी ये पॉच दारुण उपद्रव विसूचिकामे होते है[2] ।

भ्रमाग्निवैषम्य-पार्श्वपृष्ठकटिग्रह-सिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति, पित्त पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाह-तृष्णा-मद-भ्रम-प्रलपनानि, श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाक-शीतज्वरालस्य-गात्रगौरवाणि । न च खलु केवल-मतिमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरु-रूक्ष-शीत-शुष्क-द्विष्ट-विष्टम्भि-विदाह्यशुचि-विरुद्धानामकाले चान्न-पानानामुपसेवन, काम-क्रोध-लोभ-मोहेर्ष्या-ह्री-शोक-मानोद्वेग-भयोपतप्तमनसा वा यदन्न-पानमुपभुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति । विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिन पुनरामदोषम् 'आमविषम्' इत्याचक्षते भिषज , तत् पुनरसाध्यम्, आशुकारित्वाद्विरुद्धोप-क्रमत्वाच्चेति ।" (च. वि. अ २) । "अजीर्णस्यापक्वस्याशनमजीर्णाशनम्, अजीर्णे भोजन-स्याध्यशनशब्देन लब्धत्वात् । आमदोषमामविषमित्याचक्षत इत्यत्र विषसदृशलिङ्ग एवामप्रदोषो-ऽभिप्रेत । × । विरुद्धोपक्रमत्वादिति आमापेक्षया यदुष्ण क्रियते तद्विषविरुद्ध, यच्च विषापेक्षया शीत क्रियते तदामविरुद्धम् ।" (च द) । "विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम् । आमदोष महाघोर वर्जयेद्विषलक्षणम् ॥ विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वत ॥" (अ. हृ. सू अ ८) ।

१ "त द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषज —विसूचिकामलसक च ।" (च चि अ २) । "अजीर्णमाम विष्टब्ध विदग्ध च यदीरितम् । विसूच्यलसको तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥" (सु उ अ ५६) । २ "तत्र विसूचिकामूर्ध्वाधश्च प्रवृत्तामदोषा यथोक्तरूपा विद्यात् ।" (च वि. अ २) । "सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिल. । यस्याजीर्णेन सा वैद्यैरुच्यते

विसूचिकाके असाध्य लक्षण—

जिसके दॉत-ओंठ और नख श्याम-काले पड गये हों, सज्ञा-चेतना अल्प हो गई हो, नेत्र भीतर घुस गये हो, स्वर क्षीण हो गया (बैठ गया) हो, सब सन्धियां शिथिल (निश्चेष्ट सीं) हो गई हों तथा जो वमनसे अति पीडित हो वह विसूचिकावाला असाध्य होता है[1]।

अलसकके लक्षण—

दुर्बल, मन्दाग्नि और जिसके महास्रोतसमें कफ अधिक है ऐसा मनुष्य जब मल-मूत्र और वातके वेगोंको रोकता है तथा स्थिर (कठिन) गुरु-बहुत-रुक्ष-शीत और शुष्क अन्नका सेवन करता है तब वह अन्न प्रकुपित वातसे पीडित और कफसे अवरुद्धमार्ग होनेसे आमाशयमें आलसी मनुष्य जैसा निष्क्रिय होकर पडा रहता है वैसा वमन द्वारा ऊपरके मार्गसे या दस्तद्वारा नीचेके मार्गसे बाहर नहीं निकलता है और पचन-हजम भी नहीं होता है। इस व्याधिमें वमन और अतिसार छोड कर अन्य सब आम-प्रदोषके लक्षण अतिप्रमाणमें होते हैं। पेटका अति आध्मान, ऑखोंके सामने अँधेरा दीखना, कण्ठसे अव्यक्त शब्द निकलना, पेटमें रुके हुए वायुका सर्वत्र फिरना, अधोवात और डकारकी रुकावट तथा प्यास अधिक लगना ये लक्षण अलसकमें होते हैं। प्रदुष्ट आमसे अवरुद्धमार्ग दोष शरीरमें तिर्यक् गति करते हुए समग्र शरीरको दण्डके सदृश स्तब्ध करते हैं, उस व्याधिको (अलसककी उस अवस्थाको) **दण्डालसक** कहते हैं। दण्डालसक असाध्य होता है[2]।

तु विसूचिका॥ न ता परिमिताहारा लभन्ते विदितागमा। मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशन-लोलुपा॥ मूर्च्छातिसारौ वमथु पिपासा शूल भ्रमोद्वेष्टन-जृम्भ-दाहा। वैवर्ण्य-कम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्या शिरसश्च भेद॥" (सु उ अ ५६)। "विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृश-कोपत। सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका॥ तत्र शूल-भ्रमानाह कम्प स्तम्भादयो-ऽनिलात्। पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाह-तृट्-प्रलयादय॥ कफाच्छर्द्यङ्गगुरुता-वाक्सङ्ग-ष्ठीवनादय।" (अ हृ सू अ ८)। "प्रलयो मूर्च्छा। वाक्सङ्गो वाच स्खलनम्।" (हे)। "निद्रा-नाशोऽरति कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता। अमी उपद्रवा घोरा विसूच्या पञ्च दारुणा॥" (मा नि अ ६)।

१ "य श्यावदन्तौष्ठ-नखोऽल्पसंज्ञश्छर्द्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्र। क्षामस्वर सर्वविमुक्त-सन्धिर्यायान्नर सोऽपुनरागमाय॥" (सु उ अ ५६)। २ "अलसकमुपदेक्ष्याम — दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वात-मूत्र-पुरीषवेगविधारिण स्थिर-गुरु-बहु-रूक्ष-शुष्कान्नसेविनस्तदन्न-पानमनिलप्रपीडित श्लेष्मणा च विबद्धमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति। ततश्छर्द्यती-सारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषा प्रदुष्टामबद्धमार्गा-स्तिर्यग्गच्छन्त कदाचिदेव केवलमस्य शरीर दण्डवत् स्तम्भयन्ति। अतस्तमलसकमसाध्य ब्रुवते।" (च. वि. अ २)। "कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति। निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षावुपरि

विलम्बिकाके लक्षण—

जिस व्याधिमें प्रकुपित कफ और वातसे अवरुद्ध अपक्व अन्न ऊपर या नीचेके मार्गसे प्रवृत्त नही होता है उसको **विलम्बिका** कहते हैं । विलम्बिका रोग अति कष्ट-साध्य होता है[1] ।

वक्तव्य—अलसक और विलम्बिकाके लक्षणोमें खास अन्तर नही है इसलिए चरकने **विलम्बिका** नामका रोग नही लिखा है। विजयरक्षित कहते हैं कि-अलसकमें तीव्र शूल आदि लक्षण होते हैं और विलम्बिकामें ये नही होते, यह दोनोंमें अन्तर है ।

शरीरके अन्य अवयवोंमें आमका कार्य—

शरीरके जिस अवयवमे आम (अपक्व मल या अपक्व अन्नरस) रहता है उस अवयवमें आमके लक्षण तथा शरीरमें जिस दोषकी अधिकता हो उसके लक्षण देखनेमें आते हैं। (आम रस और साम दोषोंके लक्षण इसी ग्रन्थके पूर्वार्धमें पृ ६७,६८ पर देखें[2])।

आनाहाधिकार ।

आनाहकी संप्राप्ति—

जिस व्याधिमे आमाशयमें आम (अपक्व अन्नरस) का अथवा पक्वाशयमें विष्ठा-मलका

धावति ॥ वात-वर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृश भवेत् । तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारावरोधकौ” (सु. उ. अ ५६) । “विशेषाद्दुर्बलस्याल्पवह्नेर्वेगविधारिण । पीडित मारुतेनान्न श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ॥ अलसं क्षोभित दोषै शल्यत्वेनैव सस्थितम् । शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसार-वर्जितान् ॥ सोऽलसोऽत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखा. । यान्तस्तिर्यक् तनु सर्वां दण्डवत् स्तम्भ-यन्ति चेत् । दण्डकालसकं नाम त त्यजेदाशुकारिणम् ॥” (अ. हृ. सू. अ. ८) । “प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक. स्मृतः ॥” (मधु-कोशव्याख्यायां तन्त्रान्तरवचनम् ।)।

१ “दुष्ट तु भुक्त कफमारुताभ्या प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य । विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्या-माचक्षते शास्त्रविद पुराणा ॥” (सु. उ अ ५६)। “ननु अलसक-विलम्बिकयोरुभयोरपि वात-कफप्रवलयोरूर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यत्वात् को भेद ? उच्यते-अलसके तीव्रा शूलादयो भवन्ति ।” (वि र.)। २ “यत्रस्थमाम विरुजेत्तमेव देश विशेषेण विकारजातै । दोषेण येनावततं शरीर तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥” (सु. उ अ ५६)। “आममसम्यक्परिणत, तथा च “अविपक्वमसयुक्त (?) दुर्गन्ध बहु पिच्छिलम् । सादन सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते ॥” इति। यत् आम कर्तृ, यत्रस्थ वायुप्रेरणाकर्षणस्य वैगुण्यायत्र व्यवस्थित तमेव देश विशेषेण रुजेत् पीडयेत् । एतावता धातु-भूताग्नीना मान्द्यत्वेनामसभवात् शोष-व्रण-विद्रध्यादिरोगाणां तज्जन्यमुक्त भवति। ××× । यत्र धातुप्रदेशे वह्निर्मन्दो भवति तत्रैवामसंभवात् पिडका-द्युत्पत्ति. स्यात्।” (आ. द.)।

क्रमसे संचय होता है तथा अपान वायुके वैगुण्यसे उसकी यथोचित प्रवृत्ति नहीं होती है उस व्याधिको **आनाह** कहते हैं[१]।

आमज आनाहके लक्षण—

आमज आनाहमें तृषा, जुकाम, सिरमें जलन, आमाशयमें शूल और भारीपन, छाती जकड़ी सी मालूम होना तथा डकार रुकना ये लक्षण होते हैं[२]।

पुरीषज आनाहके लक्षण—

पक्वाशयज (पुरीषज) आनाहमें पृष्ठ-पीठ और कमर अकड़ जाना, मल और मूत्रका अवरोध, पेटमें शूल, मूर्च्छा, मलका वमन, श्वास तथा अलसकमें कहे हुए लक्षण होते हैं[३]।

छर्द्यधिकार।

छर्दि (उल्टीके) भेद—

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज (त्रिदोषज) तथा द्विष्टार्थसंयोगज (द्विष्ट-मनको अप्रिय, अर्थ-विषयोंके संयोगसे होनेवाली-आगन्तुज) इस प्रकार छर्दि पाँच प्रकारकी होती है। **छर्दि, वमि, वमन** ये पर्याय शब्द हैं[४]।

छर्दिके हेतु—

अति द्रव-अति स्निग्ध-मनको अप्रिय (अहृद्य) और अति लवण पदार्थोंका भोजन, अकालमें भोजन, अतिमात्र भोजन, असात्म्य पदार्थोंका भोजन, अति श्रम, क्षय, उद्वेग (भय या घबराहट), अजीर्ण, कृमिदोष (पेटमें कृमि होना), स्त्रियोंको गर्भ रहना, अति शीघ्र भोजन करना और वीभत्स (घृणाजनक) कारणोंसे छर्दि-उलटी होती है[५]।

'छर्दि' शब्दकी निरुक्ति—

जिस व्याधिमें ऊपर कहे हुए हेतुओंसे प्रकुपित दोष मुखको छादन करता (भर

---

१ "आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥" (सु. उ. अ. ५६)। "आमं अपक्वान्नरसं, शकृत् पुरीषं, निचितं वृद्धिं गतं, विबद्धम् अवरुद्धम्, विगुणानिलेन उन्मार्गवायुना, न प्रवर्तमानमिति नाधःप्रवर्तमानं, यथास्वं यथामार्गम्; एवमामं शकृद्वा निचितं विगुणानिलेन विबद्धं सत् स्वमार्गेणाप्रवर्तमानमानाहं विकारमुदाहरन्तीति पिण्डार्थः।" (ड.)। २ "तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णा-प्रतिश्याय-शिरोविदाहाः। आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥" (सु. उ. अ. ५६)। ३ "स्तम्भः कटी-पृष्ठ-पुरीष-मूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा च शकृद्वमिश्च ॥ श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति लिङ्गानि चात्रालसकोद्भवानि ॥" (सु. उ. अ. ५६)। ४ "दोषैः पृथक् त्रिप्रभवा चतुर्थी द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् ॥" (च. चि. अ. २०)। ५ "अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति। अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ श्रमात् क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णात् कृमिदोषतः। नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैश्छर्देर्वै संभवो ध्रुवम् ॥" (सु. उ. अ. ४९)।

देता) तथा अंगोंका अर्दन (अंगोंमें पीड़ा) करता हुआ वेगसे मुँहसे बाहर आता है, उसको छर्दि कहते हैं। 'छद' आवरणे और 'अर्द' हिंसायां, इन दो धातुओंसे छर्दि शब्द बनता है[1]।

छर्दिकी सम्प्राप्ति—

विरुद्ध आहार आदिके सेवनसे दुष्ट-प्रकुपित दोषोंको व्यानयुक्त उदान वायु ऊपरके मार्गसे (मुखसे) बाहर निकालता है, तब छर्दि रोग उत्पन्न होता है[2]।

छर्दिके पूर्वरूप—

मुहमें पानी आना, जी मिचलाना, मुँहका स्वाद लवण (नमकीन) होना तथा अन्न खानेकी इच्छा न होना—ये छर्दिके पूर्वरूप हैं[3]।

वातज छर्दिका निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—

व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, शोक, रोग, भय, उपवास आदिसे कर्शित (अति पीड़ित) हुए मनुष्यके महास्रोतसमें चला हुआ वायु आमाशयस्थ दोषोंको उत्क्लिष्ट कर, हृदयादि मर्मोंको पीड़ा करता और ऊपरके मार्गसे मुखद्वारा बाहर निकालता हुआ छर्दि उत्पन्न करता है। वातज छर्दिमें हृदय और पार्श्वमें पीड़ा, मुँह सूखना, शिर और नाभिमें पीड़ा, खाँसी, स्वरभेद, सूई चुभनेकी सी वेदना और प्रबल उद्गार शब्दके साथ विच्छिन्न (टूटा हुआ सा), काले रंगका, पतला तथा कसैला, बड़े वेगके साथ कष्टसे थोड़ा-थोड़ा फेनयुक्त वमन होता है। वातज छर्दिमें रोगीको बिना परिश्रमके भी थकावट मालूम होती है[4] और अन्न जीर्ण होनेपर वमनका वेग अधिक होता है।

---

१ "छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः । निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ('वक्त्रं प्रधावितः' इति पा०) ॥" (सु. उ. अ. ४९)। "वेगेन कृत्वा मुखं पूरयन्, अङ्गव्यथाभिश्च पीडयन्, वक्त्रान्निर्गच्छन् दोषश्छर्दिरिति निरुच्यत इति सम्बन्धः ।" (डल्हण)। २ "दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसंगतः । ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेविनाम् ॥" (सु. उ. अ. ४९)। ३ "प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम् । पूर्वरूपं मतं छर्द्याः" (सु. उ. अ. ४९)। "तासां हृदुत्क्लेश-कफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ।" (च. चि. अ. २०)। "तासूत्क्लेशास्यलावण्य-प्रसेकारुचयोऽग्रजाः ।" (अ. सं. नि. अ. ५)।
४ "व्यायाम-तीक्ष्णौषध-शोक-रोग-भयोपवासाद्यतिकर्शितस्य । वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् ॥ आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयञ्छर्दिमुदीरयेत्तु । हृत्पार्श्वपीडा-मुखशोष-मूर्धनाभ्यार्ति-कास-स्वरभेद-तोदैः ॥ उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्न-कृष्णं तनुकं कषायम् । कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥" (च. चि. अ. २०)। "प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः । श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥" (सु. उ. अ. ४९)। "नाभिं पृष्ठं रुजन् वायुः पार्श्वे चाहारमुत्क्षिपेत् । ततो विच्छिन्नमल्पाल्पं कषायं फेनिलं वमेत् ॥ शब्दोद्गारयुतं कृष्णमच्छं कृच्छ्रेण वेगवत् । कासास्यशोष-हृन्मूर्धस्वरपीडा-क्लमान्वितः ॥ (अ. सं. नि. अ. ५)।

पैत्तिक छर्दिके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

अपरिपक्व अन्न-कडुए (चरपरे)-विदाही और गरम पदार्थोंके भोजनसे पित्त प्रकुपित तथा रसायनियों (स्रोतों) द्वारा फैल, हृदयादि मर्मोंको पीडित करता और ऊपर आकर वमन कराता है। पैत्तिक वमनमें मूर्च्छा, तृषा, मुँह सूखना, सिर तालु और नेत्रमें संताप-जलन, अँधेरा दीखना, मूर्च्छा, चक्कर आना, चूषण सदृश वेदना और ज्वर इन लक्षणोंके साथ पीले या हरे रंगका, क्षारके जल जैसा, अति उष्ण स्पर्शवाला, रक्तमिश्रित, अम्ल-चरपरे तथा तीते स्वादवाला और धुएँके सदृश वर्णवाला दाहके साथ वमन होता है।[1]

कफज छर्दिके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

स्निग्ध-अति-गुरु-अपक्व और विदाही अन्नका भोजन, दिनमें सोना आदि हेतुओंसे कफ अति बढ-प्रकुपित हो कर छाती, सिर, हृदयादि मर्म और रसायनियोंको आवृत करके वमन करता है। कफज छर्दिमें तन्द्रा, मुँहका मीठापन, चेहरेकी सूजन, मुँहसे वार-वार कफका थूकना, पेट भरा हुआ सा मालूम होना, नींद अधिक आना, अन्न पर अरुचि, शरीरका भारीपन, रोमहर्ष, जी मिचलाना और अवसाद इन लक्षणोंके साथ स्निग्ध, गाढा-सान्द्र, मधुर रसवाला, प्रमाणमें अधिक, श्वेत वर्णका और कफयुक्त (कफतन्तुके जालेवाला) वमन होता है। कफज छर्दिमें उलटी होते समय पीड़ा कम होती है।[2]

त्रिदोषज छर्दिके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

पथ्य-अपथ्य सब रसोंका एक साथ सेवन करना, आमप्रदोष और ऋतुविपर्ययसे तीनों दोषोंका प्रकोप होकर त्रिदोषज छर्दि होती है। त्रिदोषज छर्दिमें शूल, आहारका

---

१ "अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्। रसायनीभिर्विसृत प्रपीड्य मर्मोर्ध्व-मागम्य वमिं करोति॥ मूर्च्छा-पिपासा-मुखशोष-मूर्धताल्वक्षिसन्ताप-तमो-भ्रमार्त। पीत भृशोष्ण हरित सतिक्त धूम्र च पित्तेन वमेत् सदाहम्॥" (च चि अ २०)। "रसायनीभिरिति स्रोतोभि.। धूम्र धूम्रवर्णम्।" (च. द.)। "योऽम्ल भृशोष्ण कटु-तिक्तवक्त्रः पीत सरक्त हरित वमेद्वा। सदाह-चोष-ज्वर-वक्त्रशोप-मूर्च्छान्वित. पित्तनिमित्तजा सा॥" (सु उ अ ४९)। "पित्तात् क्षारोदकनिभ धूम्र हरित-पीतकम्। सासृगम्ल कटूष्ण च तृण्मूर्च्छा दाह-तापवान्॥" (अ स. नि. अ ५)। २ "स्निग्धातिगुर्वाम-विदाहिभोज्यै स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्ध। उर शिरो मर्म रसायनीश्च सर्वा समावृत्य वमिं करोति॥ तन्द्रास्यमाधुर्य-कफप्रसेक-सतोष-निद्रारुचि-गौरवार्त। स्निग्ध घन स्वादु कफाद्विशुद्ध सरोमहर्षोऽल्परुज वमेत्तु॥" (च चि अ २०)। "यो हृष्टरोमा मधुर प्रभूत शुक्ल हिम सान्द्रकफानुविद्धम्। अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो वमेद्वमी सा कफकोपजा स्यात्॥" (सु उ अ ४९)। "कफात् स्निग्ध घन श्वेत श्लेष्मतन्तुगवाक्षि-तम्। मुखश्वयथु-माधुर्य-तन्द्रा-हृल्लास-कासवान्॥" (अ स. नि अ ५)।

परिपाक न होना, अरुचि, दाह, तृषा, श्वास और मूर्च्छा–इन लक्षणोंकी अधिकताके साथ लवण, अम्ल, नील और रक्त वर्ण, गाढ़ा तथा उष्ण स्पर्शवाला वमन होता है।[१]

द्विष्टार्थसंयोगज (आगन्तुज) छर्दिके हेतु और लक्षण—

द्विष्ट (उपयोग करनेवाला मनुष्य जिसका द्वेष करता हो), प्रतीप (असात्म्य), अशुचि (अपवित्र-उच्छिष्ट आदि), सडा हुआ, मलिन और बीभत्स ऐसे पदार्थोंके गन्ध-सूँघने, भोजन-खाने, श्रवण करने तथा देखनेसे मन उद्विग्न होने पर जो छर्दि होती है उसको **द्विष्टार्थसंयोगजा छर्दि** कहते हैं[२] **(च.)**। बीभत्स पदार्थोंके दर्शन–आदि, स्त्रियोंको गर्भ रहना, आमप्रदोष, असात्म्य पदार्थोंका सेवन और पेटमें कृमि उत्पन्न होना इन कारणोंसे जो छर्दि होती है उसमे दोषोंकी अधिकता देखकर यह छर्दि वातज, पित्तज या कफज है–इसका निर्णय करना चाहिए। विशेषत कृमिज छर्दिमें पेटमें शूल तथा जी मिचलाना ये लक्षण अधिक होते हैं तथा कृमिज हृद्रोगके लक्षण भी होते हैं[३] **(सु.)**।

असाध्य छर्दिके लक्षण—

जब वायु विष्ठा-स्वेद-मूत्र और जलवह स्रोतोंको अवरुद्ध करके ऊपर-मुखकी ओर आता है (विष्ठा आदिको ऊपरकी ओर प्रवृत्त करता है) तब तृषा, हिक्का और श्वास-इन लक्षणोंके साथ-विष्ठा और मूत्रके समान गन्ध और वर्णवाला लगातार अतिवेगसे वमन होता है। इस प्रकारकी छर्दिवाला मनुष्य मरता है **(च.)**। जो छर्दि उपद्रवयुक्त हो, जो रोगादि कारणोंसे क्षीण मनुष्यको हुई हो, जिस छर्दिमें रक्त और पूय-मवाद आता हो, मयूर-पिच्छके सदृश चन्द्रिका–चमक दिखती हो और जो लगातार आती हो (बीच-बीचमें थमती न हो) उस छर्दिको असाध्य जानना चाहिए[४] **(सु.)**।

---

१ "समश्नत. सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च । सर्वे प्रकोप युगपत् प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषा ॥ शूलाविपाकारुचि-दाह-तृष्णा श्वास-प्रमोहप्रबल. प्रसक्तम् । छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्ल-नील-सान्द्रोष्णरक्त वमता नृणां स्यात् ॥" (च चि. अ २०)। "सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्या सा सर्वदोषप्रभवा मता तु ।" (सु उ. अ. ४९)। २ "द्विष्ट-प्रतीपाशुचि-पूत्यमेध्य-बीभत्सगन्धाशन-दर्शनैश्च । यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैः द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥" (च चि अ. २०)। "पूत्यमेध्याशुचि-द्विष्टदर्शन-श्रवणादिभि । तप्ते चित्ते हृदि क्लिष्टे छर्दिर्द्विष्टार्थयोगजा ॥ (अ स. नि अ. ५)। ३ "बीभत्सजा दौहृदजाऽऽमजा च याऽसात्म्यतो वा क्रिमिजा च या हि । सा पञ्चमी ता च विभावयेत्तु दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥" (सु. उ. उ. ४९)। "पूत्यमेध्याशुचि-द्विष्टदर्शन-श्रवणादिभि. । तप्ते चित्ते हृदि क्लिष्टे छर्दिर्द्विष्टार्थयोगजा ॥ वातादीनेव विमृशेत् कृमि-तृष्णाम-दौहृदे । शूल-वेपथु-हृल्लासैर्विशेषात् कृमिजा वदेत् ॥ कृमिहृद्रोगलिङ्गैश्च" (अ स नि. अ ५)। ४ "विट्-स्वेद-मूत्राम्बुवहानि वायु स्रोतांसि सरुध्य यदोर्ध्वमेति । उत्सन्नदोषस्य समाचित त दोष समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ विण्मूत्रयोस्तत् समगन्धवर्ण तृट्-श्वास-हिक्कार्तियुत प्रसक्तम् । प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु

वक्तव्य-खाँसी, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृषा, बुद्धिविभ्रम, हृदय छातीका दर्द और आँखोंके सामने अँधेरा दीखना-ये छर्दिके उपद्रव हैं[१]।

अम्लपित्ताधिकार।

अम्लपित्तके हेतु और संप्राप्ति—

मात्रा-सयोग आदिसे विरुद्ध पदार्थोंका भोजन, पहले खाया हुआ अन्न पचन हुए विना दूसरा अन्न खा लेना, पिष्टान्न (मैदेसे वनाए हुए भक्ष्य)-अपक्व अन्न-मद्य-गोरस (छाछ आदि)-गुरु और अभिष्यन्दि पदार्थोंका भोजन, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकना, अति उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-अम्ल और द्रव पदार्थोंका अति सेवन, फाणित (राव-काकवी)-इक्षुविकार (गुड आदि)-कुलथी-भुना हुआ धान्य-चूडा इनका सेवन करना, दिनमे सोना, अति स्नान और अवगाह (जलमें गोते लगाना), भोजनके वीचमे अधिक जल पीना तथा अन्य विदाही-विगड़े (सड़े) हुए और पित्तका प्रकोप करने वाले अन्न-पान (और विहार) का सेवन करनेसे वातादि दोषोंका (विशेषत पित्तका) प्रकोप होता है और खाया हुआ अन्न विदग्ध-अम्ल हो जाता है। आमाशयमें हुए इस प्रकारके अन्नके विदाह (अम्लभाव) को **अम्लपित्त** कहते हैं[२]।

अम्लपित्तके सामान्य लक्षण—

आहार न पचना, विना परिश्रमके थकावट, जी मिचलाना, कडवे (तीते) और खट्टे डकार आना, शरीरका विशेषत पेटका भारीपन, छाती और कण्ठमे जलन, अरुचि, मल पतला होना, सिर और छातीमे पीडा, पेटका अफारा, शरीरका अवसाद, आँतोंमें गुड-गुड शब्द तथा रोएँ खडे होना ये अम्लपित्तके लक्षण हैं[३]।

विनाशमेति ॥ क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रवृद्धा सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता । सचन्द्रिका ता प्रवदन्त्य-साध्या” (च. चि. अ. २०)। “क्षीणस्योपद्रवैर्युक्ता सास्रपूया सचन्द्रिकाम् । छर्दिं प्रसक्ता कुशलो नारभेत चिकित्सितुम् ॥” (सु उ. उ. ४९)।

१ “कास. श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च । हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥” (मा. नि. अ. १५)। २ “विरुद्धाध्यशनाजीर्णादामे चामे च पूरणात् । पिष्टान्नानामपक्वाना मद्याना गोरसस्य च ॥ गुर्वभिष्यन्दिभोज्याना वेगाना धारणस्य च । अत्युष्ण-स्निग्ध-रूक्षाम्लद्रवा-णामतिसेवनात् ॥ फाणितेक्षुविकाराणा कुलत्थाना च शीलनात् । भृष्टधान्य-पुलाकानां पृथुकानां तथैव च ॥ भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा स्वप्नादतिस्नानावगाहनात् । अन्तरोदकपानाच्च शुक्तपर्युषिता-शनात् ॥ वातादय. प्रकुप्यन्ति तेषामन्यतमो यदा । मन्दीकरोति कायाग्निमग्नौ मार्दवमागते ॥ एतान्येव तथा भूय सेवमानस्य दुर्मते. । यत् किञ्चिदशित पीत देहिनस्तद्विदह्यति ॥ विदग्ध शुक्ततां यात शुक्तमामाशये स्थितम् । तदम्लपित्तमित्याहुर्भूयिष्ठ पित्तदूषणात् ॥ (काश्यपसंहिता पृ. ३०५)। “विरुद्ध-दुष्टाम्ल-विदाहि-पित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम् । पित्त स्वहेतूपचित पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति तज्ज्ञा. ॥” (मा नि. अ ५०)। ३ “विड्भेदो गुरुकोष्ठत्वमम्लोत्क्लेशः शिरोरुजा । हृच्छूलमुदराध्मानमङ्गसादोऽन्त्रकूजनम् ॥ कण्ठोरसी विदह्येते रोमहर्षश्च जायते । सामान्यलक्षण ह्येतत्” (काश्यपसंहिता पृ ३०६)। “अविपाकक्लमोत्क्लेश-तिक्ताम्लोद्गार-गौरवैः । हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्त वदेद्भिषक् ॥” (मा. नि. अ. ५०)।

ऊर्ध्वग अम्लपित्तके लक्षण—

पित्तके साथ कफका अनुबन्ध होनेसे ऊर्ध्वग (ऊपरकी ओर गतिवाला) अम्लपित्त होता है। ऊर्ध्वग अम्लपित्तमें हरा-पीला-नीलवर्ण-काला कुछ लाल या गहरे लाल रंगका-मासके धोवन जैसा-अतिपिच्छिल (लुआबदार) या पतला-खट्टा या कडुआ (तीता) अन्नके विदाह (पचते) समयमें या खाली पेट पर वमन होना है, तथा खट्टे या कडुए डकार आना, छाती और गलेमें (अन्ननलीमें) जलन, सिरमें पीड़ा, हाथ-पाँवमें जलन (भीतरसे) और छूनेसे उष्णता मालूम होना, ज्वर, खाने पर विशेष अरुचि और शरीर पर खुजली-ददोड़े-चकत्ते तथा फुंसियाँ निकलना ये लक्षण होते हैं[1]।

अधोग अम्लपित्तके लक्षण—

अधोग अम्लपित्तमें तृषा, दाह, मूर्च्छा, चक्कर आना, इन्द्रियोंका मोह, जी मिचलाना, शरीर पर ददोडे निकलना, अग्नि (पचनक्रिया) मन्द होना, रोएँ खडे होना, पसीना आना और शरीर पीला होना इन लक्षणोंके साथ हरे-पीले या लाल रंगके मलकी अधोमार्गसे प्रवृत्ति होती है (दस्त आते हैं)। अधोग अम्लपित्त कदाचित ही होता है[2]।

दोषकी अधिकतासे अम्लपित्तके लक्षण—

अम्लपित्तमें वायुकी अधिकतासे शूल, पेटका अफारा, अंगोंकी कमजोरी, स्निग्ध पदार्थोंसे उपशय-आराम मालूम होना (का.), कम्प, प्रलाप, मूर्च्छा, शरीरमें चिमचिमाहट, अँधेरा दीखना, चक्कर आना, इन्द्रियमोह और रोएँ खडे होना (मा. नि.), पित्तकी अधिकतासे चक्कर आना, जलन, मधुर और शीतल पदार्थोंसे आराम मालूम होना (का.), तथा कफकी अधिकतासे शरीरमें भारीपन, वमन, रूक्ष और उष्ण पदार्थोंसे आराम मालम होना (का.), बार-बार कफ थूकना, शरीरमें जडता, अरुचि, ठण्ढ लगना, मुँह कफसे लिपा हुआ सा मालूम होना, अवसाद—कमजोरी, अग्निमान्द्य, शरीरमें खुजली आना और नींद अधिक आना (मा. नि) ये लक्षण होते हैं। अम्लपित्तमें वायु और कफ दोनोंकी अधिकता हो तो ऊपर लिखे हुए वाताधिक और कफाधिक दोनोंके लक्षण होते हैं तथा कफ और पित्तकी अधिकता हो तो चक्कर आना, मूर्च्छा,

---

१ "वान्तं हरित्पीतक नील-कृष्णमारक्त-रक्ताभमतीव चाम्लम् । मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुयातं विविधं रसेन ॥ भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित्। उद्गारमेवंविधमेव कण्ठ-हृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥ कर-चरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं च कफपित्तम् । जनयति कण्डूमण्डल-पीडकाशतनिचितगात्ररोगचयम् ॥" (मा नि अ ५०)।

२ "तृड्दाह-मूर्च्छा-भ्रम-मोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम् । हृल्लास-कोठानलसाद-हर्ष-स्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥" (मा. नि अ ५०)।

अरुचि, वमन, आलस्य, शिरमें दर्द, मुँहसे लालाका स्राव और मुँह मीठा रहना ये लक्षण होते हैं[१]।

अम्लपित्तके साध्यासाध्यत्वका विचार—

अम्लपित्त रोग नया हो तो यत्न (सुचिकित्सा और पथ्य) करनेसे साध्य होता है, पुराना होने पर याप्य और किसी-किसी रोगीमें कृच्छ्रसाध्य होता है[२]।

शूलाधिकार।

वक्तव्य—सामान्यत शरीरके किसी भी अवयवमें जो पीडा-वेदना (दर्द-टीस) हो उसके लिये **शूल** शब्दका प्रयोग किया जाता है। यथा–शिर शूल, कर्णशूल, कटिशूल, पार्श्वशूल, हृच्छूल, बस्तिशूल आदि। चरकसहितामें शूल रोगका स्वतन्त्र वर्णन नहीं पाया जाता है। अत मालूम होता है कि चरकने शूलको स्वतन्त्र रोग न मानकर अन्य रोगोंमें होनेवाला लक्षण माना है। सुश्रुतने **गुल्मप्रतिषेध** नामक उत्तरतन्त्रके ४२ वें अध्यायमें गुल्मके उपद्रवरूप तथा स्वतन्त्र शूल रोगका वर्णन किया है। **माधवकरने शूलनिदान** नामका स्वतन्त्र अध्याय लिखा है। **वृद्धवाग्भटने** गुल्मको ही **शूल** नाम दिया है[३]।

'शूल' शब्दकी निरुक्ति—

शूल (मेख-कील-भाला आदि नुकीले शस्त्र) से मारनेके सदृश असुख-पीडा-का अनुभव इस रोगमें होता है, इस लिये इस रोगको **शूल** कहा जाता है। (शूलसे मारनेके सदृश पीडा होना यह शूल रोगका प्रत्यात्म-खास लक्षण है। शूल कोई एक रोग नहीं है, परन्तु जिन-जिन रोगोंमें शूल मारनेके सदृश पीडा होती है, उन सर्व रोगोंका एक वर्ग है। 'शूल' शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है)[४]।

---

१ "वाताच्छूलाङ्गसादौ च जृम्भा स्निग्धोपशायिता। पित्ताद्भ्रमो विदाहश्च स्वादु-शीतोपशायिता॥ कफाद्गुरुत्व छर्दिश्च स्याद्रूक्षोष्णोपशायिता। व्याधिरामाशयोत्थोऽय कफ-पित्ते तदाश्रये॥" (काश्यपसहिता पृ ३०६)। "सानिल सानिल-कफ सकफ तच्च लक्षयेत्। दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकर च तत्॥ कम्प प्रलाप-मूर्च्छा चिमिचिमि-गात्रावसाद-शूलानि। तमसो दर्शन-विभ्रम-विमोह-हर्षाण्यनिलकोपात्॥ कफनिष्ठीवन गौरव-जडतारुचि-शीत-साद-वमिलेपा। दहनबलसाद-कण्डू-निद्राश्चिह्न कफानुगते॥ उभयमेतदेव चिह्न मारुत-कफसभवे भवत्यम्ले। भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिरालस्य च शिरोरुजा। प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम्॥" (मा नि अ ५१)। २ "रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् ससाध्यते नव। चिरोत्थितो भवेद्याप्य कृच्छ्रसाध्य स कस्यचित्॥" (मा नि अ ५१)। ३ "यतश्च तस्मिन् शूलविद्ध इव व्यथते तीव्रवेदनार्दित कृच्छ्रोच्छ्वासस्तस्माच्छूलमित्युच्यते।" (अ स नि अ ११)। "स च गुल्मो नाम्ना 'शूल' इत्युच्यते, कुत आह–यतश्चेत्यादि।" (इन्दु)। ४ "शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना। शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते॥" (सु उ. अ ४२)।

गुल्मके उपद्रवरूप शूलके दोषभेदसे लक्षण—

गुल्मके उपद्रवरूपमें जो शूल होता है वह वातिक हो तो उसमें शूलके साथ विष्ठा-मल और मूत्रका अवरोध होना, श्वास लेनेमें कष्ट तथा शूलके स्थानमें कठिनता ये लक्षण होते हैं, यदि वह पैत्तिक हो तो उसमें शूलके साथ तृषा, दाह, चक्कर आना तथा अन्न पचनेके समयमें शूल बढना ये लक्षण होते हैं, यदि वह श्लैष्मिक हो तो उसमें शूलके साथ रोएँ खडे होना, अरुचि, वमन, खाने पर शूल बढना तथा शूलस्थानमें जडता मालूम होना ये लक्षण होते हैं, यदि वह द्वन्द्वज हो तो जिन दो दोषोंके संसर्गसे शूल हुआ हो उन दो दोषोंके मिले हुए लक्षण होते हैं और यदि वह सान्निपातिक हो तो उसमें तीनों दोषोंके मिले हुए लक्षण होते हैं[1] ।

स्वतन्त्र शूलके स्थान, हेतु और संप्राप्ति—

विना गुल्मके गुल्मस्थानोंमें जो शूल होता है उसके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण कहे जाते हैं[2] । हृदय, दोनों पार्श्व, नाभि और बस्ति ये पाँच गुल्मके स्थान हैं[3] (हृदय और बस्तिके बीचका उदर प्रदेश गुल्मका स्थान है[4]) । वात-मूत्र और मलके वेगोंको रोकना, अति भोजन करना, अजीर्ण, एक बार खाया हुआ अन्न पचे विना दूसरी बार खा लेना, अति परिश्रम, संयोग-मात्रा आदिसे विरुद्ध पदार्थोंका भोजन करना, भूख लगनेपर पानी पी लेना, अंकुरित धान्य-मैदेसे बनाए हुए भक्ष्य और सूखा मांस खाना इन कारणोंसे तथा इस प्रकारके अन्य द्रव्योंके सेवनसे वायु प्रकुपित होकर कोष्ठमें शूल उत्पन्न करता है । शूल होने पर श्वास लेनेमें रुकावट और पेटमें दर्द होता है[5] (सु.) ।

---

१ "अथास्योपद्रवः शूलं कथञ्चिदुपजायते । शूलं निखानितमिवातुरो येन तु वेत्त्यसौ ॥ तत्र विण्मूत्रसंरोधः कृच्छ्रोच्छ्वासः स्थिराङ्गता । तृष्णा दाहो भ्रमोऽन्नस्य विदग्धपरिवृद्धिता ॥ रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्भुक्तवृद्धिर्जडाङ्गता । वाय्वादिभिर्यथासंख्यं मिश्रैर्वा" (सु. उ. अ. ४२) । "तत्रेत्युपद्रवशूले । स्थिराङ्गता काठिनाङ्गता । अन्नस्य विदग्धपरिवृद्धिता अन्नस्य विदाहे शूलस्य परिवृद्धिर्भवतीत्यर्थः । भुक्तवृद्धिरिति भुक्तस्य वृद्धिः भुक्तमात्रे शूलस्य वृद्धिर्भवतीत्यर्थः । मिश्रैरिति द्वन्द्वैः सान्निपातिकैश्च । 'विण्मूत्रसंरोध' इत्यादिकं वातजशूललक्षणं, 'तृष्णादाह' इत्यादिकं पित्तजशूललक्षणं, 'रोमहर्षोऽरुचि' इत्यादिकं श्लेष्मजशूललक्षणं, द्विदोषलिङ्गं द्वन्द्वे, सर्वलिङ्गं समस्ते ।" (ड.) । २ "विना गुल्मेन यच्छूलं गुल्मस्थानेषु जायते । निदानं तस्य वक्ष्यामि रूपं च सचिकित्सितम् ॥ (सु. उ. अ. ४२) । ३ "पञ्च गुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभि-बस्तयः ।" (सु. उ. अ. ४२) । "बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा गुल्मस्य स्थानानि भवन्ति पञ्च ।" (च. चि. अ. ५) । ४ "हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः । वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥ (सु. उ. अ. ४२) ।" ५ "वात-मूत्र-पुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात् । अजीर्णाध्यशनायास-विरुद्धान्नोपसेवनात् ॥ पानीयपानात् क्षुत्काले विरूढानां च सेवनात् । पिष्टान्न-शुष्कमांसानामुपयोगात्तथैव च ॥ एवंविधानां द्रव्याणामन्येषां चोपसेवनात् । वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं संजनयेद्भृशम् ॥ निरुच्छ्वासो भवेत्तेन वेदनापीडितो नरः ॥" (सु. उ. अ. ४२) । "निरुच्छ्वासः निरुद्धोच्छ्वासः ।" (ड.) ।

शूलके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, त्रिदोषज और आम-प्रदोषज भेदसे शूल आठ प्रकारका होता है (मा.)। सर्वप्रकारके शूलोंमें वातकी प्रधानता रहती है, क्योंकि पीड़ा करना यह वातका कार्य है "वातादृते नास्ति रुजा" (सु. सू. अ. १७)[1]।

वातिक शूलके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

अधिक व्यायाम करना, सवारी पर अधिक चढ़ना, अति मैथुन, रात्रिमें जागना, अति शीतल जल पीना, मटर-मूँग-अरहर और कोदों अधिक खाना, अति रूक्ष पदार्थ खाना, पेटपर मार-चोट लगना, कसैले और तीते रसवाले पदार्थ-अङ्कुरित धान्य-संयोग मात्रादिसे विरुद्ध पदार्थ-सूखा मांस तथा सूखा शाक खाना, मल-वीर्य-मूत्र और वायुके वेगोंको रोकना, शोक, उपवास, अति हँसना या बोलना—इन कारणोंसे वायु प्रकुपित होकर हृदय-पार्श्व-कमर और बस्तिके प्रदेश (बस्त्युपलक्षित उदर प्रदेश-पेड़)में शूल उत्पन्न करता है। अन्न जीर्ण होनेपर, प्रदोष-संध्याके समयमें, प्रावृट् ऋतुमें और शीत कालमें वातिक शूल बढ़ता है। वातिक शूलमें मल और वायुकी रुकावट, स्तब्धता, दर्द और भेदनवत् पीड़ा होती है। वातिक शूलकी घड़ी-घड़ीमें शान्ति या प्रकोप होता है। स्वेदना, अभ्यञ्जन, मालिश तथा स्निग्ध और उष्ण भोजनसे वातिक शूलकी शान्ति होती है (मा. नि.)। पेट खाली होने पर शूल बढ़ना, पेट स्तब्ध (जकड़ा सा) मालूम होना, श्वास लेनेमें कष्ट मालूम होना तथा वात-मूत्र और मलकी प्रवृत्ति कष्टसे होना ये वातशूलके लक्षण हैं[2] (सु.)।

पैत्तिक शूलके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

क्षार-अति तीक्ष्ण-उष्ण और विदाही पदार्थ, तैल, सेमके बीज, खली, कुलथीका यूष, कटु (चरपरे) और अम्ल पदार्थ, सिरका, सुराविकार (विविध प्रकारके मद्य), क्रोध, अग्निके समीप बैठना, परिश्रम, सूर्यका ताप धूप, अति मैथुन तथा विदग्ध (अधकच्चा पका) अन्न

---

[1] "दोषैः पृथक्समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्। सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः॥" (मा. नि. अ. २६)। [2] "व्यायाम-यानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात्। कलाय-मुद्गाढकी-कोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात्॥ कषाय-तिक्तातिविरूढजान्नविरुद्ध-वल्लूरक-शुष्क-शाकात्। विट्-शुक्र-मूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्य-भाष्यात्॥ वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्व-पृष्ठ-त्रिक बस्तिदेशे। जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम्॥ मुहु-र्मुहुश्चोपशम-प्रकोपौ विड्वातसंस्तम्भन-तोद-भेदैः। संस्वेदनाभ्यञ्जन-मर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति॥" (मा. नि. अ. २६)। "निराहारस्य यस्यैव तीव्रं शूलमुदीर्यते। प्रस्तब्धगात्रो भवति कृच्छ्रेणोच्छ्वसितीव च॥ वात-मूत्र-पुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः। एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं वात-समुद्भवम्॥" (सु. उ. अ. ४२)।

इन हेतुओसे पित्त प्रकुपित होकर शूल उत्पन्न करता है। पैत्तिक शूल नाभिके स्थानमें होता है तथा उसमें तृषा, इन्द्रियोका मोह, दाह, पसीना आना, मूर्च्छा, चक्कर आना और शूलस्थानमे चूसनेकी सी पीडा ये लक्षण होते हैं। पैत्तिक शूल मध्याह, अर्धरात्र, अन्नका विदाहकाल (पच्यमानावस्था) और शरद् ऋतु इन समयोमे बढ़ता है और शीतकालमें, शीतोपचारसे तथा मधुर और शीत पदार्थोंके खानेसे शान्त होता है (**मा. नि.**)। तृषा, दाह, मद (नशा चढ़ा सा रहना), मूर्च्छा, तीव्र शूल, शीतल पदार्थोंकी इच्छा, और शीतल पदार्थोंके सेवनसे शान्ति मिलना इन लक्षणोसे पैत्तिक शूल जानना चाहिए[1] (**सु.**)।

श्लैष्मिक शूलके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

आनूप और जलचर प्राणियोका मास, छाना (पनीर), खोवा आदि दूधसे बने हुए पदार्थ, इक्षुविकृति-गुड आदि, मैदा, खिचड़ी, तिलकी शष्कुली (कचौडी) तथा इस प्रकारके अन्य कफजनक पदार्थोंके सेवनसे कफ प्रकुपित होकर शूल उत्पन्न करता है। श्लैष्मिक शूल आमाशयमे होता है। कफज शूलमें जी मिचलाना, खाँसी, अवसाद, अरुचि, मुँहसे लार आना, बद्धकोष्ठता और सिरमे भारीपन ये लक्षण होते हैं। कफज शूल भोजनके बाद तुरन्त, सूर्योदयके समयमे तथा शिशिर और वसन्त ऋतुमे बढता है (**मा. नि.**)। कफज शूलमें जी मिचलाना, पेट खूब भरा हुआ तथा शरीर भारी मालूम होना ये लक्षण होते हैं[2] (**सु.**)।

सान्निपातिक शूलके लक्षण—

सान्निपातिक शूलमे ऊपर लिखे हुए तीनो प्रकारके शूलोंके मिले हुए लक्षण पाए जाते है। सान्निपातिक शूल असाध्य है[3]।

---

१ "क्षारातितीक्ष्णोष्ण-विदाहि-तैल-निष्पाव-पिण्याक-कुलत्थयूषै । कट्वम्ल-सौवीर-सुराविकारै क्रोधानलायास-रविप्रतापै ॥ ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धै पित्त प्रकुप्याशु करोति शूलम् । तृण्मोह-दाहार्तिकर हि नाभ्या सस्वेद-मूर्च्छा-भ्रम-चोषयुक्तम् ॥ मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च। शीते च शीतै समुपैति शान्ति सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥" (मा नि. अ २६)। "तृष्णा दाहो मदो मूर्च्छा तीव्र शूल तथैव च। शीताभिकामो भवति शीतेनैव प्रशाम्यति ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूल पित्तसमुद्भवम् ।" (सु उ अ ४२)। २ "आनूप-वारिज-किलाट-पयोविकारै मासेक्षु-पिष्ट-कृशरा-तिलशष्कुलीभि । अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ हृल्लास-कास-सदनारुचि-सप्रसेकैरामाशये स्तिमित-कोष्ठ-शिरोगुरुत्वै । भुक्ते सदैव हि रुज कुरुतेऽतिमात्र सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥" (मा. नि अ २६)। "शूलेनोत्पीड्यमानस्य हृल्लास उपजायते। अतीव पूर्णकोष्ठत्व तथैव गुरुगात्रता ॥ एतच्छ्लेष्मसमुत्थस्य शूलस्योक्त निदर्शनम् ।" (सु उ अ, ४२)। ३ "दृष्ट्वा सर्वाणि रूपाणि निर्दिशेत्सान्निपातिकम् । सन्निपातसमुत्थानमसाध्य त विनिर्दिशेत् ॥" (सु. उ. अ ४२)।

आमज शूलके लक्षण—

आमसे उत्पन्न शूलमें पेटमें गुडगुडाहट, जी मिचलाना, वमन, शरीरका विशेषत पेटका भारीपन, पेट निश्चल सा मालूम होना, आनाह, मुँहसे कफ-लारका स्राव होना ये तथा कफज शूलके सदृश अन्य लक्षण भी होते हैं[१] (मा. नि.)।

द्वन्द्वज शूलके लक्षण—

कफवातज शूल वस्ति, हृदय, दोनों पार्श्व और पृष्ठमें, कफपैत्तिक शूल कुक्षि हृदय और नाभिके मध्यमें तथा वातपैत्तिक शूल भी इन ही स्थानोंमे होता है और उसमे दाह तथा ज्वर ये लक्षण अधिक होते हैं[२] (मा. नि.)।

शूलका साध्यासाध्यत्व—

शूल एकदोपज साध्य, द्विदोपज कृच्छ्रसाध्य तथा त्रिदोषज और जिसमे अनेक उपद्रव हों वह असाध्य होता है[३]।

शूलके उपद्रव—

अति वेदना, तृपा, मूर्च्छा, आनाह, शरीरका भारीपन, अरुचि, खॉसी, श्वास और हिक्का ये नव शूलके उपद्रव हैं[४]।

परिणामशूलका लक्षण—

अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित बलवान् वायु कफ और पित्तको आवृत करके परिणामशूल उत्पन्न करता है। अन्न जीर्ण होनेके समयमें (अन्नकी पच्यमानावस्थामें) शूल होना परिणामशूलका मुख्य लक्षण है। परिणामशूलमे यदि वातकी अधिकता हो तो पेटका अफारा, पेटमें गुडगुडाहट, मल और मूत्रका अवरोध, बेचैनी, शरीर कॉपना तथा स्निग्ध और उष्ण पदार्थोंसे आराम मालूम होना ये लक्षण, पित्तकी अधिकता हो तो तृपा, दाह, बेचैनी, पसीना आना, चरपरे-खट्टे और लवण पदार्थोंसे शूल बढ़ना तथा शीत पदार्थोंके सेवनसे शूलकी शान्ति होना ये लक्षण, कफकी अधिकता हो तो वमन,

---

१ "आटोप-हृल्लास-वमी-गुरुत्व-स्तैमित्यकानाह-कफप्रसेकै । कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भव शूलमुदाहरन्ति ॥" (मा नि अ २६)। २ "वस्तौ हृत्पार्श्व पृष्ठेषु स शूल कफवातिक । कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूल कफपैत्तिक ॥ दाह-ज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिक ।" (मा नि अ २६)। "वातात्मक वस्तिगत वदन्ति, पित्तात्मक चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्व-कुक्षौ कफसन्निविष्ट, सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ॥" (मधुकोशव्याख्यायामुद्धृतं तन्त्रान्तरीयवचनम्)। ३ "एकदोषोत्थित साध्य, कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषज । सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रव ॥" (मा नि अ. २६)। ४ "वेदना च तृपा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची । कास श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवा स्मृता ॥" (मधुकोशव्याख्यायामुद्धृतं तन्त्रान्तरवचनम्)।

जी मिचलाना, इन्द्रियोंका मोह, पीडा कम होना, शूल दीर्घ काल रहना तथा चरपरे और तीते पदार्थोंसे शान्ति मिलना ये लक्षण होते हैं, दो-दो दोषोंके मिले हुए लक्षण देख कर द्वन्द्वज तथा तीनों दोषोके मिले हुए लक्षण देख कर त्रिदोषज शूल जानना चाहिए। त्रिदोषज शूल तथा जिसका मास-बल और जठराग्नि क्षीण हो गया हो उसका परिणाम-शूल असाध्य होता है[१] ।

अन्नद्रव शूलके लक्षण—

भोजन पच जाने पर, पचते समय और पचनेके पूर्व (खानेके बाद तुरन्त ही) शूल हो, पथ्य या अपथ्य भोजन करने पर तथा खाने या न खाने पर भी शूल रहे और वमन द्वारा पित्त निकल जाने पर शान्त हो जाए उसको **अन्नद्रव** शूल कहते हैं[२] ।

विड्शूलका लक्षण—

रूक्ष (स्वभावत रूक्ष और स्नेहरहित) आहारका सेवन करनेसे प्रकुपित वायु जठराग्निको मन्द, स्रोतोको आवृत तथा कोष्ठस्थ मलका अवरोध करके दक्षिण या वाम कुक्षि (उदरपार्श्व) मे तीव्र शूल उत्पन्न करता है। इस शूलमे वायुका गुड-गुड शब्दके साथ सर्वत्र कोष्ठमे फिरना, तीव्र प्यास, चक्कर आना और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं। मल और मूत्रका वेग होता है परन्तु मल-मूत्रकी प्रवृत्ति न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती है। इस परम दारुण-अति कष्ट देनेवाले शूलको **विड्शूल** जानना चाहिए[२] (सु.) ।

पार्श्वशूलका लक्षण—

जब कुक्षि (उदर) के पार्श्वमें रहा हुआ कफ वायुका अवरोध करता है तब वह

---

१ 'स्वैर्निदानै प्रकुपितो वायु सन्निहितस्तदा। कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ॥ भुक्ते जीर्यति यच्छूल तदेव परिणामजम् । तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते ॥ आटोपाध्मान-विण्मूत्रविबन्धारति-वेपनै । स्निग्धोष्णोपशमप्राय वातिक तद्वदेद्भिषक् ॥ तृष्णा-दाहारति-स्वेद कट्वम्ल-लवणोत्तरम् । शूल शीतशमप्राय पैत्तिक लक्षयेद्बुध ॥ छर्दि-हृल्लास-समोह स्वल्परुग्दीर्घसन्तति । कटु-तिक्तोपशान्त च तच्च ज्ञेय कफात्मकम् ॥ ससृष्टलक्षण बुद्ध्वा द्विदोष परिकल्पयेत् । त्रिदोषजमसाध्य तु क्षीणमास-बलानलम् ॥" (मा नि अ २६) । "कट्वम्ल-लवणोत्तर कट्वम्ललवणैर्वृद्धम् । × × । दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि ।" (म को.) ।

२ "जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे च यच्छूलमुपजायते । पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ॥ न शम याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृत । अन्नद्रवाख्यशूले तु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते ॥ वान्तमात्रे जरत्पित्ते शूलमाशु निवर्तते ।" (मा नि अ २६) । २ "वायु प्रकुपितो यस्य रूक्षाहारस्य देहिन । मल रुणद्धि कोष्ठस्थ मन्दीकृत्य तु पावकम् ॥ शूल सजनयेत्तीव्र स्रोतास्यावृत्य तस्य हि । दक्षिण यदि वा वाम कुक्षिमादाय जायते ॥ सर्वत्र वर्धते क्षिप्र भ्रमन्नथ स घोषवान् । पिपासा वर्धते तीव्रा भ्रमो मूर्च्छा च जायते ॥ उच्चारितो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति । विड्शूलमेतज्जानीयाद्भिषक् परमदारुणम् ॥" (सु उ. अ ४२) । "उच्चारित. सजातपुरीषवेग ।" (ड.) ।

कफसे अवरुद्ध-कफावृत वायु आध्मान-अफारा, गुड-गुडाहट और सूई चुभने जैसी वेदना करता है। उस रोगीको श्वासोच्छ्वास कष्टसे आता है, अन्न खानेकी इच्छा नहीं होती और पीडाके कारण नींद नहीं आती है। कफवात (कफावृत वात) से उत्पन्न इस शूलको **पार्श्वशूल** कहते हैं[1] (सु)।

कुक्षिशूलके लक्षण—

जब वायु उदरमे जठराग्निको मन्द करके प्रकुपित होता है तब खाया हुआ भोजन स्तब्ध (निश्चेष्ट सा) रह कर पचन-हजम नही होता है और श्वासोच्छ्वासकी गति अधिक होती है, रोगीको बैठते-सोते या खडे रहते किसी भी अवस्थामें पेटके शूलके कारण सुख-आराम नहीं मालूम होता है। प्रकुपित वात और आम-अपक्व मलसे उत्पन्न इस शूलको **कुक्षिशूल** कहते हैं[2] (सु.)।

अविपाकज शूल—

जठराग्नि मन्द होनेपर जब अति मात्रामें भोजन किया जाता है तब वह अन्न कोष्ठमे स्थिर तथा वात द्वारा आवृत-अवरुद्ध होकर (अविपक्व रहकर) पडा रहता है। वह अविपक्व अन्न पेटमें तीव्र शूल, मूर्च्छा, अफारा, विदाह, जी मिचलाना, विलम्बसे पचना, विरेचन, वमन, शरीर कॉपना और इन्द्रियमोह ये लक्षण उत्पन्न करता है। इस शूलको अन्नदोपसे उत्पन्न **अविपाकज शूल** जानना चाहिए[3]।

हृच्छूलका लक्षण—

कफ और पित्तसे अवरुद्ध वायु रसधातुमें मिल, हृदय (हृदयोपलक्षितप्रदेश) में आकर उच्छ्वासका अवरोध करनेवाला **हृच्छूल** उत्पन्न करता है[4]।

---

१ "रुणद्धि मारुत श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थित । स सरुद्ध करोत्याशु साध्मान गुडगुडायनम् ॥ सूचीभिरिव निस्तोद कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नर । नान्न वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यर्तिनिपीडित ॥ पार्श्वशूल स विज्ञेय कफानिलसमुद्भव ॥" (सु उ अ ४२)। २ "प्रकुप्यति यदा कुक्षौ वह्निमाक्रम्य मारुत । तदाऽस्य भोजन भुक्त सोपस्तम्भ न पच्यते ॥ उच्छ्वसित्यामशक्तता शूलेनाहन्यते मुहु । नैवासने न शयने तिष्ठन् वा लभते सुखम् ॥ कुक्षिशूल इति ख्यातो वातादामसमुद्भव ।" (सु उ अ ४२)। ३ "अतिमात्र यदा भुक्त पावके मृदुता गते । स्थिरीभूत तु तत् कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति ॥ अविपाकगत ह्यन्न तीव्र शूल करोत्यति । मूर्च्छाऽऽध्मान विदाहश्च हृदुत्क्लेशो विलम्बिका ॥ विरिच्यते छर्दयति कम्पतेऽथ विमुह्यति । अविपाकाद्भवेच्छूलस्त्वन्नदोषसमुद्भव ॥" (सु उ अ ४२)। ४ "कफ-पित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छित । हृदिस्थ कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधक परम् । स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसभव ।" (सु उ अ ४२)। "उच्छ्वासारोधकम् उच्छ्वासस्य आसमन्ताद्रोधकमित्यर्थ । एतत् हृच्छूल यस्मात् हृद्रोगविलक्षण तस्मात् हृद्रोगाद्भिन्नं, तथा सम्प्राप्तिभेदाच्च ।" (ड.)।

वस्तिशूलका लक्षण—

मल-मूत्र और अधोवातके वेगोंको रोकनेसे प्रकुपित वायुसे वस्ति, वंक्षण-ऊरुसन्धि और नाभिमे शूल होता है, इसको **वस्तिशूल** कहते हैं। वस्तिशूलमे मल, मूत्र और अधोवातका अवरोध होता है[1]।

मूत्रशूलके लक्षण—

वायु मूत्रका आवरण-अवरोध करके नाभि, ऊरुसन्धि, उदरपार्श्व और कुक्षिमें शूल उत्पन्न करता है। इस शूलको **मूत्रशूल** कहते हैं। मूत्रशूलमे शिश्न और आँतोंमे मर्दन करने जैसी पीडा होती है[2]।

गुल्माधिकार ।

गुल्मकी निरुक्ति (गुल्मका सामान्य लक्षण)—

गुपित-आवृत (पाठान्तरमे कुपित) वायु गुल्मका मूल-कारण है, गूढमूल (जमीनमे ढके हुए मूल जिसके हैं ऐसे) कन्दादिके सदृश इसकी उत्पत्ति होती है तथा यह गुल्म-लतादि या मनुष्यादिके सघात-समूह-के सदृश विशाल (फैला हुआ) होता है, इसलिये इस व्याधिको **गुल्म** कहते हैं[3]।

वक्तव्य—जिसके एक मूलसे अनेक काण्ड और शाखाएँ निकली हों ऐसे उद्भिज्जोंको तथा मनुष्य-पशु आदिके समूहको **गुल्म** कहते है। यह व्याधि भी गुल्मके सदृश होता है, इसलिये इस व्याधिका नाम **गुल्म** रखा गया है। **आयुर्वेदाचार्य पं. सुदर्शन शास्त्री माधवनिदानकी विमर्श** नामक व्याख्यामे लिखते हैं कि—गुल्मका अर्थ गुच्छा या गोलाकार पदार्थ होता है। उदरगत महास्रोतके भीतरके वायु (भोजनके विपरिणाममे उत्पन्न वायवीय पदार्थ-गेसिस-gases), पित्त (विभिन्न अम्ल या क्षारप्रधान पाचक रस एवं विदग्ध अन्न) और कफ (आम अथवा अन्य पिच्छिल एवं सान्द्र पदार्थ म्यूकस mucus आदि) का अनुचित रूपसे (उदरके) किसी स्थान पर सञ्चित होकर गोलेके आकारमें प्रतीत होना ही **गुल्म** है (मा नि पू पृ. ४२९)। गुल्म एक व्याधि नही है, परन्तु अनेक व्याधियोंका वर्ग है।

---

१ "सरोधात् कुपितो वायुर्वस्तिमावृत्य तिष्ठति। वस्ति वक्षण-नाभीपु तत शूलोऽस्य जायते॥ विण्मूत्र-वातसरोधी **वस्तिशूल.** स मारुतात्॥" (सु उ अ ४२)। २ "नाभ्या वक्षण-पार्श्वेपु कुक्षो मेढ्रान्त्रमर्दक । मूत्रमावृत्य गृह्णाति **मूत्रशूल** स मारुतात्॥" (सु उ अ ४२)। ३ "गु(कु)पितानिलमूलत्वाद्गूढमूलोदयादपि। गुल्मवद्वा विशालत्वाद्गुल्म इत्यभिधीयते॥" (सु उ. अ ४२)। "गुपितानिलमूलत्वात् आकुलीकृतवातमूलत्वात्। एतेन सर्वगुल्माना वायु कारणम्। गूढमूलोदयादिति गूढमूला कन्दादय, तेषामिवोदयादुत्पत्ते । × × ×। गुल्मवत् मनुष्यादिसहतिवत्, विशालत्वात् विस्तीर्णत्वात्। एतेनैतदुक्त भवति—यथा सहतिविशेषेणावस्थिता मनुष्य-वृक्षादयो गुल्मव्यपदेश भजन्ते **मनुष्यगुल्मो, वृक्षगुल्म** इति, एवमत्रापि।" (ड.)।

गुल्मके स्थान और स्वरूप—

हृदय, नाभि, उदरके दोनो पार्श्व और वस्ति ये पाँच गुल्मके स्थान है। हृदय और वस्तिके वीचमे सचारी (फिरनेवाला) अथवा अचल-स्थिर (न फिरनेवाला), कभी वढ़ने और कभी घटने वाला तथा गोलाकार जो ग्रन्थि (गाठ सा) होता है उसको **गुल्म** कहते हैं[1]।

वक्तव्य—आयुर्वेदमे **हृदय, वस्ति, नाभि** आदि अनेक शरीरावयववाचक शब्दोंका मुख्यार्थ और उपलक्षणार्थ दोनोंमे प्रयोग हुआ है। यहाँ 'हृदय' शब्दका हृदयोपलक्षित उदरके ऊर्ध्व भाग, 'नाभि' शब्दका उदरके मध्यभाग तथा 'वस्ति' शब्दका उदरके अधोभाग–पेड़ तथा गर्भाशयके लिए उपलक्षणार्थमे प्रयोग हुआ है। 'पार्श्व' शब्दका फुप्फुसके वाम-दक्षिण दोनों पार्श्वों और उदरके दोनों पार्श्वोंके लिये प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पार्श्व' शब्दका उदरके दोनों पार्श्वोंके लिए प्रयोग किया गया है।

गुल्मकी संख्या (गुल्मके भेद)—

वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज और **रक्तज**–इन भेदोंसे गुल्म आठ प्रकारका होता है[2]।

गुल्मके पूर्वरूप—

अन्न खानेकी इच्छा न होना, अरुचि, अन्न पचन न होना, जठराग्निकी विषमता, खाए हुए अन्नका विदाह (अम्लपाक) होना, पचनके समयमें विना कारण वमन होना और डकारें आना, वात-मूत्र और मलका वेग उत्पन्न न होना और उत्पन्न होनेपर भी प्रवृत्ति न होना या अल्प प्रवृत्ति होना तथा वातशूल-अफरा-आँतोमे गुडगुडाहट-बेचैनी मल अति सूख जाना–भूख न लगना-दुर्वलता तथा पेटभरके खाना सहन न होना (**च.**), अवसाद, अग्निमान्द्य और वायुकी ऊपरकी ओर गति होना (**सु.**) ये गुल्मके पूर्वरूप हैं।[3]

---

१ "हृद्वस्त्योरन्तरे ग्रन्थि सचारी यदि वाऽचल। चयापचयवान् वृत्त स 'गुल्म' इति कीर्तित ॥ पञ्च गुल्माश्रया नॄणा पार्श्वहृन्नाभि-वस्तय।" (सु उ अ ४२)। "वस्तौ च नाभ्या हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।" (च चि अ ५)। २ "इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति, तद्यथा-वातगुल्म, पित्तगुल्म, श्लेष्मगुल्मो, निचयगुल्म, शोणित-गुल्म इति।" (च नि अ ३)। "निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषवलावल च। व्यामिश्रलिङ्गानपरास्तु गुल्मास्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥" (च चि अ ५)। "स व्यस्तैर्जायते दोषै समस्तैरपि चोच्छ्रिते। पुरुषाणा तथा स्त्रीणा ज्ञेयो रक्तेन चापर ॥" (सु उ अ ४२)। "गुल्मोऽष्टधा पृथग्दोषै ससृष्टैर्निचय गतै। आर्तवस्य च दोषेण नारीणां जायतेऽष्टम ॥" (अ स, अ हृ नि अ ११)। ३ "एषा तु खलु पञ्चाना गुल्माना प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा–अनन्नाभिलषणम्, अरोचका-

गुल्मके हेतु और संप्राप्ति—

ज्वर–अतिसार आदि रोगोंसे या वमन-विरेचन आदि शोधन कर्मोंसे कर्शित होनेपर वातल–वातकर पदार्थोंका भोजन करना, खानेकी इच्छा होनेपर ठंढा जल पीना, खानेके बाद खड्डा लॉघना-पानीमे तैरना-मैथुन करना-घोड़े आदि पर सवारी करना आदि देहको क्षोभ करनेवाली बातोंका सेवन करना, उलटीका वेग उत्पन्न न होने पर भी उलटी करनेके लिए यत्न करना, अधोवात आदिके उत्पन्न वेगों और श्वासोच्छ्वासको रोकना, स्नेहन और स्वेदन कर्म किए विना ही वमन-विरेचन लेना, वमन विरेचन आदि शोधन कर्मोंके बाद विदाही और अभिष्यन्दी पदार्थोंका भोजन करना-इन हेतुओंसे वातप्रधान एक-एक, दो-दो या तीनो दोप या रक्त प्रकुपित हो तथा महास्रोतसमे प्रवेश कर, ऊपर और नीचेके मार्गोंको अवरुद्ध (रोक) कर शूलपूर्वक (जिसमें पहिले शूल होता है ऐसा), हाथके स्पर्शसे मालूम हो सके ऐसा, उभरा हुआ ग्रन्थिरूप (गॉठ सा) व्याधि उत्पन्न करते हैं, उसको **गुल्म** कहते है **(वृद्धवाग्भट)** ।

व्याधि या संशोधनसे कर्शनसे अथवा कफ मल और पित्तके आवरणसे प्रकुपित वायु कोष्ठमे आश्रय करके और रूक्षताके कारण पिण्डित होकर अपने स्थानमे (पक्वाशयमे) स्वतन्त्र (केवल) तथा अन्य (पित्त-कफ) के स्थान (पच्यमानाशय और आमाशयमे परतन्त्र-पित्त या कफसे मिला हुआ), अमूर्त होने पर भी पिण्डाकारको प्राप्त होनेसे मूर्त जैसा बना हुआ वायु **गुल्म** कहलाता है[1] **(वाग्भट)** ।

विपाकौ, अग्निवैपम्य, विदाहो भुक्तस्य, पाककाले चायुक्त्या छर्द्युद्गारौ, वात-मूत्र-पुरीषवेगाना चाप्रादुर्भाव, प्रादुर्भूताना चाप्रवृत्तिरीषदागमन वा, वातशूलाटोपान्त्रकूजनापरिहर्षणातिवृत्त-पुरीपता, अबुभुक्षा, दौर्बल्य, सौहित्यस्य चासहत्वमिति ।" (च नि अ ३)। "सदन मन्दता वह्नेराटोपाऽन्त्रविकूजनम् । विण्मूत्रानिलसङ्गश्च सौहित्यासहता तथा ॥ द्वेषोऽन्ने वायुरूर्ध्वं च पूर्वरूपेषु गुल्मिनाम् ॥" (सु उ अ ४२)। "अथास्य पूर्वरूपाणि–सदनमग्नि-शरीरयोररुचि. सौहित्यासहिष्णुता कुक्षिशूलमाध्मानमुद्गिरण वहुशो विदग्धेऽन्नो आटोपो मलस्याप्रादुर्भावो-ऽप्रवृत्तिश्च ।" (अ स नि अ ११)।

१ "अथ यो ज्वरातिसारादिभिर्वमनादिभिर्वा कर्मभि. कर्शितो वातलान्याहारयत्याहाराभिलाषी वा शीतमुदक पिवत्यन्नपानानन्तर वा लङ्घन-प्लवन-व्यवाय-यानयानादीन् देहविक्षोभिण सेवते-ऽनुदीर्णा वा छर्दिमुदीरयत्युदीर्णान् वा वातादीन्नि श्वासोच्छ्वासौ च निगृह्णात्यस्नेहपूर्वं वा वमन-विरेचने करोति शोधित एव वाऽतिविदाहिनोऽभिष्यन्दिनो वा निषेवते तस्य यथास्व वातप्रधाना कुपिता दोषा पृथक् ससृष्टा समस्ता सरक्ता वा महास्रोतोऽनुप्रविश्यावृत्योर्ध्वमधश्च मार्गमवश्य शूलमुपजनयन्तो गुल्ममभिनिर्वर्तयन्ति ।" (अ स नि अ ११)। "कर्शनात् कफ विट्-पित्तैर्मार्गस्यावरणेन वा । वायु कृताश्रय कोष्ठे रौक्ष्यात् काठिन्यमागत ॥ स्वतन्त्र स्वाश्रये दुष्ट परतन्त्र पराश्रये । पिण्डितत्वादमूर्तोऽपि मूर्तत्वमिव सश्रित ॥ गुल्म इत्युच्यते वस्ति-नाभि-हृत्पार्श्वसश्रय. ।" (अ हृ नि अ ११)।

वातगुल्मके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

जब विशेष करके वातप्रकृतिवाला (और पित्त प्रकृति तथा कफप्रकृतिवाला भी) मनुष्य ज्वर-वमन-विरेचन और अतिसार इनमेंसे किसी भी कर्शन (शरीरको कृश करने वाले भावों) से कर्शित होनेपर वातल और शीतल पदार्थोंका अति मात्रामें भोजन करता है, स्नेहन कर्म किए विना वमन-विरेचन लेता है, उलटीका वेग न उत्पन्न होने पर भी उलटी करता है, वात-मूत्र और मलके उत्पन्न वेगोंको रोकता हे, खूब भूख लगनेपर नया जल अति मात्रामें पीता है, अति क्षोभ उत्पन्न करनेवाले यान (बैल गाडी आदि) से यात्रा करता है, अति मैथुन-व्यायाम-मद्यपान या शोक करता है, (जिसको) मार-चोट लगी है, जो विषम आसन-शय्या-स्थान और पैदल चलना इनका सेवन करता है और अन्य भी इस प्रकारका विषम परिश्रम अति मात्रामें करता है इन अपचारो (अपथ्य सेवन) से तथा शोक, मलोंका अति क्षय, अन्न न खाना-इन हेतुओंसे उसके शरीरमें (विशेषत कोष्ठमें) वायुका प्रकोप होता है। वह प्रकुपित वायु कोष्ठ (उदर) में प्रवेश कर, अपने रूक्ष गुण तथा ऊपर लिखे हुए हेतुओंके सेवनसे उत्पन्न रूक्षतासे कठिन हुए कोष्ठमें व्याप्त तथा पिण्डित (गोलाकार) होकर हृदय (उदरका ऊर्ध्वप्रदेश), नाभि (मध्यप्रदेश), दोनों पार्श्व या वस्ति (पेडूमें) अवस्थान–स्थिति करता है तथा शूल और अनेक प्रकारके ग्रन्थि उत्पन्न करता है। वह गुल्मके आकारमें पिण्डित होकर रहता है अत इस व्याधिको **गुल्म** कहते हैं। वायु चलस्वभाववाला होनेसे वातगुल्म कभी बडा और कभी छोटा हो जाता है तथा अनियत रूपसे कभी अधिक और कभी अल्प वेदनावाला होता है, वारवार शरीरमें विशेषत कोष्ठमें चिऊँटियाँ चलती हों ऐसा मालूम होता है, तोद(टीस)-भेदनवत् पीडा–स्फुरण (फडकना)–फैलना-सकुचित होना-सुन्नता-रोमहर्ष प्रलय (लीन हो जाना) और उदय-(उत्पन्न होना, ये लक्षण अधिक होते हैं। वातगुल्मसे पीडित मनुष्य अपनेको सूई या शङ्कु (नुकीले कील) से कोई बींधता हो ऐसा मानता है, उसको सायंकालमें ज्वर आता है, उसका मुँह सूखता है, उच्छ्वास रुकता है तथा वेदनाका प्रादुर्भाव होनेपर रोएँ खडे होते हैं। प्लीहाकी वृद्धि, पेटमें गुडगुडाहट, आँतोंमें आवाज-शब्द होना, अन्न न पचना, उदावर्त, अगोंमें पीडा, मन्या (गर्दनका पिछला भाग)–सिर और कनपट्टीमें शूल-दर्द, ब्रध्नरोग, शीत ज्वर, हृदय-पार्श्व-कथा और सिरमें दर्द, अन्न हजम होने पर शूल वढना और खानेपर शूल शान्त होना ये लक्षण होते हैं, उसके नख-नेत्र-चेहरा-मूत्र और मल काले या अरुण वर्णके और रूक्ष होते हैं। वातगुल्मके जो निदान कहे गये हैं उनसे विशेषत रूक्ष–कसैले–तिक्त और कटु रसवाले पदार्थोंसे रोगकी वृद्धि होती है और उनके विपरीत पदार्थोंके सेवनसे रोगीको आराम मालूम होता है (**च.**); वातगुल्ममें हृदय और कुक्षिका शूल, मुँह और कण्ठका सूखना, वायुका रुकना, अग्निवैषम्य तथा अन्य वातविकार होते हैं (**सु.**)। वातके प्रकोपकाल

(अपराह्न–अपर रात्रि और प्रावृड्ऋतु) में वातगुल्मके लक्षणोंकी वृद्धि होती है, वातगुल्म वस्तिप्रदेश (उदरके अधोभाग-पेड्ड) में होता है[1] (वृ. वा.) ।

पित्तगुल्मके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

वातिक गुल्मके निदानमें कहे हुए ज्वर अतिसार आदिसे कर्शित होने पर अम्ल-लवण चरपरे-क्षार-उष्ण-तीक्ष्ण और रूक्ष पदार्थ तथा सिरका-विगडा हुआ मद्य-हरितक वर्गके

---

१ "यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वर-वमन-विरेचनातिसाराणामन्यतमेन कर्शनेन कर्शितो वातलमाहारमाहरति शीत वा विशेषेणातिमात्रम्, अस्नेहपूर्वे वा वमन-विरेचने पिबति, अनुदीर्णां वा छर्दिमुदीरयति, उदीर्णान् वात-मूत्र-पुरीषवेगान्निरुणद्धि, अत्यशितो वा पिबति नवोदकमतिमात्रम्, अतिसङ्क्षोभिणा वा यानेन याति, अतिव्यवाय-व्यायाम-मद्य-शोकरुचिर्वा, अभिघातमृच्छति वा, विषमाशन-शयन-स्थान-चङ्क्रमणसेवी वा भवति, अन्यद्वा किञ्चिदेवविध विषममतिमात्र व्यायामजातमारभते, तस्यापचाराद्वात प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात् कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थान करोति हृदि वस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्या वा, स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्, पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वात् 'गुल्म' इत्यभिधीयते । स मुहुराध्मति मुहुरल्पत्वमापद्यते, अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति चलत्वाद्वायो, मुहु पिपीलिकासचार इव चाङ्गेषु, तोद भेद-स्फुरणायाम-सङ्कोच-सुप्ति-प्रलयोदयबहुल, तदातुर सूच्येव शङ्कुनेव चाभिसविद्धमात्मान मन्यते, अपि च दिवसान्ते ज्वर्यते, शुष्यति चास्यास्यम्, उच्छ्वासश्चोपरुध्यते, हृष्यन्ति चास्य रोमाणि वेदनाया प्रादुर्भावे, प्लीहाटोपान्त्रकूजनाविपाकोदावर्ताङ्गमर्द-मन्याशिर शङ्खशूल-ब्रध्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति, कृष्णारुण-परुषत्वङ्नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरते इति वातगुल्म ।" (च नि अ ३) । "रूक्षान्न-पान विषमातिमात्र विचेष्टित वेगविनिग्रहश्च । शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतु ॥ य स्थान-सस्थानरुजा विकल्प विड्वातसङ्ग गल-वक्त्रशोषम् । श्यावारुणत्व शिशिरज्वर च हृत्कुक्षि-पार्श्वांस-शिरोरुज च ॥ करोति जीर्णेऽभ्यधिक प्रकोप भुक्ते मृदुत्व समुपैति यश्च । वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्ष-कषाय-तिक्त कटु चोपशेते ॥" (च चि अ ५) । "हृत्कुक्षिशूल मुखकण्ठशोषो वायोर्निरोधो विषमाग्निता च । ते ते विकारा पवनात्मकाश्च भवन्ति गुल्मेऽनिलसभवे तु ॥" (सु उ अ ४२) । "तत्र वातात् सूच्येव च शङ्कुनेव च व्यधो, मन्या शिर -शङ्खशूल, ज्वराङ्गमर्दप्लीहाटोपान्त्रकूजोदावर्तोच्छ्वासोपरोध-मुखशोष स्तब्धगात्रता, वायुकालेषूपद्रववृद्धिर्विषमाग्निता, कृष्णारुण परुषत्वङ्नखादित्व, गुल्मस्य चलत्वाद्वायोरनियत-स्थान-सस्थानोदय-प्रलयाल्प-महारुज, पिपीलिकापरिगत इव तोद-स्फुरणबहुलो, विस्तारयतीव चर्म स्वदेगे कदाचित् कदाचित् सकोचमायातीव, हर्षयति रोमाणि वेदनातिप्रवृत्तौ सर्वस्मिन्नपि देहे, प्रायो वस्त्याश्रयश्च भवति ।" (अ स नि अ ११) । वातान्मन्या-शिर शूल ज्वर-प्लीहान्त्रकूजनम् । व्यध. सूच्येव विट्सङ्ग कृच्छ्रादुच्छ्वसन मुहु ॥ स्तम्भो गात्रे मुखे शोष कार्श्यं विषमवह्निता । रूक्ष-कृष्णत्वगादित्व चलत्वादनिलस्य च ॥ अनिरूपितसस्थान स्थान-वृद्धि क्षय-व्यथ । पिपीलिकाव्याप्त इव गुल्म. स्फुरति तुद्यते ॥" (अ हृ नि अ ११) ।

द्रव्य-खट्टे फल-और विदाही शाक-धान्य-मांस आदि खानेसे, अजीर्णमें भोजन करनेसे, आमाशय रूक्ष होने पर (स्नेहपान किये विना) वमन औषध लेनेसे, अधिक समय वेगोंको रोकनेसे, वायु-अग्नि और धूपका अति सेवन करनेसे, श्रम-अभिघात-रक्तदोष-क्रोध और आमप्रदोष-इन हेतुओंसे वातके साथ पित्तका प्रकोप होता है। प्रकुपित पित्तसे वायु आमाशयके एक प्रदेश (अधोभाग) मे गोलाकार करके वातगुल्ममें कहे हुए वेदनाविशेषोंको उत्पन्न करता है। पित्त कुक्षि, हृदय, छाती और कण्ठमें जलन करता है। पित्तके विदाहसे धुआँ उठता हो ऐसी खट्टी डकारें आती है। गुल्मके स्थानमे भीतरसे दाह, धुआँ उठना सा, उष्ण स्पर्श, पसीना आना, क्लेद (आर्द्रता) मालूम होना, शिथिलता, स्पर्श सहन न होना, अल्प रोमाञ्च होना, ज्वर, चक्कर आना, दाह, प्यास, गला-तालु और मुँह सूखना, मूर्च्छा और मल पतला होना ये लक्षण होते हैं। नख-नेत्र-चेहरा-मूत्र तथा मल हरे और हलदीके रंगके होते हैं। भोजन जीर्ण होनेके समय (पच्यमानावस्था मे) पेटमे बड़ा दर्द होता है और व्रणमें जैसे स्पर्श सहन नहीं होता ऐसे गुल्मस्थानमें स्पर्श सहन नही होता (च.); शरीर लाल होना, मुँह कडुआ-तीता होना तथा पित्तके अन्य लक्षण होते हैं (सु), पित्त-गुल्मके जो हेतु कहे गए हैं उनके सेवनसे गुल्म बढना तथा उनके विपरीत पदार्थोंके सेवनसे विशेषत शीतल पदार्थोंसे आराम मालूम होना ये पित्तगुल्मके लक्षण हैं[१]।

---

१ "तैरेव तु कर्शनै. कर्शितस्याम्ललवण-कटुक-क्षारोष्ण तीक्ष्ण-शुक्त व्यापन्नमद्य-हरितक-फलाम्लाना विदाहिना शाक-धान्य-मासादीनामुपयोगादजीर्णाध्यशनाद्रौक्ष्यानुगते चामाशये वमनमतिवेलं सन्धारण वातातपौ चातिसेवमानस्य पित्त सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपित मारुत आमाशयैकदेशे सवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे। पित्त त्वेन विदहति कुक्षौ, हृद्युरसि, कण्ठे च। स विदह्यमान सधूममिवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितम्। गुल्मावकाशश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति शिथिल इव स्पर्शासहोऽल्प-रोमाञ्चश्च भवति। ज्वर-भ्रम-दवथु-पिपासा-गलतालुमुखशोष-प्रमोह-विड्भेदाश्चैनमुपद्रवन्ति। हरित-हारिद्रत्वङ्नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषश्च भवति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीता-न्युपशेरत इति पित्तगुल्म।" (च नि अ ३)। "कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्रोधाति-मद्यार्कहुताशसेवा। आमाभिघातो रुधिर च दुष्ट पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम्॥ ज्वर पिपासा वदनाङ्गराग. शूल महज्जीर्यति भोजने च। स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्म स्पर्शासह. पैत्तिक-गुल्मरूपम्॥" (च चि अ ५)। "पित्ताद्दाहोऽम्लको मूर्च्छा विड्भेद-स्वेद-तृड्-ज्वरा। हारिद्रत्व त्वगाद्येषु गुल्मश्च स्पर्शनासह॥ दूयते दीप्यते सोष्मा स्वस्थान दहतीव च॥" (अ. हृ. नि अ ११)।

कफगुल्मके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

ज्वर-अतिसार आदिसे अति कर्शित मनुष्य जब अति भोजन करता है, अति स्निग्ध-गुरु मधुर और शीतल पदार्थ, मैदा-गन्ना दूध-तिल-उड़द-और गुडसे बने हुए भक्ष्य पदार्थ, कच्चा दही-कच्चा मद्य हरितक वर्गके पदार्थ—आनूप—औदक और ग्राम्य वर्गके प्राणियोंका मास इनका अति भक्षण करता है, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकता है, भूख लगनेपर खूब जल पीता है, जिससे शरीरको क्षोभ हो ऐसे कार्य करता है, चेष्टा—परिश्रम नहीं करता और दिनमे सोता है तब उसके शरीरमे वायुके साथ कफका प्रकोप होता है। उस कफको वायु आमाशयके एक देश (ऊर्ध्व भाग) मे गुल्मरूप बनाकर वात गुल्ममें कहे हुए वेदनाविशेषोंको उत्पन्न करता है और कफ शीतज्वर, अरुचि, अन्न न पचना, अङ्गमर्द (शरीरकी पीडा), रोमहर्ष, हृद्रोग, उलटी, अधिक नींद आना, आलस्य, शरीर गीले कपडेसे लपेटा हुआ है ऐसा मालूम होना, शरीरका भारीपन, सिरका दर्द, अगोका शैथिल्य, जी मिचलाना, खाँसी, पीडा कम होना, श्वास, जुकाम, अति बढने पर राजयक्ष्मा, गुल्मके स्थानमे स्थैर्य (निश्चलता)-भारीपन-गहरापन और सुन्नता, त्वचा-नख-नेत्र चेहरा-मूत्र और मलमे सफेदी (श्वेतता), कफ गुल्मके जो कारण कहे गये उनके सेवनसे गुल्म बढ़ना और उनके विपरीतके सेवनसे आराम मालूम होगा (च.), मुख और नाक्से कफका स्राव, मुँहका स्वाद मीठा रहना (सु) ये लक्षण उत्पन्न करता है। कफगुल्म हृदय (आमाशयोर्ध्वदेश) और पार्श्वमे होता है (वृद्ध वाग्भट)।

---

१ "तैरेव तु कर्शनै कर्शितस्यात्यशनादतिस्निग्ध-गुरु-मधुर-शीताशनात् पिष्टेक्षु-क्षीर-तिल-माष-गुडविकृतिसेवनान्मन्दकमद्यातिपानाद्धरितकातिप्रणयनादानूपौदक-ग्राम्यमासातिभक्षणात् सन्धारणादप्रबुभुक्षस्य चातिप्रगाढमुदकपानात् सक्षोभणाद्वा शरीरस्य श्लेष्मा सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते। त प्रकुपित मारुत आमाशयैकदेशे सवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे। श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारोचकाविपाकाङ्गमर्द-हर्ष-हृद्रोग-च्छर्दि-निद्रालस्य-स्तैमित्य-गौरव-शिरोभितापानुपजनयति, अपि च गुल्मस्य स्थैर्य-गौरव-काठिन्यावगाढ-सुप्तता, तथा कास श्वास-प्रतिश्यायान् राजयक्ष्माण चातिप्रवृद्ध, श्वैत्य च त्वङ्नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषेषूपजनयति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरते, इति श्लेष्मगुल्म।" (च नि अ ३)। "शीत गुरु स्निग्धमचेष्टन च सपूरण प्रस्वपन दिवा च। गुल्मस्य हेतु कफसभवस्य ××× ॥ स्तैमित्य-शीतज्वर-गात्रसाद-हृल्लास कासारुचि-गौरवाणि। शैत्य रुगल्पा कठिनोन्नतत्व गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥" (च चि अ ५)। "स्तैमित्यमन्नेऽरुचिरङ्गसादश्छर्दि प्रसेको मधुरास्यता च। कफस्य लिङ्गानि च यानि तानि भवन्ति गुल्मे कफसभवे तु ॥" (सु उ. अ ४२)। "कफात् स्तैमित्यमरोचकाविपाकौ हृदयोपलेप शीतज्वरस्तृप्ति सदन कासो हृल्लासः पीनसो निद्राऽऽलस्य नखादिशुक्लता गुल्मश्च सुप्त-स्थिर-कठिनोऽवगाढोऽल्परुक्प्रायो हृत्पार्श्वाश्रयश्च।" (अ. स. नि. अ ११)।

द्विदोषज और सान्निपातिक गुल्मके लक्षण—

दो-दो दोषोंके मिले हुए लक्षण देखकर **वातपित्तज, वातकफज** और **पित्त-कफज** ये तीन द्वन्द्वज गुल्म जानने चाहिए[1]। तीनों दोषोंके हेतुओंका सेवन और लक्षण एकत्र मिले हुए देखकर **निचय-सान्निपातिक गुल्म** जानना चाहिए। सान्निपातिक गुल्ममें बड़ी पीडा होती है, गुल्म दाहयुक्त, पत्थरके सदृश कठिन, उन्नत (उभरा हुआ), शीघ्र पकनेवाला, दारुण, मन-शरीर और अग्निके बलका नाश करनेवाला और विरुद्धोपक्रम (इसमें वातादि दोषोंकी चिकित्सा परस्पर विरुद्ध) होनेसे असाध्य होता है[2]।

रक्तगुल्मके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

रक्तगुल्म स्त्रियोंको ही होता है, पुरुषोंको नहीं होता। क्योंकि गर्भकोष्ठ (गर्भाशय) में आर्तवका आना यह विशेष बात स्त्रियोंमें ही होती है, अर्थात् गर्भाशय स्त्रियोंके शरीरमें ही होता है और गर्भाशयमें प्रतिमास आनेवाले आर्तवके अवरोधसे रक्त-गुल्म होता है-यह विशेषता स्त्रीमें ही होती है, अत स्त्रीको ही रक्तगुल्म होता है, पुरुषको नहीं होता। मल-मूत्र आदिके उत्पन्न वेगोंको रोकना, कच्चा गर्भ गिरने या प्रसव होनेके बाद-ऋतुकालमें तथा योनि (गर्भाशय) के रोग रहने पर रूक्ष-शीत आदि वातप्रकोपक आहार-विहारोंका सेवन करना, ऋतुकालमें भोजन न करना, भय, स्तम्भन औषधादिका सेवन करना, वमन होना-आदि कारणोंसे प्रकुपित अपान वायु गर्भाशयके मुखमें आकर गर्भाशयमें प्रति मास आनेवाले आर्तव-रजका अवरोध करके रक्तगुल्म (शोणितगुल्म) उत्पन्न करता है। रक्तगुल्म उत्पन्न होने पर धीरे-धीरे कुक्षि-पेडू बढ़ना तथा गर्भाशयमें शूल, खाँसी, अतिसार, उलटी, अरुचि, अन्न ठीक हजम न होना, अंगोंमें पीडा, निद्रा अधिक आना, आलस्य, शरीर गीले कपड़ेसे लपेटा हो ऐसा मालूम होना, मुँह और नाकसे कफ आना, जी मिचलाना, शरीर कृश होना, दाह, स्तब्धता, तृषा, हलका ज्वर रहना, स्तनमें दूध उत्पन्न होना, होंठ और स्तनके अग्रभाग (चूचुक) के चारों ओर कालापन होना, नेत्रमें अत्यन्त ग्लानि,

---

१ "निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबल च। व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मा-स्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्॥" (च चि अ ५)। "संसृष्टलिङ्ग संसर्गात्, स त्रिविध॥" (अ स नि अ ११)। २ "त्रिदोषहेतु-लिङ्गसन्निपातात्तु सान्निपातिक गुल्ममुपदिशन्ति धीरा। स विप्रतिपिद्धोपक्रमत्वादसाध्यो निचयगुल्म।" (च नि अ ३)। "विप्रतिपिद्धोप-क्रमत्वात् वातादीनामन्योन्यविरुद्धोपक्रमत्वात्।" (यो.)। "महारुज दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नत शीघ्रविदाहि दारुणम्। मन शरीराग्निबलापहारिण त्रिदोषज गुल्ममसाध्यमादिशेत्॥" (च चि अ ५)। "सर्वात्मक सर्वविकारयुक्त सोऽसाध्य उक्त" (सु उ अ ४२)। "सर्वजस्तीव्ररुग्दाह शीघ्रपाकी घनोन्नत। सोऽसाध्य." (अ. हृ. नि अ. ११)।

कभी-कभी मूर्च्छा (वेहोशी) आना, दोहद (गर्भवती स्त्रीको होनेवाली नाना प्रकारके आहार-विहारकी इच्छा), पॉव पर सूजन, पेड़पर थोड़ी रोमराजि निकलना, योनिमार्ग विस्तृत होना, योनिसे स्राव और दुर्गन्ध आना तथा गुल्मस्थानमें दाह और पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं। गुल्म केवल पिण्डितावस्थामें (हस्त-पादादिके स्पन्दनके विना ही) पीडाके साथ देरीसे फड़कता है (गर्भ हस्त-पादादि अवयवोंके साथ विना पीडाके फडकता-फिरता है यह दोनोमे अन्तर है)[1]। रक्त गुल्म वाली स्त्रीको गर्भ न होने पर भी अज्ञ लोग उसको गर्भिणी वताते है।

---

१ "शोणितगुल्मस्तु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तवागमनवैशेष्यात्। पारतन्त्र्यादवैशारद्यात् सततमुपचारानुरोधाद्वा वेगानुदीर्णानुपरुन्धत्या आमगर्भे वाऽप्यचिरप्रवृत्ते तथाऽचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपणान्यासेवमानाया वात प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितो योन्या मुखमनुप्रविश्यार्तवमुपरुणद्धि। मासि मासि तदार्तवमुपचीयमान कुक्षिमभिवर्धयति। तस्या शूल-कासातिसार-च्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्द-निद्रालस्य-स्तैमित्य कफप्रसेका समुपजायन्ते। स्तनयोश्च स्तन्यम्, ओष्ठयो स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम्, अत्यर्थं ग्लानिश्चक्षुषो, मूर्च्छा, हृल्लास, दोहद, श्वयथुश्च पादयो, ईषच्चोद्गमो रोमराज्या, योन्याश्चाटालत्वमपि च दौर्गन्ध्यमास्रावश्चोपजायते। केवलश्चास्या गुल्म पिण्डित एव स्पन्दते। तामगर्भां गर्भिणीमाहुर्मूढा।" (च नि अ ३)। "गर्भार्थः कोष्ठो गर्भकोष्ठस्तस्मिन् गर्भकोष्ठे य आर्तवस्यागमनरूपो विशेषो रक्तगुल्मकारण, स स्त्रिया एव भवति, तेनैवरूप आर्तवप्रतिवन्धजन्य शोणितगुल्म पुरुषस्य न भवति। ××× योनिमुखमिति गर्भाशयद्वारम्। ××। स्तनयो स्तन्यमिति रोगप्रभावादेव वोद्धव्यम्।" (च)। "योन्या चाटालत्व विस्तृतत्वम्। गर्भलिङ्ग दर्शयित्वा गर्भतो भेदमाह-केवल इति। अस्या केवल कृत्स्न पिण्डित एव गर्भे न तु अङ्गै स्पन्दते। गुल्म सशूल स्पन्दते, गर्भस्तु कर-चरणाद्यवयवैन नि शूल स्पन्दते।" (यो)। "ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च। सस्तम्भनोल्लेखन-योनिदोषैर्गुल्म स्त्रिया रक्तभवोऽभ्युपैति। य स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात् सशूल समगर्भलिङ्ग। स रौधिर स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्य॥" (च चि अ ५)। "नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा। वायुर्हि तस्या परिगृह्य रक्त करोति गुल्म सरुज सदाहम्। पैत्तस्य गुल्मस्य समानलिङ्ग विशेषण चाप्यपर निवोध। न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिं भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनाम्॥" (सु उ अ. ४२)। "ऋतौ वा नवसूता वा यदि वा योनिरोगिणी। सेवते वातलानि स्त्री क्रुद्धस्तस्या समीरण॥ निरुणद्ध्यार्तव योन्या प्रतिमासमवस्थितम्। गुल्म करोति तद्गर्भलिङ्गमाविष्करोति च॥ हृल्लास दौहृद-स्तन्यदर्शन क्षामतादिकम्। क्रमेण वायुससर्गात् पित्तयोनितया च तत्॥ शोणित कुरुते तस्या वात-पित्तोत्थगुल्मजान्। रुक्स्तम्भ-दाहातीसार-तृड्ज्वरादीनुपद्रवान्॥ गर्भाशये च सुतरा शूल दुष्टासृगाश्रये। योन्याश्च स्राव-दौर्गन्ध्य-तोद-स्पन्दन-वेदना.॥ न चाङ्गैर्गर्भवद्गुल्म स्फुरत्यपि तु शूलवान्। पिण्डीभूत स एवास्या कदाचित् स्पन्दते चिरात्॥ न चास्या वर्धते कुक्षिर्गुल्म एव तु वर्धते।" (अ हृ नि. अ. ११)।

अन्तर्गुल्मके लक्षण—

गुल्म जब अन्दर गहराईमें होता है तब वस्ति–कुक्षि–हृदय और प्लीहामें वेदना, जठराग्नि–वर्ण और बलका भ्रंश (कम होना) तथा मल–मूत्रादिके वेगोंकी अल्प प्रवृत्ति होना–ये लक्षण होते हैं[1]।

बाह्यगुल्मके लक्षण—

गुल्म जब बाहरके भागमें होता है तब कोष्ठके अवयवोंमें अति पीडा नहीं होती, गुल्म स्थानकी त्वचा विवर्ण होती है तथा बाहरके भागमें अधिक ऊँचाई दीखती है[2]।

गुल्मके असाध्य लक्षण—

जो गुल्म क्रमशः सञ्चित होकर (बढ कर) उदरका बडा (अधिकांश) प्रदेश व्याप्त कर ले, मांसादि धातुमें जड जमा ले, सिराजालवाला हो, कछुएकी पीठ जैसा उभरा हुआ हो तथा दुर्बलता-अरुचि-जी मिचलाना–खाँसी-उलटी-ज्वर-बेचैनी–तृषा-तन्द्रा और प्रतिश्याय इन लक्षणोंसे युक्त हो वह असाध्य होता है। जिस ज्वर-श्वास-वमन और अति-सारसे पीडित गुल्मरोगीको हृदय-(छाती), नाभि, हाथ और पाँव पर शोथ उत्पन्न हो जाय वह गुल्मवाला मरता है। जिस गुल्मवालेको श्वास, पेटमें शूल, तृषा, अन्न पर द्वेष, ग्रन्थिरूप गुल्मका अकस्मात् विलयन होना (बैठ जाना) और दुर्बलता ये उपद्रव हों वह मरता है[3]।

गुल्म और अन्तर्विद्रधिमें भेद—

अन्तर्विद्रधिकी सम्प्राप्तिमें पहले कहा गया है कि–'प्रकुपित दोष एक-एक या मिल कर गुल्मके आकारका अन्तर्विद्रधि उत्पन्न करते हैं' इस प्रकार गुल्म और अन्तर्विद्रधि-की सम्प्राप्ति समान होने पर गुल्म पकता नहीं है और विद्रधि पकता है यह दोनोंमें स्पष्ट विशेष (अन्तर-भेद) है, यह बताया जाता है—जैसा जलके अन्दर बुद्बुद (बुलबुला) उत्पन्न होता है इसी प्रकार उदरविवरके अन्दर बिना किसी (दूष्यके) आश्रयके दोष स्वयं गुल्मके रूपमें उत्पन्न होते हैं और विद्रधिमें दोष मांस और रक्तमें आश्रय करके विद्रधि उत्पन्न करते हैं। गुल्मका कोई निबन्ध-मूल (आश्रय-स्थान) नहीं होता है इस

---

१ 'गुल्मेऽन्तराश्रये वस्ति-कुक्षि-हृत्प्लीहवेदना। अग्नि-वर्ण बलभ्रंशो वेगानां चाप्रवर्तनम्॥" (अ. स. नि. ११)। २ "अतो विपर्ययो बाह्ये कोष्ठाङ्गेषु तु नातिरुक्। वैवर्ण्यमवकाशस्य बहिरुन्नतताऽधिकम्॥" (अ. स. नि. अ. ११)। ३ "सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तु-परिग्रहः। कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः॥ दौर्बल्यारुचि-हृल्लास-कास-च्छर्द्यरति ज्वरैः। तृष्णा-तन्द्रा-प्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति॥ गृहीत्वा स ज्वर-श्वास-च्छर्द्यतीसारपीडितम्। हृन्नाभि-हस्त-पादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम्॥" (च. चि. अ. ५)। "गुल्मो यदा क्रमशः सञ्चितो, महावास्तुपरिग्रहो भूरिदेशव्यापी, अन्तः कृतमूलो धात्वन्तरावगाही, सिरानद्धः सिराजालवान्, कूर्म इव उन्नतः, दौर्बल्यादिभिरुपद्रवैश्च युज्यते तदा न सिध्यति।" (यो.)। "श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता। जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै॥" (सु. सू. अ. ३३)।

लिए गुल्म पकता नहीं है और विद्रधि मास तथा रक्तका आश्रय करके उत्पन्न होता है इसलिए चिकित्सा न होनेपर पकता है (सु.)। सर्व प्रकारके गुल्म अपने आरम्भक दोपको आश्रय करके उत्पन्न होते हैं अत पकते नहीं हैं अथवा चिकित्सा न होनेपर जब रक्तादि धातुका आश्रय करते हैं तब पकते हैं; परन्तु विद्रधि अति दुष्ट रक्तका आश्रय करके उत्पन्न होता है, अत शीघ्र पकता है[1] (वृ. वा.)।

---

१ "विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्ट विद्रधिगुल्मयो । गुल्मदोषसमुत्थानाद्विद्रधेर्गुल्मकस्य च ॥ कस्मान्न पच्यते गुल्मो विद्रधि. पाकमेति च । न निबन्धोऽस्ति गुल्माना विद्रधि सनिबन्धन. ॥ गुल्माकारा. स्वय दोषा विद्रधिर्मांस-शोणिते । विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा ॥ एवप्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाक न गच्छति । मास-शोणितबाहुल्यात् पाक गच्छति विद्रधि. ॥ मास-शोणितहीनत्वाद्गुल्म पाक न गच्छति । गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांस-शोणिते ॥ विद्रधि पच्यते तस्माद्गुल्मश्चापि न पच्यते ।" (सु नि. अ. ९)। "यत् प्रागुक्त–'पृथक् सभूय वा दोषा कुपिता गुल्मरूपिणम् ।' इत्यनेकरूपत्वादन्तर्विद्रधिगुल्मयो कुतो गुल्मादस्य पाककृतो विशेष इत्याह—विशेषमथेत्यादि । समुत्थान कारण द्वयोर्विद्रधि-गुल्मयो· समान, तत् कथ गुल्मो न पच्यत इति सशयमुत्पाद्य स्वयमेव शिष्याणा हिततया सिद्धान्तमात्र-सूत्रणमाचार्येण कृतम् । एव मन्यते–भेदो हि भेदवता कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाद्वा भवति, तत्र कारणमभिन्नमिति सर्वथैवाभेदेन भवितव्यमित्याशङ्क्योपादानकारणभेदेनानयोर्भेदमेव दर्शयन्नाह— न निबन्धोऽस्तीत्यादि । निश्चित्य बध्नातीति निबन्धो मूल रस-रक्तादि, दूष्याणामभावाद्गुल्माना मूल नास्तीति । कुत पुनरेषा महत्तरशोथरूपाणा मूल नास्तीत्याह—गुल्माकारा स्वय दोषा इति । गुल्माकारा गुल्मरूपा आत्मनैव, दोषा वातादय , न पुनर्दूष्यसश्रया । विद्रधेस्तु मूल सहेतुमाह— विद्रधिर्मांस-शोणिते, 'भवति' इति शेष । ×। तत्र कथ पित्ते कफे वा द्रवे वातजनितस्य गुल्मस्य स्थितिरित्याह–विवरानुचरो गुल्मो ह्यप्सु बुद्बुदको यथा । ×। किंविशिष्टो गुल्मो भवती-त्याह–गुल्मस्तिष्ठति स्वे दोषे इति, दोषे एव वात-पित्त-कफरूपे । दोषमात्रास्तित्व पुनरप्सु बुद्बुदको यथेत्यनेन प्रतिपादितम् । गुल्मश्चापि न पच्यत इत्यपिशब्देन पच्यतेऽपि गुल्म इति काय-चिकित्सासिद्ध गुल्मपाकित्वमुक्त समुच्चीयते । तदुक्त चरके–"रक्तपित्तातिबाहुल्यात् क्रियामनुप-लभ्य वा । गुल्मो यत्र विदह्येत तत्र शस्त्र भिषग्जितम् ॥" (च चि अ ५)। दैववशा-द्गुल्मोऽपि कृतपरिग्रह पच्यते । स खलु समूलत्वाद्विद्रधिरेवेति धान्वन्तरीयाणा मतमिति ।" (गयदासः)। "स्वदोषाधिष्ठानश्च सर्वो भवति गुल्म , तस्माच्चिरेण नैव वा पाकमेति, भृश-दुष्टरक्ताश्रयत्वात्तु विद्रधि. शीघ्रपाको भवति ।" (अ स. नि. अ ११)। "गुल्मस्य पाक सुश्रुते निषिद्ध –"स यस्मादात्मनि चय गच्छत्यप्स्विव बुद्बुद । अन्त सरति यस्माच्च न पाक-मुपयात्यत. ॥" (सु उ. अ ४२) इति, तथाऽपीह कृतवास्तुपरिग्रहस्य गुल्मस्य पाक उच्यते, 'यस्त्वकृतवास्तुपरिग्रह. स न पच्यते इतीहाप्यनुमत, यस्तु कृतवास्तुपरिग्रहतया पच्यते, तस्य विद्रधित्वेन पाको जायत इति सज्ञामात्रेण विसवाद ।" (च. द, च. चि. अ ५ श्लो. ४५ व्याख्यायाम्)।

वक्तव्य–यह धन्वन्तरि सम्प्रदायवालोंका मत है। चरक गुल्मचिकित्सामें लिखते हैं कि-"रक्त और पित्तकी अधिकतासे या चिकित्सा न होने पर यदि गुल्ममें पाक हो तो वहाँ शस्त्रचिकित्सा करनी चाहिए।" इस प्रकार अवस्थाविशेषमें चरकने गुल्ममें पाक होना लिखा है। इस पर धन्वन्तरि सम्प्रदायवाले कहते हैं कि—गुल्म सामान्यत निराश्रय होता है, तथापि वह चिकित्सा न होने पर जब बढ कर मास और रक्तका आश्रय करता है तब पित्तकी अधिकतासे उसमें पाक होता है, उस अवस्थामें वह गुल्म न रह कर विद्रधिका रूप धारण करता है, अत उसका पाक होता है। इससे गुल्ममें पाक नहीं होता इस सिद्धान्तमें बाधा नहीं पहुंचती।

क्रिमिरोगाधिकार।

कारणभेदसे क्रिमियोंके भेद—

पहिले सूत्रस्थानके **अष्टोदरीय** नामक १९ वे अध्यायमें **सहज** (जन्मसे ही शरीरके साथ उत्पन्न होने वाले अवैकारिक) क्रिमियोंको छोड कर **पुरीषज, श्लेष्मज, शोणितज (रक्तज)** और **मलज (बहिर्मलज)** भेदसे क्रिमियोंके चार प्रकार-(भेद) उद्देश (नाम) मात्रसे कहे गए हैं। अब इस प्रकरण-क्रिमिरोगाधिकार-में उनका विस्तारसे वर्णन किया जाता है (**च.**)। बीस प्रकारकी क्रिमि जातियाँ विकृत पुरीष, कफ और रक्त–इन तीन कारणोंसे उत्पन्न होती है (**सु.**)। **बाह्य** (शरीरके बाहर केश-त्वचा आदिमें होनेवाले) तथा **आभ्यन्तर** (शरीरके भीतर आमाशयपक्वाशय रक्त आदिमें होने वाले) इन प्रकार आश्रय भेदसे क्रिमि दो प्रकारके होते हैं (**वा.**)।

वक्तव्य–सुश्रुतने क्रिमियोंके **पुरीषज, कफज (श्लेष्मज)** और **रक्तज** ये तीन ही भेद माने हैं, **मलज (बहिर्मलज)** भेद नहीं माना है। आयुर्वेदके मतानुसार सब प्रकारके निज (शारीर) रोगोंकी उत्पत्ति विकृत वातादिके द्वारा होती है, तथापि घृतस्थ या तैलस्थ अग्निसे जल जाने पर **घृतदग्ध** (घीसे जल गया) या **तैलदग्ध** (तैलसे जल गया) ऐसा व्यपदेश होता है, इसी प्रकार विकृत वातादिसे उत्पन्न क्रिमियोंके लिए **पुरीषज, रक्तज, मलज** आदि व्यपदेश होता है। **क्रिमि** और **कृमि** ये दोनों शब्द पर्याय–समानार्थक हैं[1]।

---

१ "इह खल्वग्निवेश! विंशतिविधा क्रिमय पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्य। ते पुन. प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा पुरीषजा, श्लेष्मजा, शोणितजा, मलजाश्चेति।" (च वि अ ७)। "पूर्वमुद्दिष्टा इति अष्टोदरीये सख्यामात्रकथिता। अन्यत्र सहजेभ्य इत्यनेन शरीरसहजास्त्ववैकारिका विंशतेरप्यधिका भवन्तीति दर्शयति। प्रकृतिभि कारणै।" (च. द)। "विंशते क्रिमिजातीना त्रिविध सभव स्मृत। पुरीष-कफ-रक्तानि" (सु उ अ ५४)। "सभव कारणम्। × ×। यद्यपि क्रिम्यारम्भका न पुरीषादय, तथाऽप्युपचारात् पुरीषादीनामपि क्रिम्यारम्भकत्वम्। पुरीषाद्यधिष्ठिता दोषा अपि पुरीषादि, घृतादिदग्धवत्। एतेनाजीर्णादिभि प्रकुपिता दोषा पुरीषादीन्यधिष्ठाय क्रिमीन् जनयन्ति।" (**ड.**)। "कृमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदत।" (अ सं नि अ १४)।

मलज क्रिमियोंका वर्णन—

मल दो प्रकारका होता है-**बाह्य** (त्वचाके बाहर होने वाला) और **आभ्यन्तर** (शरीरके भीतर होने वाला)। वातादिदुष्ट बाह्य मलसे उत्पन्न होने वाले कृमियोंको **मलज कृमि** कहा जाता है। स्नान (नहाना), प्रक्षालन (धोना) आदिसे शरीरकी सफाई न रखनेसे मलज क्रिमि उत्पन्न होते है। केश (सिरके बाल), श्मश्रु (दाढी-मूँछके बाल), लो(रो)म (अन्यत्र शरीर पर होने वाले बाल-रोएँ), पक्ष्म (पलकके बाल) और शरीर पर पहने हुए कपडे-ये मलज क्रिमियोंके आश्रय-स्थान हैं। ये क्रिमि आकृतिमे छोटे, तिलके सदृश और अनेक पाँव वाले (बहुपाद) होते है। इनका वर्ण काला या सफेद होता है। ये दो प्रकारके होते हैं। इनके नाम **यूका (जूँ)** और **पिपीलिका** (वाग्भटके मतमे **लिक्षा-लीख**) हे । खुजली, ददोडे-चकत्ते और फुन्सियाँ उत्पन्न करना ये इनके प्रभाव-कर्म हैं[1] ।

रक्तज कृमियोंका वर्णन—

जिन कारणोंसे कुष्ठ (त्वग्दोष) की उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणोंसे रक्तज क्रिमियोंकी उत्पत्ति होती है। ये क्रिमि रक्तवाहिनी धमनियो और सिराओंमे रहते हैं। ये आकृतिमे अणु-सूक्ष्म, वृत्त-गोल और पादरहित (या अल्पपाद) होते हैं । इनमेंके कई कृमि अति सूक्ष्म होनेसे ऑखसे देखे नही जा सकते (सूक्ष्मदर्शक-मायक्रोस्कोप यन्त्रकी सहायतासे देखे भी जा सकते हैं)। रक्तज कृमि लाल रग (ताम्रवर्ण) के होते है। **केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औदुम्बर और जन्तुमाता** ये इनके नाम हैं। केश-श्मश्रु-लोम और पक्ष्मका नाश करना, व्रणगत क्रिमियोका रोमहर्ष-खुजली-सूई चुभने सी वेदना और व्रणमे फिरना ये कर्म है। जब ये कृमि अति बढ़ते है तब त्वचा, रक्तवाहिनी, स्नायु, मास और तरुणास्थि-इनको खा जाते (नष्ट करते) है **(च.)**। सयोग-मात्रा आदिसे विरुद्ध पदार्थों और शाकादिके खानेसे तथा अजीर्णसे रक्तज क्रिमि उत्पन्न होते हैं। **केशाद** (केश खानेवाले), **लोमाद** (लोम खानेवाले), **नखाद** (नख खाने वाले), **दन्ताद** (दाँत खानेवाले), **किक्किश** (उदुम्बरके बीजसदृश), **कुष्ठज** (कुष्ठसे होने या कुष्ठमें रहने वाले) तथा **परिसर्प** (चारों तरफ फिरने वाले या विसर्पमें रहनेवाले) ये सात इनके भेद हैं । ये कृमि वर्णमे रक्त या कृष्ण तथा

---

१ "तत्र मलो बाह्य आभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यमलजातान् मलजान् व्या(स)चक्ष्महे। तेषां समुत्थान मृजावर्जन, स्थान केश-श्मश्रु-लोम पक्ष्म-वासासि, सस्थानमणवस्तिलाकृतयो बहुपादाश्च, वर्ण. शुक्ल कृष्णश्च, नामानि यूका पिपीलिकाश्च, प्रभाव कण्डूजनन कोठ-पिडकानिर्वर्तन च।" (च वि अ ७)। "बाह्यास्तत्रामृजोद्भवा.। तिलप्रमाण सस्थान-वर्णा केशाम्बराश्रया ॥ बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामत । द्विधा ते कोठ-पिडका-कण्डू-गण्डान् प्रकुर्वते ॥" (अ. स. नि अ. १४)।

स्निग्ध और चौड़े होते हैं । ये क्रिमि प्राय रक्तदोपज विकारोंको उत्पन्न करते हैं (रक्तदोपज विकारोंका वर्णन **आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान-पूर्वार्धमें** पृ ६९ पर देखें)[१] ।

श्लेष्मज कफज कृमियोंका वर्णन—

दूध, गुड, तिल, मछली, आनूप प्राणियोंका मास, मैदेसे बने हुए भक्ष्य, खीर, कुसुमके बीजोंका तैल, अध कच्चा-पका अन्न, सड़े हुए पदार्थ, गले हुए या क्लेद उत्पन्न करने वाले पदार्थ, सयोग मात्रादिसे विरुद्ध पदार्थ, असात्म्य पदार्थ, मधुर अन्न, सत्तू, नये चावलका भात—इनके खानेसे और हित–अहित पदार्थोंको एकत्र मिला कर खानेसे श्लेष्मज कृमि उत्पन्न होते हैं । उनके रहनेका स्थान आमाशय (और पच्यमानाशय) होता है । ये जब बढ़ते हैं तब ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर या दोनों ओर (सर्वत्र) फैलते हैं । उनकी आकृति और वर्ण इस प्रकारके होते हैं—कई चौडी कपड़ेकी पट्टी (फीते) जैसे और श्वेतवर्णके, कई परिणाहमें गोल, केंचुएकी आकृतिके और ललाई लिए श्वेत वर्णके, कई छोटे, लंबे, तन्तु जैसे और श्वेत वर्णके होते हैं । तीन प्रकारके कफज क्रिमियोंके ये नाम हैं—**अन्त्राद, उदराद, हृदयाद, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक** और **महागुद** । जी मिचलाना, मुँहसे लार निकलना, अरुचि, अपचन (हजम न होना), ज्वर, मूर्च्छा, उबासी, छींकें आना, आनाह, शरीरमें पीडा, उलटी, कृशता और शरीर रूक्ष होना ये कफज क्रिमियोंके प्रभाव–कार्य हैं (च.) । मास, उडद, गुड, दूध, दही और तैलके अति सेवनसे कफज क्रिमि होते हैं । कफके प्रकोपसे **दर्भपुष्प, महापुष्प, प्रलून, चिपिट, पिपीलिक** और **दारुण** ये छह प्रकारके क्रिमि होते हैं । कफज क्रिमि सारे शरीर पर या सिर पर रोएँ वाले, पूँछवाले, काले मण्डल (गोल दाग) वाले, धान्यके अकुर जैसे, पतले और श्वेत वर्णके होते हैं । मज्जाका भक्षण, नेत्रमें चिपकना, तालु और

---

१ "शोणितजाना तु कुष्ठ. समान समुत्थान, स्थान रक्तवाहिन्यो धमन्य ; सस्थानमणवो वृत्ताश्चापादाश्च, सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या , वर्णस्ताम्र , नामानि **केशादा, लोमादा, लोमद्वीपा, सौरसा, औदुम्बरा, जन्तुमातरश्चेति**, प्रभाव केश-श्मश्रु-लोम-पक्ष्मापध्वसो, व्रणगताना च हर्ष-कण्डू-तोद-सर्सर्पणानि, अतिप्रवृद्धाना च त्वक्सिरा-स्नायु-मास-तरुणास्थिभक्षणमिति ।" (च वि अ ७) । "रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणव । अपादा वृत्त-ताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शना. ॥ **केशादा लोमविध्वसा लोमद्वीपा उदुम्बरा** । षट् ते कुष्ठैक-कर्माण सह **सौरस-मातर.** ॥" (अ ह नि अ १४) । "केश-रोम-नखादाश्च दन्तादा किक्किशास्तथा । कुष्ठजा सपरीसर्पा ज्ञेया शोणितसभवा ॥ ते सरक्ताश्च कृष्णाश्च स्निग्धाश्च पृथवस्तथा । रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकाराञ्जनयन्ति हि । निरुद्धाजीर्ण-शाकाद्यै शोणितोत्था भवन्ति हि ।" (सु उ अ ५४) । "किक्किशा उदुम्बरबीजसदृशा । परि सर्वत सर्पन्तीति परिसर्पा । ते तु पुन सूक्ष्मा यूका इव लक्ष्यन्त इत्याहु प्राञ्च ।" (हा) ।

कानका खाना (उनमें पाक उत्पन्न करना) तथा शिरोरोग, हृद्रोग, वमन और प्रतिश्याय-जुकाम उत्पन्न करना ये कफज क्रिमियोंके कार्य हैं (सु)।

पुरीषज क्रिमियोंका वर्णन—

जिन हेतुओंसे कफज क्रिमि होते हैं उन्हीं कारणोंसे पुरीषज क्रिमि भी उत्पन्न होते हैं। पुरीषज क्रिमियोंका आश्रय-स्थान पक्वाशय है। ये जब बढ़ते हैं तब प्रायः नीचेकी ओर फैलते हैं, अत्यन्त बढ़ कर जब आमाशयकी ओर फैलते हैं तब रोगीके उद्गार और निःश्वासमें विष्ठाकी गन्ध आने लगती है। वर्ण और आकृतिमें कई सूक्ष्म-गोल-श्वेतवर्ण तथा लम्बे ऊनके धागेके सदृश और कई स्थूल-गोल और श्याव-काले-हरे या पीले रंगके होते हैं। **ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूल और सौसुराद** ये इनके नाम हैं। मल पतला करना, शरीरकी कृशता, रूक्षता और रोमहर्ष, तथा गुदाके अन्तमें सूई चुभने सी वेदना और खुजली उत्पन्न करना—ये उनके कार्य हैं। ये कृमि कई बार गुदाके बाहर भी आते हैं। (च.)। उड़द, मैदेसे बने हुए भक्ष्य पदार्थ, विदल (दालवाले) धान्य (शिम्बीधान्य) और पत्रशाकोंके

---

१ "श्लेष्मजाः पुनः क्षीर-गुड-तिल-मत्स्यानूपमांस-पिष्टान्न-परमान्न-कुसुम्भस्नेहाजीर्ण-पूति-क्लिन्न-विरुद्धासात्म्यभोजनसमुत्थानाः। तेषामामाशयः स्थानं, ते प्रवर्धमानाः ऊर्ध्वमधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा। संस्थान-वर्णविशेषास्तु श्वेताः पृथुब्रध्नसंस्थानाः केचित्, केचिद्वृत्तपरिणाहा गण्डूपदाकृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च, केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः। तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि—**अन्त्रादा, उदरादा, हृदयादा, चुरवः, दर्भपुष्पाः, सौगन्धिका, महागुदाश्चेति।** प्रभावो-हृल्लास आस्यस्रवणमरोचकाविपाकौ ज्वरो मूर्च्छा जृम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दश्छर्दिः कार्श्यं पारुष्यमिति।" (च. वि. अ. ७)। "कुष्ठैकहेतवोऽन्तर्जाः, श्लेष्मजास्तेषु चाधिकम्। मधुरान्न-गुड-क्षीर-दधि-सक्तु-नवोदनैः॥ कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः। पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः॥ रूढधान्याङ्कुराकारास्तनु-दीर्घास्तथाऽणवः। श्वेतावभासास्ताम्राश्च नामतः सप्तधा तु ते॥ **अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः। चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते तु कुर्वते॥** हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्। मूर्च्छा-च्छर्दि-ज्वरानाह-कार्श्य-क्षवथु-पीनसान्॥" (अ. सं. नि. अ. १४)। "मांस-माष-गुड-क्षीर-दधि-तैलैः कफोद्भवाः। **दर्भपुष्पा महापुष्पाः प्रलूनाश्चिपिटास्तथा॥ पिपीलिका दारुणाश्च** कफदोषसमुद्भवाः। रोमशा रोममूर्धानः सपुच्छाः श्यावमण्डलाः॥ रूढधान्याङ्कुराकाराः शुक्लास्ते तनवस्तथा। मज्जादा नेत्रलेढारस्तालु-श्रोत्रभुजस्तथा। शिरोहृद्रोग-वमथुप्रतिश्यायकराश्च ते॥" (सु. उ. अ. ५४)। "महापुष्पा अपराजितालता, तत्सादृश्यात् क्रमयस्ते **महापुष्पाः** कथ्यन्ते। अन्तरा अन्तरा छिन्ना इति **प्रलूनाः**। चिपिटाः पृथुकाः, तदाकृतयः **चिपिटाः**। **दारुणाः** गोमयकीटाकृतयो दृढशिरसः, एते प्रायः शिरसि जाताः शिरोरोगं जनयन्तीति बहुकृत्वोऽपश्याम। × ×। तनवः कृशाः सूत्राकारा इति यावत्।" (हा.)।

खानेसे पुरीषज कृमि उत्पन्न होते हैं। **अजव, विजव, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चुरु और द्विमुख** ये सात उनके नाम (जातियाँ) हैं । पुरीषज कृमि श्वेतवर्ण और छोटे होते हैं। इनमेसे कई कृमियोकी पूँछ चौड़ी होती है । ये कृमि गुदाकी तरफ फैलते है और वहाँ सूई चुभने सी वेदना तथा शूल, अग्निमान्द्य, पाण्डुरोग, विष्टम्भ (कब्जियत), वलक्षय, लालास्राव, अरुचि, हृद्रोग और मल पतला होना ये लक्षण उत्पन्न करते हैं। गण्डूपद कृमि रक्त वर्णके और लंबे होते हैं तथा गुदामे कण्डू, शूल, पेटमे गुड-गुडाहट, मल पतला होना और जठराग्निकी मन्दता ये लक्षण उत्पन्न करते हैं (सु.)[१] ।

सर्व प्रकारके क्रिमियोंके सामान्य हेतु—

अजीर्ण, अध्यशन (एक वार खाया हुआ अन्न हजम हुए विना दूसरी वार खाना), असात्म्य-विरुद्ध और मलिन आहार खाना, परिश्रम न करना, दिनमे सोना, गुरु-अति स्निग्ध और शीतल पदार्थ खाना, उडद-मैदेसे वनाए हुए भक्ष्य-द्विदल धान्य-विस (कमल के नाल)-कमलके कन्द-कसेरु-पत्रशाक-सुरा-सिरका-दही-दूध-गुड-गन्ना-तिलका कल्क-आनूप प्राणियोंका मास-खली-धानका चूरा तथा मधुर और अम्ल द्रव पदार्थ-इनके सेवनसे

---

१ "पुरीषजास्तुल्यसमुत्थाना श्लेष्मजै । तेषा पक्वाशय एव स्थानम् । ते प्रवर्धमानास्त्वधो विसर्पन्ति, यस्य पुनरामाशयोन्मुखा स्युस्तस्योद्गार-नि श्वासा पुरीषगन्धिन. स्यु । सस्थान-वर्णविशेषास्तु सूक्ष्मवृत्तपरिणाहाः श्वेता दीर्घोर्णाशुसकाशा. केचित्, केचित् पुन. स्थूलवृत्त-परिणाहा श्याव-नील-हरित पीता. । तेषा नामानि-ककेरुका, मकेरुका, लेलिहा, सशूलका., सौसुरादाश्चेति । प्रभाव पुरीषभेद , कार्श्य, पारुष्य, रोमहर्षाभिनिर्वर्तन च । त एव चास्य गुदमुख परितुदन्त कण्डू चोपजनयन्तो गुदमुख पर्यासते । ते जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिवेल कुर्वन्ति ।" (च वि अ ७)। "पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिण । वृद्धास्ते स्यु-र्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखा ॥ तदाऽस्योद्गार-निःश्वासा विड्गन्धानुविधायिन । पृथु-वृत्त-तनु-स्थूला श्याव-पीत-सितासिता ॥ ते पञ्च नाम्ना कृमय ककेरुक-मकेरुकाः । **सौसुरादाः** सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति च ॥ विड्भेद-शूल-विष्टम्भ-कार्श्य-पारुष्य-पाण्डुता । रोमहर्षाग्नि-सदन गुदकण्डूर्विमार्गगा ॥" (अ स नि १४)। "माष-पिष्टान्न-विदल-पर्णशाकै पुरीषजा । **अजवा विजवाः किप्याश्चिप्या गण्डूपदास्तथा ॥ चुरवो द्विमुखाश्चैव** ज्ञेया सप्त पुरीषजा । श्वेता सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुद प्रतिसरन्ति च ॥ तेषामेवापरे पुच्छै पृथवश्च भवन्ति हि । शूलाग्नि-मान्द्य-पाण्डुत्व-विष्टम्भ-वलसक्षया ॥ प्रसेकारुचि-हृद्रोग-विड्भेदास्तु पुरीषजै । रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुदकण्डूनिपातिन. ॥ शूलाटोप-शकृद्भेद-पक्तिनाशकराश्च ते ।" (सु उ अ ५४)। "एष्वजवा अन्नान्यदन्तीति व्युत्पत्त्या अन्नादा., विजवा उदरमावेष्ट्य तिष्ठन्तीति व्युत्पत्त्या **उदरा-वेष्टा** उच्यन्ते इति परम्परोपदेश । × × । चुरव. पृथुका दीर्घाश्च । गुद प्रति गुद लक्षीकृत्ये-त्यर्थः । गुदकण्डू निपातयितु शीलमेषामिति गुदकण्डूनिपातिन ।" (हा.)।

कफ और पित्त प्रकुपित हो कर नाना स्थानमे होने वाले, नाना प्रकारके क्रिमियोंको उत्पन्न करते हैं। कफज कृमि प्राय आमाशयमे, पुरीषज कृमि प्राय पक्वाशयमे, तथा रक्तज कृमि प्राय धमनियो(रक्तवाहिनियो)मे उत्पन्न होते हैं[1]।

शरीरमें क्रिमि उत्पन्न होनेके सामान्य लक्षण—

ज्वर, शरीरका वर्ण वदलना, पेटमे शूल, हृद्रोग, अवसाद, चक्कर आना, अन्न पर द्वेष और अतिसार ये क्रिमि उत्पन्न होनेके लक्षण हैं[2]।

अर्शोरोगाधिकार।

'अर्श' शब्दकी निरुक्ति—

शत्रु जैसे भाग छुटने-निकलने-के मार्गोंका अवरोध करके मनुष्यको पीडा करता या मारता है, इसी प्रकार जो रोग गुदमार्गका अवरोध करके रोगीको पीडा करता या मारता है उसको **अर्श** कहते हैं[3]।

अर्शका सामान्य लक्षण—

प्रकुपित वातादि दोष त्वचा-रक्त मास और मेदको दूषित करके गुदा (कर्ण-नासा) आदिमे नाना प्रकारके मासकील-मासाङ्कुर-मासप्ररोह (मासके सदृश अकुर-मसे) उत्पन्न करते है, उनको **अर्श** कहते हैं[4]।

अर्शके भेद—

उत्पत्तिभेदसे अर्श दो प्रकारके होते है-(१) **सहज** (जन्मसे ही शरीरके साथ उत्पन्न होने वाले) और (२) **जातोत्तरकालज** (जन्मके अनन्तर-उत्तर कालमे

---

१ "अजीर्णाध्यशनासात्म्य-विरुद्ध मलिनाशनै । अव्यायाम-दिवास्वप्न-गुर्वतिस्निग्ध-शीतलै ॥ माष-पिष्टान्न-विदल बिस-शालूक-कसेरुकै । पर्णशाक-सुरा-शुक्त-दधि-क्षीर-गुडेक्षुभि ॥ पललानूप-पिशित-पिण्याक पृथुकादिभि । स्वाद्वम्लद्रवपानैश्च श्लेष्मा पित्त च कुप्यति ॥ कृमीन् बहुविधाकारान् करोति विविधाश्रयान् । आम-पक्वाशये तेषा कफ-विड्जन्मना पुन ॥ धमन्या रक्तजाना च प्रसव प्रायश स्मृत ।" (सु उ अ ५४)। "अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रिय पिष्ट-गुडोपभोक्ता ॥ व्यायामवर्जी च दिवा शयानो विरुद्धभुक् सलभते क्रिमीस्तु ॥" (मा नि अ ७)। २ "ज्वरो विवर्णता शूल हृद्रोग सदन भ्रम । भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सजातकृमिलक्षणम् ॥" (सु उ अ ५४)। ३ "अरिवद्विशसन्तीत्यर्शांसि ।" (अ स नि अ ७)। "अरिवत् प्राणिनो मासकीलका विशसन्ति यत् । अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधत ॥" (अ हृ नि अ ७)। "विशसन्ति व्यथयन्ति ।" (चन्द्र)। "अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्श इति पृषोदरादिपाठान्निरुक्तिमाहु ।" (विजयरक्षित)। ४ "दोषास्त्वङ्मास-मेदासि सदूष्य विविधाकृतीन् । मासाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु ॥" (अ हृ नि अ ७)। "आदिशब्देन कर्ण-नासादीना ग्रहणम् ।" (अरुणदत्त)। "त्वङ्मासग्रहणेन त्वङ्मासाश्रित रक्तमपि गृह्यते, चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात् ।" (चि र)।

उत्पन्न होने वाले)। जब गुदवलिको उत्पन्न करनेवाला आर्तव-शुक्रस्थ बीजभाग वातादि दोषोंसे दूषित होता है तब सहज अर्श उत्पन्न होते हैं। शुक्रार्तवस्थ बीजभाग दूषित होनेके दो कारण होते है-(१) माता-पिताका अपथ्य आहार-विहारका सेवन करना या (२) पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म। इसी प्रकार अन्य भी सहज विकारोके ये दो कारण होते हैं। **शुष्क** (सूखे) और **स्रावी** (रक्तस्राव करने वाले-**खूनी**)-इन भेदोसे भी अर्श दो प्रकारके होते हैं[1]।

अर्शका उत्पत्तिक्षेत्र—

गुदाके साढ़े चार अगुलके प्रदेशमे डेढ-डेढ अगुलके अन्तर पर तीन वलियाँ (मासपेशियाँ) होती है, वह प्रदेश अर्शोकी उत्पत्तिका क्षेत्र (स्थान) हे। कई आचार्य लिङ्ग, अपत्यपथ (योनि), गला, तालु, मुँहका अन्य प्रदेश, नाक, कान, आँखकी पलक और त्वचा-इनको भी अर्शकी उत्पत्तिका क्षेत्र मानते है। इस तन्त्रमे इन स्थानोंमे होने वाले मासाङ्कुरोंको **अधिमांस** और गुदवलियोमे होने वाले मासाकुरोंको **अर्श** नाम दिया गया हे (**च.**)। स्थूलान्त्र (बृहदन्त्र) के नीचेके अन्तिम साढे चार अगुलके प्रदेशको **गुद** कहते हैं। गुदाके बाहरके बालोंके ऊपरके आधे अगुलके प्रदेशको **गुदौष्ठ** कहते हैं। गुदामे ऊपरसे नीचेकी ओर डेढ-डेढ अगुलके अन्तर पर पहिली **प्रवाहणी** (प्रवाहण-मलविसर्जनके लिए वेग-जोर करने वाली), दूसरी **विसर्जनी** (मलका विसर्जन करने वाली) और तीसरी **संवरणी** (मल विसर्जनके बाद गुदाको सकुचित करने वाली) ये तीन वलियाँ (मासपेशियाँ) होती हैं। शंखकी नाभिके अन्दर (बीचमे) जैसे नीचेसे ऊपरकी ओर आवर्त-चक्र होते है इसी प्रकार गुदामे नीचेसे ऊपरकी ओर सवरणी, विसर्जनी, और प्रवाहणी ये तीन वलियाँ होती हें। इन वलियोका वर्ण हाथीके तालुके सदृश होता है। गुदौष्ठकी लबाई आधा अगुल, सवरणीकी एक अगुल, विसर्जनीकी डेढ अगुल तथा प्रवाहणीकी डेढ़ अगुल-इस प्रकार सपूर्ण गुदकी लंबाई साढे चार अगुल होती है[2] (**सु.**)।

---

१ "द्विविधान्यर्शांसीति शुष्काण्यार्द्राणि चेति।" (च सू अ १९)। "इह खल्वग्निवेश! द्विविधान्यर्शांसि—कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीज गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसा सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतु—मातापित्रोरपचार, पूर्वकृत च कर्म, तथाऽन्येषा च सहजाना विकाराणाम्। तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण।" (च चि अ १४)। "समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि—सहजानि, जन्मोत्तरकालजानि च। पुनश्च द्विविधानि—शुष्काण्यार्द्राणि च।" (अ स नि अ ७)।

२ "अथार्शसा क्षेत्र—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरितास्तिस्रो गुदवलय क्षेत्रमिति। केचित्तु भूयासमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसा—शिश्नमपत्यपथ गल-तालु-मुख-नासिका-कर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति। तदस्त्यधिमासदेशतया, गुदवलिजाना तु 'अर्शांसि' इति सज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषा चार्शसामधिष्ठान—मेदो, मास, त्वक् च।" (च चि अ. १४)। "तत्र स्थूलान्त्रप्रति-

दोषभेदसे अर्शके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज और सहज ऐसे अर्श छः प्रकारके होते हैं (सु.)।

वक्तव्य—वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, वातरक्तज, पित्तरक्तज तथा कफरक्तज भेदसे सुश्रुतने छः प्रकारके द्वन्द्वज अर्श लिखे हैं, तथापि ये छः भेद संसर्गात्मक होनेसे उनकी पृथक् गणना न करके यहां छः ही भेद लिखे गये हैं।

सब प्रकारके अर्शके सामान्य हेतु और संप्राप्ति—

गुरु-मधुर-शीत-अभिष्यन्दि-विदाहि-विरुद्ध-अजीर्णमें (अधपचा-पचा अन्न) अति अल्प अन्न और असात्म्य अन्न-खानेसे, गाय-मछली-सूअर-भैंस-बकरी और भेड़ इनका मांस खानेसे, कृश प्राणियोंका मांस-सूखा हुआ मांस-सड़ा हुआ मांस-पीठीसे बनाए हुए भक्ष्य-खीर-दूध-दहीके ऊपरका पानी-तिल और गुड़से बनाए हुए भक्ष्य-इनके सेवनसे, उड़दका यूष (रसा)-गन्नेका रस-खली-पिण्डालु-सूखा हुआ शाक-सिरका-लहसुन-कच्चा छाछके नीचेका घन भाग-कमलके नाल और कन्द-क्रौञ्चादन (　　　　)-कसेरु-सिंघाड़ा-तरूट (एक प्रकारका कन्द)-अङ्कुरित धान्य-नया शूक और शमी (शिम्बी) धान्य और कच्ची मूली इनके उपयोगसे, गुरु ऐसे फल और शाक-रागषाडव-हरितक वर्गके शाक-कंदरा-चरबी-प्राणियोंके सिर और पांव बासी अन्न-सड़ा हुआ अन्न और ठण्डा तथा संकीर्ण (परस्पर विरुद्धप्रकृतिके अन्न एकसाथ) खानेसे, कच्चा या बिगड़ा हुआ मद्य पीनेसे, व्यापन्न (बिगड़े हुए) या गुरु-भारी जल पीनेसे, अति स्नेहपानसे, देहका संशोधन न

बद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः। सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः। शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः। गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्तिताः॥ रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः। प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे।" (सु. नि. अ. २)। "अर्धपञ्चाङ्गुलमिति अर्धेन पञ्चममङ्गुलं यस्मिन् तत्तथा। एतेन सार्धचतुरङ्गुलप्रमाणं गुदमित्यर्थः। तत्रोपरितन वलित्रयं शङ्खावर्तनिभं प्रत्येकमन्तरेण सह सार्धाङ्गुलं, प्रथमा तु वलिरन्तरेण विनैकाङ्गुलोच्छ्राया, अर्धाङ्गुलस्तु गुदौष्ठ ईदृशो बोद्धव्यम्। ××। प्रवाहयतीति प्रवाहणी, विसृजतीति विसर्जनी, संवृणोतीति संवरणी। ×। रोमान्तेभ्यो रोमप्रान्तेभ्यः रोममालिकायाः। यवाध्यर्धः सार्धो यवः अर्धाङ्गुलप्रमाण इत्यर्थः, अङ्गुलस्य त्रियवप्रमाणत्वात्।" (ड.)।

१ "षडर्शांसि भवन्ति वात-पित्त-कफ शोणित-सन्निपातैः सहजानि चेति।" (सु. नि. अ. २)। "ननु षट्त्वावधारणं विरुध्यते, संसर्गस्य षट्कस्यापि दर्शितत्वात्, तदुक्तम्—"अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात्, संसर्गः षड्विधः स्मृतः॥" (सु. नि. अ. २) इति। उच्यते-व्याख्यातोऽयमर्थः—यत्र प्रकृतिसमसमवेतः सन्निपातः संसर्गो वा न तत्र संख्यातिरेकमापादयति, समुदायिभ्योऽनन्यः समुदाय इति कृत्वा, प्रत्येकवातादिलिङ्गस्य संसर्गस्य चिकित्सायाः एकत्वेन वातादिजेष्वेवावरुद्धत्वात्।" (गयदासः)।

करनेसे, वस्तिकर्म ठीक न होनेसे, व्यायाम और उचित व्यवाय न करनेसे, दिनमे सोनेसे तथा सुखकारक शयन-आसन और स्थानके सेवनसे जठराग्नि मन्द होकर पेटमे मलका अति मात्र सचय होता है । उत्कटुक (उकडूं)-विषम (ऊंचे-नीचे) और कठिन आसन पर बैठनेसे, अति वेगसे चलती हुई गाडी और ऊँट पर सवारी करनेसे, वस्तियन्त्रकी नली गुदामे ठीक दाखिल न करने (होने) से, गुदा पर लगनेसे, वार-वार गुदाको शीत जलका स्पर्श होनेसे, कपडा-मिट्टीका ढेला-घास आदिसे गुदाका घर्षण होनेसे, दस्त लानेके लिये वार-वार अति जोर करनेसे, अधोवात-मूत्र और मलका वेग न उत्पन्न होने पर भी उनकी प्रवृत्ति करनेसे या उनके उत्पन्न वेगोंको रोकनेसे, स्त्रियोंको कच्चा गर्भ गिरने-वढ़े हुए गर्भसे गुदाका पीडन होने तथा विषम प्रसूति होनेसे (इन कारणोंसे) अपान वायु वढे हुए मलको नीचे लाकर गुदवलियोंमे सचित करता है, इससे उनमे अर्श उत्पन्न होते हैं (च.)। अजितेन्द्रिय तथा विशेषत मन्दाग्निवाला पुरुष जब व्रणप्रश्नाध्यायमे कहे हुए बलवद्विग्रहादि वातप्रकोपक-क्रोधादि पित्तप्रकोपक तथा दिवास्वप्न (दिनमे सोना) आदि कफप्रकोपक हेतुओंका सेवन करता है, परस्पर विरुद्ध पदार्थोंका भोजन करता है, अध्यशन करता है, उत्कटुक आसन करता है, ऊँट आदिकी पीठ पर सवारी करता है, मल-मूत्रादिके वेगोको रोकता है इत्यादि कारणोंसे वातादि दोप एक-एक, दो दो, समस्त या रक्तके साथ मिल, फैल, प्रधान रक्तवाहिनियों द्वारा गुदामे प्राप्त होकर मासके सदृश अकुरो-मस्सों-को उत्पन्न करते हैं, वे मसे घास-लकडी-मिट्टीका ढेला आदिके तथा ठण्ढे जलके स्पर्शसे वढते हैं, उनको अर्श कहा जाता है[1] (सु.)।

---

१ "गुरु-मधुर-शीताभिष्यन्दि-विदाहि-विरुद्धाजीर्ण-प्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्गव्य-मात्स्य-वाराह-माहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूतिमास-पैष्टिक-परमान्न-क्षीर-दधिमण्ड-तिलगुडविकृतिसेवनान्माषयूषेक्षुरस-पिण्याक-पिण्डालुक-शुष्क-शाक-शुक्त-लशुन-किलाट तक्रपिण्टक-विस-मृणाल-शालूक-क्रौञ्चादन-कशेरुक शृङ्गाटक-तरूट-विरूढ-नवशूक-शमीधान्याममूलकोपयोगाद्गुरुफल-शाक-राग-हरितक-करमर्दक-वसा-शिरस्पद-पर्युषित-पूति-शीत-सकीर्णान्नाभ्यवहारान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद्व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसशोधनाद्वस्तिकर्मविभ्रमादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासन-स्थानोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्र, तथोत्कटुक-विषम-कठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद्गुदक्षणनादभीक्ष्ण शीताम्बुसस्पर्शाच्चेल-लोष्ट-तृणादिसघर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद्वात-मूत्र-पुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणा चामगर्भभ्रशाद्गर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्त मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ।" (च चि अ १४)। "तत्रानात्मवता यथोक्तै प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशन-स्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासन-पृष्ठयान-वेगविधारणादिभिर्विशेषै. प्रकुपिता दोषा एकशो द्विश समस्ता. शोणितसहिता वा यथोक्त प्रसृता प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्ने., तथा तृण-काष्ठोपल-लोष्ट-वस्त्रादिभि. शीतोदकसस्पर्शनाद्वा कन्दा· परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ।" (सु. नि. अ २)।

सर्व प्रकारके अर्श-मस्सोंकी सामान्य आकृति—

सव प्रकारके मस्सोंकी आकृति सरसों, मसूर, उड़द, मोठ, जौं, पिंड, कैर, तेन्दू, कुन्दरूके फल, घुँघची, वेर, बाँसके अंकुर, गूलर, खजूर, जामुन, गायके स्तन, अंगूठा, कसेरु, सिंघाड़ा, मुर्गा-मोर या तोतेकी चोंच या जीभ तथा कमलकी कली या कर्णिका–इनमेंसे किसी एकके सदृश होती है[१] ।

अर्शके पूर्वरूप—

अन्नका विष्टम्भ, दुर्वलता, पेटमें गुड़-गुड़ाहट, शरीरकी कृशता, डकारें अधिक आना, पाँवका अवसाद (शिथिलता), दस्त कम आना, ग्रहणी-पाण्डुरोग और उदरकी आशंका (च), अन्नपर अरुचि, खाया हुआ अन्न कष्टसे पचन होना, खट्टी डकारें आना, पेटमें जलन, प्यास अधिक लगना, आँखों पर सूजन, आँतोंमें गुड़-गुड़ाहट, गुदामें कटने सी वेदना, राजयक्ष्माकी आशंका, खाँसी, श्वास, चक्कर आना, तन्द्रा, नींद अधिक आना (सु), नाभिस्थानमें पत्थर सा मालूम होना, अधोवातकी शब्द-आवाज और कष्टके साथ प्रवृत्ति, पेशाव अधिक होना, इन्द्रियाँ निर्मल न मालूम होना, आलस्य तथा शोथ और गुल्मकी आशंका होना (वृ. वा.) ये अर्शके पूर्वरूप हैं[२] ।

वातार्शके हेतु और लक्षण—

कषाय-कटु(चरपरे)-तीते(कड़ुए)-रूक्ष-शीत-लघु तथा अल्प आहारका सेवन, तीक्ष्ण मद्य, अति मैथुन, लङ्घन (उपवास), शीत देश और काल, अति व्यायाम, शोक और वायु तथा आतप-धूप-का सेवन–इन कारणोंसे वातिक अर्श उत्पन्न होते हैं । वातिक अर्श सूखे, म्लान (कुम्हलाए-मुरझाए हुए), कठिन, खुरदरे, रूक्ष, श्यामवर्ण, तीक्ष्णाग्र, टेढ़े, फटे हुए मुँहवाले, विषमतया फैले हुए, शूल-आक्षेप-टीस-स्फुरण(फड़कना)-

---

१ "सर्षप-मसूर-माष-मुद्ग-मकुष्ठक-यव-कलाय-पिण्डि-टिण्टिकेर-केवुक-तिन्दुक-कर्कन्धु-काकणन्तिका-बिम्बी-ब(क)दर-करीरोदुम्बर-खर्जूर-जाम्बव-गोस्तनाङ्गुष्ठ-कशेरु-शृङ्गाटक-दक्षशिखिशुकतुण्ड-जिह्वा-पद्ममुकुलकर्णिकासस्थानानि सामान्याद्वात-पित्त-कफप्रवलानि ।" (च चि अ १४) ।

२ "विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्वल्य कुक्षेराटोप एव च । कार्श्यमुद्गारवाहुल्य सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ ग्रहणीदोष-पाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च । पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥" (च चि अ १४) । "तेषा तु भविष्यता पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात् पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भ. पिपासा सक्थिसदनमाटोप कार्श्यमुद्गारवाहुल्यमक्ष्णो श्वयथुरन्त्रकूजन गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोग-ग्रहणीदोष-शोषाणा कास-श्वासौ वलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्वल्य च ।" (सु नि अ २) । "तेषा पूर्वरूपाणि-कृच्छ्रात् पक्तिरन्त्रकूजनमुद्गारवाहुल्यमम्लकोऽन्नाश्रद्धा विष्टम्भोऽश्मगर्भनाभित्वमाटोपोऽधस्तात् कृच्छ्रेण च सशब्दस्य वायो प्रवृत्तिर्वहुमूत्रत्वमल्पपुरीषता गुदपरिकर्तन सक्थिसदनमक्ष्णो श्वयथुरविमलेन्द्रियत्वमालस्य तन्द्रा कार्श्य दौर्वल्यमाशङ्का ग्रहणीदोष-शोफोदर-पाण्डुरोग-गुल्मेषु ।" (अ स नि अ ७) ।

चिमचिमाहट और संहर्ष (रोएँ खडे होने) युक्त, स्निग्ध और उष्ण पदार्थोंके सेवनसे शान्त होनेवाले, प्रवाहिका (पेचिश)-अफारा-लिङ्ग वृषण मूत्राशय और ऊरुसन्धिमें पीडा, अंगोंमें पीडा-और हृदयकी धडकन-इन लक्षणों वाले, जिससे बार-बार और अवरोधके साथ अधोवात-मूत्र और मलकी प्रवृत्ति होती हो ऐसे होते हैं। वातिक अर्शसे जाँघ-कमर-पीठ-पार्श्व-उदर-और मूत्राशयमें शूल, सिर गरम रहना, छींके आना, डकारें आना, जुकाम, खाँसी, उदावर्त (वायुकी ऊर्ध्व प्रवृत्ति), शोष, शरीरमें सूजन, मूर्च्छा, अरुचि, मुँहका स्वाद बिगडना, अँधेरा दिखना, कण्डु, नासिका-कान और कनपटीमें शूल तथा आवाज-स्वर बैठ जाना-ये लक्षण होते हैं। वातार्शवाले रोगीके नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र और मल श्याम या अरुण वर्णके, परुष तथा रूक्ष होते हैं (च.), वातिक अर्श विवर्ण (विकृत वर्णवाले), मध्य भागमें ऊचे-नीचे तथा कदम्बके पुष्प-नाली शाकके पुष्पकी कली और सूई सदृश मुखवाले होते है। वातार्शवालेको शूलके साथ गाढा दस्त आता है। रोगीको वातार्शके कारण गुल्म, अष्ठीला और प्लीहोदर-ये उपद्रव होते हैं[१] (सु.)।

पैत्तिक अर्शके हेतु और लक्षण—

चरपरे-उष्ण-लवण और क्षार पदार्थोंका सेवन, व्यायाम, अग्निके पास बैठना, धूपमें फिरना-बैठना, उष्ण देश और काल, क्रोध, मद्यपान, असूया तथा विदाही-तीक्ष्ण और उष्ण अन्न-पान और औषधका सेवन करना—इन हेतुओंसे पैत्तिक अर्श उत्पन्न होते हैं। पैत्तिक अर्श-मस्से मृदु (कोमल), शिथिल (ढीले), सुकुमार (स्पर्श सहन न कर सकें ऐसे), लाल-पीले-नीले (आसमानी या काले) रंगके, अधिक पसीना और क्लेद (आर्द्रता) वाले, पीले और लाल रंगके कच्चे मांसके सदृश गन्धके—पतले रक्तस्राव वाले तथा जलन, खुजली-शूल और सूई चुभने सी वेदना और पाकवाले होते हैं। पैत्तिक अर्शवालेको शीत आहार–विहार और औषधके सेवनसे आराम मालूम होता है। उसको पतले तथा पीले और हरे रंगके दस्त होते हैं। उसको दस्त और पेशाब पीला, कच्चे मांसके समान गन्धवाला और अधिक प्रमाणमें होता है। उसको प्यास अधिक लगना, ज्वर, दमा, मूर्च्छा और अन्न पर द्वेष ये लक्षण होते हैं, तथा उसके नख-नेत्र-त्वचा-मूत्र-चेहरा-दाँत और मल पीले रंगके होते हैं (च.)। पैत्तिक अर्श छोटे, फैलनेवाले,

---

१ "तेषामयं विशेषः—शुष्क-म्लान-कठिन-परुष-रूक्ष-श्यावानि तीक्ष्णाग्राणि वक्राणि स्फुटित-मुखानि विषमविसृतानि शूलाक्षेप-तोद-स्फुरण चिमिचिमा-संहर्ष-परीतानि स्निग्धोष्णोपशयानि प्रवाहिकाध्मान-शिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्द-हृदयद्रवप्रबलानि प्रततविबद्धवात-मूत्र-वर्चांस्यूरु-कटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिबस्तिशूल-शिरोऽभिताप-क्षवथूद्गार-प्रतिश्याय-कासोदावर्ताम-शोष-शोथ मूर्च्छा-रोचक-मुखवैरस्य-तैमिर्य-कण्डू-नासाकर्णशङ्खशूल-स्वरोपघातकराणि श्यावारुण-परुषनख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्। कषाय-कटु-तिक्तानि रूक्ष शीत-लघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्य-मैथुनसेवनम्॥ लङ्घनं देश-कालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको

पीले (हरिद्रावर्ण) या यकृत्के सदृश वर्णवाले, जिनका अग्र भाग नीलवर्ण हो ऐसे, तोतेकी जीभ या चोंचके जैसे, मध्यमें उभरे हुए और दोनों छोरों पर पतले और गीले होते हैं। पित्तार्शवालेको जलन तथा रक्तके साथ दस्त होते हैं' (सु.)।

श्लैष्मिक अर्शके हेतु और लक्षण—

मधुर-स्निग्ध-शीत-लवण-अम्ल और गुरु पदार्थोंका सेवन, व्यायाम न करना, दिनमें सोना, सुखकर-मुलायम शय्या और आसन पर सोना-बैठना, पूर्व दिशाकी वायुका सेवन, शीत-देश और काल तथा चिन्ता-फिक्र न करना-इन हेतुओंसे श्लैष्मिक अर्श उत्पन्न होते हैं। श्लैष्मिक अर्श बडे प्रमाणवाले, भरे हुए, चिकने, स्पर्शको सहन करनेवाले, स्निग्ध, पिच्छिल, श्वेत या पाण्डु (कुछ पीलाई लिए श्वेत) वर्णके, स्तब्ध, गुरु, गीले कपडेसे लिपटे हुए से, सुन्न से, स्थिर, सूजनवाले तथा खुजलीवाले होते हैं। श्लैष्मिक अर्शवालेको गुरु-पिच्छिल और श्वेत वर्णका पेशाब और दस्त आता है, रूक्ष और उष्ण पदार्थोंके सेवनसे आराम मालूम होता है। पेचिश, बार, दस्त आना बार वंक्षण (ऊरुसंधि) में आनाह (बन्धन सदृश पीडा), गुदामें कटने जैसी पीडा, जी मिच-

---

वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मत ॥" (च चि अ १४)। "तत्र मारुतात् परिशुष्कारुण-विवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्प-तुण्डिकेरी-नाडीमुकुल-सूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति, तैरुपद्रुत सशूल संहतमुपवेश्यते, कटी-पृष्ठ-पार्श्व-मेढ्र-गुद-नाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति, गुल्माष्ठीला-प्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नख-नयन-दशन-वदन-मूत्र-पुरीषश्च पुरुषो भवति।" (सु नि अ २)। "तत्र वातोल्बणानि शुष्क-म्लान-कठिन-परुष-रूक्ष-श्यावारुण-वर्णानि तीक्ष्ण-स्फुटितमुखानि विषममध्यानि कदम्बपुष्प-तुण्डिकेरी-कर्कन्धु-बिम्बी-खर्जूरफलप्रमाणानि वक्राणि मिथो विसदृशानि कटि-पार्श्वादिष्वधिकवेदनानि सशूलोदावर्तकराणि गुल्माष्ठीला-प्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव कृष्णत्वङ्नखनयन-वदन-मलश्च भवन्ति।"(अ स नि अ ७)।

१ "मृदु-शिथिल-सुकुमाराण्यस्पर्शसहानि रक्त-पीत-नील-कृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्र-गन्धीनि तनु-पीत-रक्तस्राविणि रुधिरवहानि दाह-कण्डू-शूल-निस्तोद-पाकवन्ति शीतोपशयानि सभिन्न-पीत-हरितवर्चांसि पीत-विस्रगन्धि-प्रचुरविण्मूत्राणि पिपासा-ज्वर-तमक-संमोह-भोजनद्वेष-कराणि पीतनख-नयन-त्वङ्मूत्र-पुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्। कट्वम्ल-लवण-क्षार-व्याया-मान्यातप-प्रभाः। देश-कालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ विदाहि तीक्ष्णमुष्ण च सर्वं पानान्न-भेषजम्। पित्तोल्बणानां विज्ञेय प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥" (च चि अ १४)। "पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृ-शानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति, तैरुपद्रुत. सदाह सरुधिरमतिसार्यते, ज्वर-दाह-पिपासा-मूर्च्छाश्चा-स्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नख-नयन-दशन-वदन-मूत्र-पुरीषश्च पुरुषो भवति ॥" (सु नि अ २)। "पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्त-पीतासितप्रभा ॥ तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदव. श्लथा। शुक-जिह्वा-यकृत्खण्ड-जलौकोवक्त्रसन्निभा· ॥ दाह-पाक-ज्वर-स्वेद-तृण्मूर्च्छारुचि-मोहदाः। सोष्माणो द्रव-नीलोष्ण-पीत-रक्तामवर्चस ॥ यवमध्या हरित्पीत-हारिद्रत्वङ्नखादय· ।" (अ. हृ. नि. अ. ७)।

लाना, बार-बार थूकना, खाँसी, अरुचि, जुकाम, शीतज्वर, अश्मरी (पथरी), शर्करा (पेशाबमें रेती आना), छाती और इन्द्रियोंमें उपलेप (मलाधिक्य), मुँहका स्वाद मीठा रहना और प्रमेह, अग्निमान्द्य, नपुंसकता तथा आमविकार ये लक्षण-उपद्रव होते हैं। श्लैष्मिक अर्श चिरकाल तक रहते हैं तथा रोगीके नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र और मल श्वेत वर्णके होते हैं (च.), श्लैष्मिक अर्श गहरे मूलवाले, गोल, केर-वट-हलकी गुठली या गोस्तनके आकारके होते हैं। श्लैष्मिक अर्श फटते नहीं है और उनसे स्राव नहीं होता है। उसको कफमिश्रित-प्रमाणमें अधिक तथा मासके धोवन जैसे दस्त आते हैं, तथा शरीर पर शोथ-अन्न न पचना और सिर भारी रहना ये लक्षण होते हैं[1] (सु.)।

सहज (जन्मसे उत्पन्न) अर्शके लक्षण—

सहज अर्श कई छोटे, कई बडे, कई लंबे, कई ह्रस्व, कई गोल, कई टेढे मुँह-वाले, कई भीतरसे टेढे, कई जटा(जाल)युक्त और कई भीतरकी ओर मुखवाले होते हैं। उनका वर्ण-रंग आरम्भक दोषके अनुरूप होता है। सहज अर्शवाला रोगी जन्मसे ही अति कृश, विवर्ण (खराब वर्णवाला), क्षीण, दीन स्वभावका, अधिक विबद्ध (अवरुद्ध)

---

१ "तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानि स्पर्शसहानि स्निग्ध-श्वेत-पाण्डु-पिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि सुप्तसुप्तानि स्थिरश्वयथूनि कण्डूबहुलानि बहु-प्रतत-पिञ्जर-श्वेत-रक्त-पिच्छस्रावीणि गुरु-पिच्छिल-श्वेतमूत्र-पुरीषाणि रूक्षोष्णोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थान-वङ्क्षणानाह-वन्ति परिकर्तिका-हृल्लास-निष्ठीविका-कासारोचक-प्रतिश्याय-गौरव-च्छर्दि-मूत्रकृच्छ्र-शोष-शोथ-पाण्डु-रोग-शीतज्वराश्मरी-शर्करा-हृदयेन्द्रियोपलेपास्यमाधुर्य-प्रमेहकराणि दीर्घकालानुबन्धीन्यतिमात्रमग्नि-मार्दव-क्लैब्यकराण्यामविकारप्रबलानि शुक्लनख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्र-पुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् । मधुर-स्निग्ध-शीतानि लवणाम्ल-गुरूणि च । अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ प्राग्वातसेवा शीतौ च देश-कालावचिन्तनम् । श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥" (च चि. अ १४)। "श्लेष्मलानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीर-पनसास्थि-गोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफ-शीतज्वरारोचकाविपाक-शिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नख-नयन-दशन-वदन-मूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥" (सु नि. अ २)। "श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः । उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः स्तब्ध-वृत्त-गुरु-स्थिराः । पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ॥ करीरपनसास्थ्याभा-स्तथा गोस्तनसन्निभाः । वङ्क्षणानाहिनः पायु-बस्ति-नाभिविकर्तिनः ॥ सकास-श्वास-हृल्लास-प्रसेका-रुचि-पीनसाः । मेह-कृच्छ्र-शिरोजाड्य-शिशिरज्वरकारिणः ॥ क्लैब्याग्निमार्दव-च्छर्दिरामप्राय-विकारदाः । वसाभ-सकफ-प्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः ॥ न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु-स्निग्ध-त्वगादयः ।" (अ. हृ. नि. अ. ७)।

अधोवात-मूत्र और मलवाला होता है। उसको अश्मरी और शर्करा होती है। उसको अनियत रूपसे कभी कब्ज, कभी पतला, कभी पका हुआ, कभी कच्चा, कभी सूखा तो कभी पतला दस्त आता है। उसको श्वेत-पिलाई लिए श्वेत-हरा-पीला-लाल-सफेदी-लिए हुए लाल रंगका, कभी पतला, कभी सान्द्र (ढीला), पिच्छिल, शवके जैसी गन्ध वाला दस्त बीच-बीचमें आता है। उसको नाभि-मूत्राशय और वंक्षण प्रदेशमें कटने सी पीडा होती है। गुदामें शूलके साथ पेचिश होती है। उसको रोमहर्ष, प्रमेह, कब्जियत, पेटमें गुड-गुडाहट, उदावर्त (वायुकी ऊर्ध्व गति) तथा छाती और इन्द्रियाँ कफसे लिप्त जैसी मालूम होती है। प्रचुर-अधिक प्रमाणमें, रुकी हुई सी और सिरके जैसी खट्टी डकारें आती है। वह दुर्वल, मन्दाग्नि, क्रोधी, अल्प वीर्यवाला, दुःखी जैसे उपचार-प्रवृत्ति और स्वभाववाला तथा खाँसी-श्वास-आँखोंके सामने अंधेरा दीखना-तृषा-जी मिचलाना-उलटी-अरुचि-अपचन-जुकाम-छींके आना-तिमिर नामक नेत्र रोग और सिरके तथा कान के वाला दर्द होता है। उसका स्वर-आवाज क्षीण, फटा हुआ, रुका हुआ और जर्जर (वृद्धकी आवाज सा) होता है। उसको हाथ-पाँव-चेहरे और अक्षिकूटमें सूजन रहती है। उसको ज्वर, अंगों-अस्थिसन्धियों (जोडों) और अस्थियोंमें पीडा होती है। उसको बीच-बीचमें (कुछ समयके अनन्तर) पार्श्व-कुक्षि-मूत्राशय-हृदय (छाती)-पीठ और कमरमें जकडने सी पीडा होती है। वह निरर्थक चिन्तामें मग्न और परम आलसी होता है। जन्मसे उसके गुदमार्गका अवरोध होनेसे अपान वायु ऊपरकी ओर गति करके समान-उदान-प्राण तथा व्यान वायु और पित्त तथा कफको प्रकुपित करता है। इस प्रकार प्रकुपित पाँच वायु, पित्त तथा कफ सहज अर्शवालेको ऊपर लिखे हुए विकारोंको उत्पन्न करते है (च.)। सहज अर्श माता-पिताके दुष्ट आर्तव और शुक्रके कारण उत्पन्न होते हैं। दोषोंके लक्षणानुसार सहज अर्श वातज, पित्तज या श्लेष्मज हैं इसका निर्णय करना चाहिए। सहज अर्श अन्दरकी वलियोंमें रहनेसे कठिनतासे दिखने-वाले, खरस्पर्श, पाण्डुवर्ण, दारुण पीडा देनेवाले और अन्तर्मुख होते हैं। सहज अर्शसे पीडित रोगी कृश, थोडा खानेवाला, अल्प प्रजा और वीर्यवाला, क्षीण स्वरवाला, क्रोधी, अल्प बल और जठराग्निवाला होता है। वह सिर, आँख, नाक और कानके रोगोंसे तथा आँतोंमें गुड-गुडाहट, छातीमें उपलेप, अरुचि आदि रोगोंसे पीडित रहता है[1] (सु.)।

---

१ "तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुर-विबद्धवात-मूत्र-पुरीषः शर्कराश्मरीमान्, तथाऽनियतविबद्ध-मुक्त-पक्वाम-शुष्क-भिन्न-वर्चा, अन्तराऽन्तरा श्वेत-पाण्डु-हरित-पीत-रक्तारुण-तनु-सान्द्र-पिच्छिल-कुणपगन्ध्यामपुरीषोपवेशी, नाभि-बस्ति-वंक्षणोद्देशे प्रचुर-परिकर्तिकान्वितः, सगुदशूल-प्रवाहिका-परिहर्ष-प्रमेह-प्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्त-हृदयेन्द्रियोपलेपः, प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः, सुदुर्बलः, सुदुर्बलाग्निः, अल्पशुक्रः, क्रोधनो, दुःखोपचारशीलः, कास-श्वास तमक तृष्णा-हृल्लासा-च्छर्द्यरोचकाविपाक-पीनस-क्षवथुपरीतः, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षाम-भिन्न-सन्न-सक्तजर्जरस्वरः, कर्णरोगी, शूनपाणि पाद-वदनाक्षिकूटः, सज्वरः, साङ्गमर्दः,

द्वन्द्वज और सान्निपातिक अर्शके लक्षण—

जब अर्शमें दो–दो दोषोंके मिले हुए लक्षण देखनेमें आवें तब उसको **द्वन्द्वज**, तथा तीनों दोषोंके मिले हुए लक्षण देखनेमें आवें तब उसको **सान्निपातिक** जानना चाहिए। **वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, वातशोणितज, पित्तशोणितज** तथा **कफशोणितज** भेदसे द्वन्द्वज अर्श छ प्रकारके होते हैं। त्रिदोषज अर्शके लक्षण सहज अर्शके समान होते हैं। तीनों दोषोंका प्रकोप हुए विना अर्श रोग नहीं होता है, तथापि अर्शमें जिस दोषकी अधिकता होती है उसके अनुसार उसके **वातिक, पैत्तिक** आदि भेदोंकी कल्पना की जाती है। पाँचों प्रकारके वात, पित्त, कफ तथा गुदाकी तीनों वलियाँ सबका अर्श रोगमें प्रकोप होता है, इस लिए अर्श दु ख देनेवाले, बहुत व्याधिरूप लक्षणों वाले, सर्व देहको पीडा देनेवाले और प्राय कृच्छ्रसाध्य होते हैं[१]।

रक्तार्शके लक्षण—

रक्तज अर्श बडके अकुर–प्रवाल (मूँगा) या गुञ्जा (घुँघची) के फलके सदृश वर्ण और आकृतिवाले तथा पित्तज अर्शके लक्षणोंसे युक्त होते हैं। वे जब गाढे–सख्त मलसे पीडित होते हैं तब उनसे सहसा दुष्ट रक्तका अति प्रमाणमें स्राव होता है। रक्तकी अति प्रवृत्ति होने पर रक्तकी अति प्रवृत्तिसे होने वाले आक्षेपक, सिरका दर्द आदि उपद्रव

सर्वपर्वास्थिशूली च, अन्तराऽन्तरा पार्श्व-कुक्षि-वस्ति-हृदय-पृष्ठ-त्रिकग्रहोपतप्त , प्रध्यानपर·, परमालसश्चेति, जन्मप्रभृत्यस्य गुदजेरावृतो मार्गापरोधाद्वायुरपान प्रत्यारोहन् समान व्यान-प्राणो-दानान् पित्त-श्लेष्माणौ च प्रकोपयति, एते सर्व एव प्रकुपिता पञ्च वायव पित्त-श्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्ति, इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि।" (च चि अ १४)। ("तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति, कानिचिद्दीर्घाणि, कानिचिद्ध्रस्वानि, कानिचिद्वृत्तानि, कानिचिद्विषमविसृतानि, कानिचिदन्त कुटिलानि, कानिचिद्बहि कुटिलानि, कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि, यथास्व दोषानुबन्धवर्णानि च।" अय पाठ सहजाशो लक्षणे प्रारम्भ एव पठनीय)। "सहजानि दुष्टशोणित-शुक्रनिमित्तानि, तेषा दोषत एव प्रसाधन कर्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि च, तैरुपद्रुत कृशो-ऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रज क्षीणरेता क्षामस्वर क्रोधनोऽल्पाग्नि-प्राण परमलसश्च, तथ घ्राण-शिरो-ऽक्षि-नासा-श्रवणरोगी, सततमन्त्रकूजाटोप-हृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभि पीड्यते।" (सु नि अ २)।

१ "हेतु-लक्षणससर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वोल्वणानि च। सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणा सहजैर्लक्षण समम्॥ अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभि। दोषैर्दोषविशेषात्तु विकल्प कल्प्यतेऽर्शसाम्॥ पञ्चात्मा मारुत· पित्त कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजाना समुद्भवे॥ तस्मा-दर्शांसि दु खानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्राय कृच्छ्रतमानि च॥" (च चि अ १४)। "अर्श सु दृश्यते रूप यदा वै दोषयोर्द्वयो। ससर्ग त विजानीयात् ससर्ग पड्विधश्च स॥" (सु नि अ २)।

होते है (सु)। यद्यपि पित्तकी अधिकतासे रक्तार्श होते हैं तथापि उसमें वात और कफका भी अनुवन्ध रहता है। रक्तार्शमें यदि **वायुका अनुवन्ध** हो तो मल श्याववर्ण-कठिन तथा रूक्ष होता है, अधोवातकी प्रवृत्ति नहीं होती है, अर्शमे जो रक्तका स्राव होता है वह पतला-अरुणवर्ण और फेनयुक्त होता है तथा कमर-गुदा और जाँघमें शूल तथा दौर्वल्य होता है। रूक्ष पदार्थोंके सेवनसे रक्तार्शमें वातका नुवन्ध होता है। यदि रक्तार्शमें **कफका अनुवन्ध** हो तो मल शिथिल (ढीला)-सफेदी लिये हुए पीला-स्निग्ध-गुरु (पानीमें डूवने वाला) और शीतल (उष्णतारहित) होता है; अर्शमें जो रक्त आता है वह गाढा-तन्तुयुक्त-पाण्डुवर्ण और पिच्छिल होता है, गुदा पिच्छा (चिकनाहट)-युक्त और जकडी सी मालूम होती है। गुरु और स्निग्ध पदार्थोंका सेवन करना श्लेष्मानुवन्धी रक्तार्शका कारण होता है (**च.**) रक्तकी अतिप्रवृत्तिसे रोगी मेंडकके सदृश वर्णका हो जाता है, उसके वर्ण-वल-उत्साह और ओज हीन हो जाते हैं तथा इन्द्रियाँ व्याकुल रहती हैं[1] (**वा.**)।

अर्शके साध्यासाध्य लक्षण—

जिस अर्शवालेको हाथ-पॉव-चेहरा-नाभि-गुदा और वृषण पर शोथ, हृदय और पार्श्वमे शूल, मूर्च्छा, उलटी, अगोंमे पीडा, ज्वर, तृषा अधिक लगना और गुदपाक ये लक्षण हों वह असाध्य होता है। जो अर्श सहज (जन्मसे उत्पन्न), त्रिदोपज और अन्दरकी वलि (प्रवाहिणी) मे उत्पन्न हुए हों तो वे असाध्य होते हैं। आयुष्य शेप हो, रोगी चिकित्साके चारों पादोसे सपन्न हो और जठराग्नि प्रदीप्त हो तो ये (पूर्वोक्त लक्षणयुक्त) अर्श याप्य होते हैं, अन्यथा प्रत्याख्येय होते है। जो द्वन्द्वज हों, मध्यवलि (विसर्जनी) मे उत्पन्न हों और जिनको उत्पन्न होकर एक वर्ष वीत चुका हो वे कृच्छ्रसाध्य होते है। जो अर्श वाहरकी (सवरणी) वलिमें उत्पन्न हुए हों, एक दोपकी अधिकता वाले और थोडे समयसे उत्पन्न हुए हों वे सुखसाध्य होते हैं (**च.**)। जो अर्श त्रिदोपज होने पर भी अल्प लक्षणवाले हो वे याप्य होते है। जिस अर्शवालेको

---

१ "रक्तजामि न्यग्रोधप्ररोह-विद्रुम काकणन्तिकाफलसदृशानि, पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढ-पुरीषपीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृग्विसृजन्ति; तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति।" (सु नि अ २)। "शोणितातियोगोपद्रवा आक्षेपकादय।" (ड)। "शोणितातियोगोपद्रवा शिरोभितापादय।" (इन्दु)। "तत्रानुवन्धो द्विविध श्लेष्मणो मारुतस्य च। विट् श्याव कठिन रूक्षमधो वायुर्न वर्तते॥ तनु चारुणवर्णं च फेनिल चासृगर्शसाम्। कट्यूरु-गुदशूल च दौर्वल्य यदि चाधिकम्॥ तत्रानुवन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्। शिथिल श्वेत-पीत च विट् स्निग्ध गुरु-शीतलम्॥ यदर्शसा घन चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम्। गुद सपिच्छ स्तिमित गुरु स्निग्ध च कारणम्॥ श्लेष्मानुवन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसा वुधै।" (च चि अ. १४)। "रक्तोल्वणा गुदे कीला पित्ताकृतिसमन्विता। वटप्ररोहसदृशा गुञ्जा-विद्रुमसन्निभा॥ तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्ण च गाढविट्परिपीडिता। स्रवन्ति सहसा रक्त तस्य चातिप्रवृत्तित॥ भेकाभ पीड्यते दुःखै शोणितक्षयसभवै। हीनवर्ण वलोत्साहो हतौजा कलुपेन्द्रियः॥" (अ. हृ नि. अ, ७)।

तृषा, अरुचि, शूल, रक्तका अतिस्राव, शोथ और अतिसार ये उपद्रव हो तो वह असाध्य होता है[1]। (सु.)

अर्शके उपद्रवरूप उदावर्तके हेतु और लक्षण—

मूंग-कोदों-ज्वार (जोंधरी)-मटर-चना-आदि रूक्ष और ग्राही पदार्थोंके सेवनसे अपने स्थान (पक्वाशय) मे प्रकुपित बलवान् वायु स्रोतोंका अवरोध तथा मल-विष्ठा-को सुखा कर अधोवात-विष्ठा और मूत्रका दारुण सग (अवरोध) करता है, जिससे कोष्ठ-पृष्ठ-हृदय और पार्श्वमे तीव्र पीडा, अफारा, उदरमे ऐठन, मिचली, पेटमे कटने सी पीडा, मूत्राशयमें शूल, गालमे सूजन, वायुका ऊपरकी ओर उठना, उलटी, अरुचि, ज्वर, हृद्रोग, ग्रहणीदोष, पेशावकी रुकावट, पेचिश, बहिरापन, तिमिर नामक नेत्ररोग, श्वास, सिरमे दर्द, खॉसी, जुकाम, मनकी विकृति, तृषा, रक्तपित्त, गुल्म, उदर–आदि दारुण वातविकार उत्पन्न होते है। अर्शके उपद्रवरूप इस रोगको **उदावर्त** कहते हैं। जिनके कोष्ठमे वात अधिक हो उनको अर्शके विना भी उदावर्त होता है।[2]

उदावर्ताधिकार।

वक्तव्य–ऊपर अर्शोरोगाधिकारके अन्तमे अर्शके उपद्रवरूप उदावर्तका लक्षण लिखा गया है, उसमे कहा गया है कि–'वाताभिभूत कोष्ठ वालेको अर्शके विना भी उदावर्त होता है' अत अर्शोधिकारके अनन्तर प्रकरणागत **उदावर्ताधिकार** लिखा जाता है।

---

१ "हस्ते पादे मुखे नाभ्या गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूल च यस्यासाध्योऽर्शसो हि स ॥ हृत्पार्श्वशूल समोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वर । तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरा वलिम् । जायन्तेऽर्शांसि सश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ शेषत्वादायुपस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकायाग्ने , प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ द्वन्द्वजानि द्वितीयाया वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहु परिसवत्सराणि च ॥ बाह्याया तु वलौ जातान्येकदोपोल्वणाणि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥" (च चि अ १४)। "त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत्। द्वन्द्वजानि द्वितीयाया वलो यान्याश्रितानि च ॥ कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहु परिसवत्सराणि च । सन्निपातसमुत्थानि सहजानि च वर्जयेत् ॥" (सु नि अ २)। "तृष्णारोचक-शूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्। शोथातीसारसयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥" (सु सू अ ३३)। २ "मुद्ग-कोद्रव-जूर्णाह्व-कलाय-चणकादिभि । रूक्षै सग्राहिभिर्वायु स्वे स्थाने कुपितो बली ॥ अधोवहानि स्रोतासि सरुद्ध्याध प्रशोषयन् । पुरीष वात-विण्मूत्रसङ्ग कुर्वीत दारुणम् ॥ तेन तीव्ररुजा कोष्ठ-पृष्ठ-हृत्पार्श्वगा भवेत्। आध्मानमुदरावेष्टो हृल्लास परिकर्तनम् ॥ वस्तौ च सुतरा शूल गण्डे श्वयथु-सभव । पवनस्योर्ध्वगामित्व ततश्छर्द्यरति-ज्वरा ॥ हृद्रोग-ग्रहणीदोष-मूत्रसङ्ग प्रवाहिका । बाधिर्य-तिमिर-श्वास-शिरोरुक्कास-पीनसा ॥ मनोविकारस्तृष्णास्रपित्त-गुल्मोदरादय । एते च वातजा रोगा जायन्ते भृशदारुणा ॥ दुर्नाम्नामित्युदावर्त परमोऽयमुपद्रव । वाताभिभूतकोष्ठाना तैर्विनाऽपि स जायते ॥" (अ. स. नि अ. ७)।

उदावर्तके भेद—

अधोवात, विष्ठा-मल (दस्त), मूत्र, जँभाई, अश्रु (शोकादिसे अधिक उत्पन्न नेत्रोदक), छींक, डकार, उलटी वमन, शुक्र-वीर्य, क्षुधा, तृषा, श्वास (श्रमादिसे उत्पन्न अधिक श्वासोच्छ्वास) और निद्रा–इनके उत्पन्न वेगोंके रोकनेसे तथा अपथ्य भोजनसे **उदावर्त** रोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार उदावर्त चौदह प्रकारका होता है[1]।

उदावर्तकी निरुक्ति—

जिस व्याधिमें मल-मूत्रादिके उत्पन्न वेगोंके विधारणसे आवृत वातका ऊर्ध्व वर्तन (उत्–उर्ध्व और आ–प्रतिलोमगतिसे इतस्तत घुमना) हो, उस रोगको **उदावर्त** कहते हैं[1]। सम्प्राप्तिकी दृष्टिसे उदावर्त एक रोग नहीं है, किन्तु ऊपर लिखे हुए लक्षणयुक्त अनेक व्याधियोंका एक वर्ग है[2]।

अधोवातनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

अधोवातके वेगको रोकनेसे उत्पन्न उदावर्तमें पेटका अफारा और शूल, हृदयोपरोध (छाती रुकी हुई सी मालूम होना), सिरमें दर्द, श्वास, जोरसे हिचकी आना, खाँसी, जुकाम, गला रुका हुआ सा मालूम होना, कफ और पित्तका अधिक फैलना, गुदामें मल कम आना या मुखसे मलसदृश दुर्गन्धवाला वमन होना (सु), वात-मूत्र और मलका अवरोध, विना परिश्रमके थकान, उदरमें वातज रोग (च.), गुल्म, दृष्टिमान्द्य और अग्निमान्द्य ये रोग होते हैं[3] (वा.)।

---

१ "वातविण्मूत्र-जृम्भाश्रु-क्षवोद्गार-वमीन्द्रियैः । व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते ॥ क्षुत्तृष्णा-श्वास-निद्राणामुदावर्तो विधारणात्। अपथ्यभोजनाच्चापि वक्ष्यते च तथाऽपरः ॥" (सु उ अ ५५)। "वात-विण्मूत्र-जृम्भाश्रु-क्षवोद्गार-वमीन्द्रियैः । क्षुत्तृष्णाश्वास-निद्राणां धृत्योदावर्त-सम्भवः ॥" (निबन्धसंग्रहव्याख्यायामुद्धृत पाठान्तरम्)। "अश्रु नेत्रोदकं, क्षवः छिक्का, इन्द्रियमत्र शुक्रमभिप्रेतम्।" (हा)। २ "उद्धूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिमाहुः।" (वि र)। उत् ऊर्ध्वं, आ समन्ताच्च वायोर्वर्तनं प्रतिलोमगमनं यस्मिन् रोगे स उदावर्तः। ३ "आध्मान-शूलौ हृदयोपरोधं शिरोरुजं श्वासमतीव हिक्काम्। कास-प्रतिश्याय-गलग्रहांश्च बलास-पित्तप्रसरं च घोरम्॥ कुर्यादपानोऽभिहतः स्वमार्गे हन्यात् पुरीषं मुखतः क्षिपेद्वा।" (सु उ अ ५५)। "स्वमार्गे गुदेऽभिहतः प्रतिहतोऽपानो वायुराध्मानादीन् कुर्यात्। अयमाशयः–अभिहतो हि वायुरूर्ध्वगो भूत्वा पित्तामाशयौ तावत् प्रथमं प्रपीडयति, तत्प्रपीडनाच्च यकृत्प्लीह-फुप्फुस-हृदय-गल-शिरांसि प्रपीड्यन्ते, ततश्चाध्मान-शूलादीनि प्रादुर्भवन्तीति।" (हा)। "सङ्गो विण्मूत्र-वातानामाध्मानं वेदना क्लमः। जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥" (च सू अ ७)। "अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्त-रुक्-क्लमाः । वात-मूत्र-शकृत्सङ्ग-दृष्ट्यग्निवध-हृद्गदाः ॥" (अ हृ सू अ ४)।

पुरीषनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

दस्तके वेगको रोकनेसे पेटका अफारा और शूल, पेटमे कटने जैसी पीडा, दस्तकी रुकावट, वायुकी ऊर्ध्वगति (बहुत डकारें आना), मुँहसे विष्ठाके सदृश वमन होना (सु.), पक्काशय-पेड़ू और सिरमे दर्द, अधोवात और मलकी प्रवृत्ति न होना, पिंडलियोंमे ऐंठन (च.), जुकाम, छाती जकडी सी मालूम होना तथा अधोवातके वेगको रोकनेसे होने वाले विकार (वा.) ये लक्षण होते हैं[1]।

मूत्रनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

मूत्रका वेग रोकनेसे कष्टसे थोडा–थोडा पेशाब आना, लिङ्ग-गुदा–वक्षण-मूत्राशय-अण्ड और नाभिप्रदेशमे शूल भोंकने जैसी तीव्र पीडा, मूत्राशय-पेड़ू-का अफारा (सु.), सिरमे पीडा, शरीर आगे झुकना, वक्षण प्रदेशमे तनाव (च.), शरीरमे टूटने सी वेदना तथा अश्मरी ये विकार (वा.) होते हैं[2]।

उद्गारनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

डकारके वेगको रोकनेसे घोर वातविकार (सु.), कम्प, हिक्का श्वास, अरुचि, हृदय और छातीका विबन्ध (अवरोध सा) (च), अफारा तथा खासी ये लक्षण (वा.) होते हैं[3]।

जृम्भानिरोधज उदावर्तके लक्षण—

जृम्भा (जँभाई) के वेगको रोकनेसे मन्या (गर्दनका पिछला भाग) और गलेका

---

१ "आटोप-शूलो परिकर्तन च सग पुरीषस्य तथोर्ध्ववात । पुरीषमास्यादपि वा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥" (सु उ अ ५५)। "पक्वाशय-शिर शूल वातवर्चोऽप्रवर्तनम् । पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मान पुरीषे स्याद्विधारिते ॥" (च सू अ ७)। "शकृत पिण्डिकोद्वेष्ट-प्रतिश्याय-शिरोरुज । ऊर्ध्ववायु परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम् ॥ मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामया स्मृता ।" (अ हृ सू अ ४)। "पूर्वोक्ता गुल्मादय ।" (अ द)। २ "मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु कृच्छ्रेण मूत्र कुरुतेऽल्पमल्पम् । मेढ्रे गुदे वक्षण-वस्ति-मुष्क-नाभिप्रदेशेष्वथवाऽपि मूर्ध्नि ॥ आनद्धवस्तेश्च भवन्ति तीव्रा शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमूर्ते ।" (सु उ अ ५५)। "वस्तिमेहनयो शूल मूत्रकृच्छ्र शिरोरुजा। विनामो वक्षणानाह- स्याल्लिङ्ग मूत्रनिग्रहे ॥" (च चि अ ७)। "अङ्गभङ्गाश्मरी-वस्ति-मेढ्र-वक्षणवेदना । मूत्रस्य रोधात् पूर्वे च प्रायो रोगा" ३ "हिक्का श्वासोऽरुचि कम्पो विबन्धो हृदयोरसो । उद्गारनिग्रहात्" (च सू अ ७)। "उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकारा पवनप्रसूता.।" (सु उ अ. ५५)। "धारणात् पुन । उद्गारस्यारुचि. कम्पो विबन्धो हृदयोरसो । आध्मान-कास-हिध्माश्च" (अ हृ सू अ ४)।

स्तम्भ, सिर-मुख-नाक और नेत्रके तीव्र-वातिक रोग (सु.), शरीर आगे झुकना, आक्षेप, सकोच, सुन्नता, कम्प (च.) तथा छींके वेगको रोकनेसे होने वाले विकार (वा.) ये लक्षण होते हैं[१] ।

अश्रुनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

आनन्द अथवा शोकसे उत्पन्न ऑसूके वेगको रोकनेसे सिरमें भारीपन, जुकाम, नेत्रके तीव्र विकार (सु.), हृद्रोग, अरुचि, चक्कर आना (च), मन्यास्तम्भ और गुल्म (वा.) ये रोग होते हैं[२] ।

क्षवथुनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

छींकके वेगको रोकनेसे सिर-नेत्र नाक और कानके रोग, कण्ठ कफसे भरा हुआ मालूम होना, सूई चुभने सी वेदना, कण्ठसे अव्यक्त शब्द निकलना, श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्ति ठीक न होना (सु), मन्यास्तम्भ, सिरका दर्द, अर्दित, आधे सिरमे दर्द तथा इन्द्रियोंका दौर्बल्य (च.) ये रोग होते हैं[३] ।

छर्दिनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

वमन-उलटीके वेगको रोकनेसे जिस दोषसे अन्न विदग्ध (दूषित) हुआ हो उस दोषसे होने वाले कुष्ठ रोग (सु.), खुजली, ददोडे, अरुचि, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डुरोग, ज्वर, मिचली, विसर्प (च.), खासी और श्वास (वा.) ये रोग होते हैं[४] ।

शुक्रनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

शुक्रके वेगको रोकनेसे मूत्राशय-गुदा और अण्डमें शोथ और पीडा, मूत्रका अवरोध,

---

१ "मन्यागलस्तम्भ-शिरोविकारा जृम्भोपघातात् पवनात्मका स्यु । श्रोत्रानन-घ्राण-विलोचनोत्था भवन्ति तीव्राश्च तथा विकारा ॥" (सु उ अ ५५) "विनामाक्षेप-सकोचा सुप्ति कम्प प्रवेपनम् । जृम्भाया निग्रहात्" (च सू अ ७) । "जृम्भाया क्षववद्रोगा" (अ हृ. सू अ ४) । २ "आनन्दज शोकसमुद्भव वा नेत्रोदक प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्व नयनामयाश्च भवन्ति तीव्रा सह पीनसेन ॥" (सु उ अ ५५) । "प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रम । वाष्पनिग्रहणात्" (च सू अ ७) । "पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचि-भ्रमा. । सगुल्मा वाष्पत" (अ हृ सू अ ४) । "वाष्प अश्रु" (अ. द) ।
३ "भवन्ति गाढ क्षवथोर्विघाताच्छिरोक्षि-नासा-श्रवणेषु रोगा । कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोद कूजश्च वायोरुत वाऽप्रवृत्ति ।" (सु उ. अ ५५) । "मन्यास्तम्भ शिर शूलमर्दितार्धावभेदकौ । इन्द्रियाणा च दौर्बल्य क्षवथो स्याद्विधारणात् ॥" (च सू अ ७) । "शिरोतीन्द्रियदौर्बल्य-मन्यास्तम्भार्दित क्षुते ।" (अ हृ सू अ ४) । ४ "छर्देर्विघातेन भवेच्च कुष्ठ येनैव दोषेण विदग्धमन्नम् ।" (सु उ अ ५५) । "कण्डू-कोठारुचि-व्यङ्ग-शोथ-पाण्ड्वामय-ज्वरा । कुष्ठ-हृल्लास-वीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदा. ॥" (च सू अ ७) । "विसर्प-कोठ-कुष्ठाक्षिकण्डू-पाण्ड्वामय-ज्वरा । सकास-श्वास-हृल्लास-व्यङ्ग-श्वयथवो वमे ॥" (अ. हृ सू. अ. ४) ।

शुक्राश्मरी, वीर्यका स्राव (सु.), अगोंमे और हृदयमें पीड़ा (च.), ज्वर, अण्ड-वृद्धि और नपुंसकता (वा.) ये विकार होते हैं[१]।

क्षुधाके वेगको रोकनेसे होनेवाले उदावर्तके लक्षण—

भूखके वेगको रोकनेसे तन्द्रा, अगोंमे पीडा, अरुचि, चक्कर आना, दृष्टिकी मन्दता (कम दीखना) (सु.), कृशता, दुर्बलता, वैवर्ण्य (च.) ग्लानि और पेटमें शूल (वा.) ये लक्षण होते हैं[२]।

तृष्णानिरोधज उदावर्तके लक्षण—

प्यासको रोकनेसे कण्ठ और मुँह सूखना, कम सुनना, हृदयमे पीडा (सु.), थकान, श्वास (च.), अगोंका अवसाद, मूर्च्छा तथा चक्कर आना (वा) ये लक्षण होते हैं[३]।

निःश्वासनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

जोरसे चलने आदिके श्रमसे उत्पन्न श्वासके वेगको रोकनेसे हृद्रोग (हृदयकी धडकन), मूर्च्छा, गुल्म (सु, च.) ये लक्षण होते हैं[४]।

निद्रानिरोधज उदावर्तके लक्षण—

निद्राके वेगको रोकनेसे जँभाई, अगोंमे पीडा, तन्द्रा, सिरमे पीडा, तथा आँखोमे, शरीरमे और सिरमे जडता–गौरव ये लक्षण होते हैं[५]।

कासनिरोधज उदावर्तके लक्षण—

खाँसीके वेगको रोकनेसे खाँसी बढना, श्वास, अरुचि और हृद्रोग ये लक्षण होते हैं[६] (वा.)।

---

१ "मूत्राशये पायुनि मुष्कयोश्च शोथो रुजो मूत्रविनिग्रहश्च। शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेद्वा ते ते विकारा विहते तु शुक्रे॥" (सु उ अ ५५)। "ते ते विकारा इति हृत्पीडाङ्गमर्दादय समानतन्त्रोक्ता।" (ड.)। "मेढ्रे वृषणयो शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा। भवेत् प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च॥" (च सू अ ७)। "शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदना-श्वयथु-ज्वरा। हृद्व्यथा-मूत्रसङ्गाङ्गभङ्ग वृद्ध्यश्म-षण्ढता॥" (अ हृ सू अ ४)। २ "तन्द्राङ्गमर्दारुचि-विभ्रमा स्यु. क्षुधोऽभिघातात् कृशता च दृष्टे।" (सु उ अ ५५)। "कार्श्य-दौर्बल्य-वैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रम। क्षुद्वेगनिग्रहात्" (च सू अ ७)। "अङ्गभङ्गारुचि-ग्लानि-कार्श्य-शूल-भ्रमा क्षुध।" (अ हृ सू अ ४)। ३ "कण्ठास्यशोष श्रवणावरोधस्तृष्णाभिघाताद्धृदये व्यथा च॥" (सु. उ अ ५५)। "कण्ठास्यशोषो बाधिर्यं श्रम श्वासो हृदि व्यथा। पिपासानिग्रहात्" (च सू अ ७)। "शोषाङ्गसाद-बाधिर्य-संमोह-भ्रम हृद्गदा। तृष्णाया निग्रहात्" (अ हृ सू अ ४)। ४ "श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोग-मोहावथवाऽपि गुल्म।" (सु उ अ ५५)। "गुल्म-हृद्रोग-संमोहा श्रमनिःश्वासधारणात्।" (च सू अ ७)। ५ "जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगोऽक्षिगौरवम्। निद्राविधारणात्" (च सू अ ७)। "जृम्भाऽङ्गमर्दोऽङ्गशिरोऽक्षिजाड्यं निद्राभिघातादथ चापि तन्द्रा।" (सु उ अ ५५)। "जाड्यमपाटवं गौरवमिति तात्पर्यार्थ।" (ड.) ६ "कासस्य रोधात्तद्वृद्धि श्वासारुचि-हृदामया।" (अ. हृ सू. अ ४)।

अपथ्य भोजनसे उत्पन्न उदावर्तके लक्षण—

रूक्ष-कषाय-कटु (चरपरे) और कडुए-तीखे पदार्थोंके भोजनसे प्रकुपित वायु कोष्ठमें आ कर सद्य उदावर्त उत्पन्न करता है। इस उदावर्तमें वात-मूत्र-मल-कफ और मेदको वहन करने वाले स्रोत विलोमगामी होते हैं तथा मल अति शुष्क होता है। इससे हृदय और वस्तिमें शूल, भारीपन, अरुचि, वात-मूत्र और मलकी कष्टसे प्रवृत्ति, श्वास, खाँसी, जुकाम, जलन, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, तृषा, हिचकी, सिरका दर्द, मनका विभ्रम, कम सुनना तथा अन्य आध्मान आदि वातज व्याधि होते हैं (सु.)। कषाय-तिक्त कटु और रूक्ष पदार्थोंका भोजन, वेगोंको रोकना, उपवास और अति मैथुन-इन कारणोंसे अपान वायु पक्वाशयमें प्रकुपित होकर तथा मल-मूत्र आदिके अधोगामी स्रोतोंका अवरोध और मल-मूत्र एव अधोवातकी रुकावट करके **उदावर्त** नामक घोर व्याधिको उत्पन्न करता है। उस रोगीको मूत्राशय-हृदय-कुक्षि (उदरपार्श्व)-उदर-पृष्ठ और पार्श्वमें अति पीडा, अफारा, मिचली, पेटमें कटने जैसी पीडा, सूई चुभने सी पीडा, अन्न पचन न होना, मूत्राशयमें शोथ, दस्त साफ न होना, उदरमें गाठेसी और वायुकी ऊपरकी ओर प्रवृत्ति होती है। देरी और कष्टसे सूखा, थोडा, कठिन, रूक्ष और शीत मलकी प्रवृत्ति होती है। इससे रोगीको ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, हृद्रोग, ग्रहणीविकार, वमन, कम दीखना, कम सुनना, सिर गरम रहना, वातोदर, अष्ठीला, मनोविकार, तृषा, रक्तपित्त, अरुचि, गुल्म, खाँसी, श्वास, जुकाम, अर्दित, पार्श्वशूल तथा अन्य अनेक घोर वातज विकार उत्पन्न होते हैं[1] (च.)।

वक्तव्य—चरकने सूत्रस्थानके **'नवेगान्धारणीय'** नामक सातवे अध्यायमें तथा वाग्भटने सूत्रस्थानके **'रोगानुत्पादनीय'** नामके चौथे अध्यायमें तेरह प्रकारके उत्पन्न वेगोंको धारण करने रोकने-से उत्पन्न रोगोंका वर्णन किया है, किन्तु उनको **उदावर्त** नाम नहीं दिया है। सुश्रुतने उत्तरतन्त्रमें **उदावर्तप्रतिषेध** नामका स्वतन्त्र अध्याय लिखा है, उसमें वातादि वेगविधारणज तेरह प्रकारके उदावर्तोंका वर्णन किया है। सुश्रुतने इसी अध्यायमें **अपथ्यभोजनज** चौदहवाँ उदावर्त लिखा है। वाग्भटने निदान स्थानके

---

१ "वायु कोष्ठानुगो रूक्षै कषाय-कटु-तिक्तकै। भोजनै. कुपित सद्य उदावर्त करोति हि॥ वात-मूत्र पुरीषासृक्कफ-मेदोवहानि वै। स्रोतास्युदावर्तयति पुरीष चातिवर्तयेत्॥ ततो हृद्वस्ति-शूलार्तो गौरवारुचिपीडित। वात-मूत्र पुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नर॥ कास श्वास-प्रतिश्याय-दाह-मोह वमि-ज्वरान्। तृष्णा-हिक्का शिरोरोग-मन श्रवणविभ्रमान्॥ लभते च बहूनन्यान् विकारान् वातसभवान्।" (सु उ अ ५५)। "कषाय-तिक्तोषण-रूक्षभोज्यै सधारणाभोजन-मैथुनैश्च। पक्वाशये कुप्यति चेदपान स्रोतास्यधोगानि बली स रुद्ध्वा॥ करोति विण्मारुत-मूत्रसङ्ग क्रमादुदावर्तमत सुघोरम्॥ रुग्वस्ति-हृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्ण सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात्। आध्मान-हृल्लास-विकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोथ। वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्व च वायुर्विहतो गुदे स्यात्॥ कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्ति स्याद्वा तनु स्यात् खर-रूक्ष-शीता। ततश्च रोगा ज्वर-मूत्रकृच्छ्र-प्रवाहिका हृद्ग्रहणीप्रदोषा॥ वम्यान्ध्य-बाधिर्य-शिरोऽभिताप-वातोदराष्ठील-मनोविकारा। तृष्णास्रपित्तारुचि-गुल्म-कास-श्वास प्रतिश्यार्दित-पार्श्वरोगा॥ अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृता सुघोरा।" (च चि अ. २६)।

अर्शोनिदान नामक सातवे अध्यायमें अर्शके उपद्रवरूप उदावर्तका वर्णन किया है। चरकने चिकित्सास्थानके **त्रिमर्मीयचिकित्सित** नामके छव्वीसवे अध्यायमें **उदावर्त** नामसे स्वतन्त्र रोगका वर्णन किया है। रोगोंके लक्षणोंमें जहाँ **उदावर्त** शब्द आता है वहाँ प्राय. **'अपान वायुका ऊर्ध्व गमन'** यह अर्थ अभिप्रेत होता है।

उदररोगाधिकार।

वक्तव्य—अर्शसे उपद्रव रूपमें जैसे उदावर्त होता है वसे अर्शकी सम्यक् चिकित्सा न करने पर बद्धगुदोदर होता है[1]। अत उदावर्तके अनन्तर उदररोगोंका वर्णन किया जाता है। जिन रोगोंमें सामान्यत उदरकी वृद्धि होती है उन सब रोगोंके वर्गको आयुर्वेदमें **उदर रोग** नाम दिया गया है।

उदर रोगकी सामान्य सप्राप्ति—

जठराग्निकी मन्दता (अग्निमान्द्य) से वातादि दोष और मल-मूत्रादिकी वृद्धि होनेसे नाना प्रकारके व्याधि-विशेषत उदर रोग उत्पन्न होते है। मन्द जठराग्निवाला मनुष्य जब मलिन (दोषकारक-विरुद्ध-अपक्व आदि) आहारका सेवन करता है तब उसके न पचनेसे वातादि दोषोंका सचय होता है। वह दोषसचय जठराग्नि तथा प्राण और अपान वायुको दूषित कर तथा ऊपर और नीचेके मार्गोंका एव स्वेद और जलवाही स्रोतोका अवरोध कर, त्वचा और मासके बीचमें आ (स्थानसश्रय) कर, कुक्षि-उदरको उन्नत करके उदर रोग उत्पन्न करता है (च.)। अति मन्द जठराग्निवाला मनुष्य जब अहित (अपथ्य)-सूखे और पूति (सड़े-गले हुए) अन्नका सेवन करता है तथा स्नेह-स्वेद आदि कर्मोंका मिथ्यायोग करता है तब बढे हुए वातादि दोष गुल्मके सदृश लक्षणवाले भयंकर उदर रोग उत्पन्न करते हैं। जैसे मिट्टीके नये घड़ेमें भरा हुआ जल घड़ेके सूक्ष्म छिद्रोंसे चूकर बाहर आता है, उसी प्रकार वातादि दोषोंसे दूषित अन्नका साररूप रस धातु व्यान वायुसे प्रेरित होकर कोष्ठस्थ अगों (आँतों) से चूकर चारों ओरसे बढता हुआ, त्वचाको उन्नत करके उदर रोग उत्पन्न करता है[2]।

---

१ "अर्शसा प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान्। तान्याशु हि गुद बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्॥" (अ स.नि अ ७)। २ "अग्निदोषान्मनुष्याणा रोगसङ्घा पृथग्विधा। मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु॥ मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसचय। प्राणाग्न्यपानान् सदूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान्॥ त्वङ्मासान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्। जनयत्युदर ××× । रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषा स्रोतासि सचिता। प्राणाग्न्यपानान् सदूष्य जनयन्त्युदराणि तु॥" (च चि अ १३)। "मला वातादय पुरीषादयश्च। मलिनैरिति दोषकारकैर्विरुद्धाहारादिभि। ××। प्राणेत्यादौ पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्य वह्ने पुनर्दोषकृत नितरा मान्द्य दर्शयति। दोषसचयकृतेन वायुना प्राणापानयोर्दूषणमविरुद्धमेव, यतो वायुनाऽपि वातदुष्टिर्भवत्येव ××। रुद्ध्वेत्यादिना पूर्वं सप्राप्त्युक्तस्य स्वेदाम्बुवाहिस्रोतोदुष्टिरूपस्याभिधानादपौनरुक्त्यम्।" (च द)॥ "सुदुर्बलाग्नेरहिता-

उदर रोगके सामान्य हेतु—

अति उष्ण-लवण-क्षार-विदाही-अम्ल-गार (कृत्रिम विष)-रूक्ष-संयोग मात्रादिसे विरुद्ध और अशुचि आहारके भोजनसे, भोजनविधिसे विपरीत भोजन करनेसे, प्लीहा-अर्श और ग्रहणीविकार चिरकाल चलनेसे, वमन-विरेचन आदि कर्म ठीक न होनेसे, प्लीहादि रोगोंकी चिकित्सा न करनेसे, कोष्ठकी रूक्षतासे, मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकनेसे, मूत्र-पुरीषादिवह स्रोतोंकी दुष्टिसे, आमदोषसे, मनके संक्षोभसे, अति भोजनसे, अर्श-वाल और शुष्क मलके द्वारा आँतोंका अवरोध होनेसे तथा वाल-कण्टक-आदिके भक्षणसे आँतोंमें क्षत या भेदन होनेसे जिनके शरीरमें दोषोंका अति संचय हुआ है ऐसे मनुष्योंको और विशेषत जिनका जठराग्नि मंद है ऐसे मनुष्योंको उदर रोग होता है[1] ।

उदर रोगके पूर्वरूप—

भूख न लगना, मधुर-स्निग्ध और गुरु अन्न देरीसे पचना, सर्व प्रकारके खाये हुए अन्नका विदाह होना, अन्न हजम हुआ कि नहीं उसका पता न चलना, पेट भरके खाना सहन न होना, पाँव पर थोड़ी सूजन, सहसा बल क्षीण होना, थोड़ा सा श्रम करने-चलने

शनस्य सशुष्कपूत्यन्ननिषेवणाद्वा । स्रेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तोर्वृद्धिं गता कोष्ठमभिप्रपन्ना ॥ गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषा । कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो नि स्रुत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्न ॥ त्वच समुन्नम्य शनै समन्ताद्विवर्धमानो जठर करोति ।" (सु नि अ. ७)। "अन्नसारो रस । कोष्ठान्नि स्रुत्येति कोष्ठशब्देनाहारपाकाधारो रस-दोष-मूत्र-पुरीष-विभागाश्रयो ग्रहण्यभिधान उच्यते, तत्रैव साराख्यरसविभागात् । कथ पुनरेतदघ्राणा रन्ध्राभावादन्नरसस्य नि सरणमित्याह—उपस्नेहवदिति । नूतनघटाद्युपस्नेहो यथाऽणुभिर्बहि स्रोतोभिर्बहि स्रवद्दृश्यते, तद्वत् । यथैव नित्यमेवोदराणा सप्राप्ति प्राप्नोति, उपस्नेहेन सततमेवान्नरसस्य बहिर्निर्गमनात् । नैतदस्ति, उदरारम्भकदोषदूषितशरीरस्य रस स्वेदाम्बुवहस्रोतसा दुष्टे । दुष्टिश्चैषा सवृतमुखत्वेन विवृतमुखत्वेन वा । ×× । अत एव सर्वाङ्गकार्श्यमुदरिणाम्, उदरस्य पुन पूर्णतैव । तस्य दूष्यस्य दोषान् विना विकारकारित्व नास्तीत्याह-अनिलवेगनुन्नस्त्वच समुन्नम्येति, वृद्धेरय हेतु । स्रवत् समन्तादन्नसारोऽभिवर्धमानो जठर जनयति ।" (गयदास) । "रोगा सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च । अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसचयात् ॥ ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनी । प्राणाग्न्यपानान् सदूष्य कुर्युस्त्वड्मासंसन्धिगा । आध्माप्य कुक्षिमुदर" (अ स नि अ १२)।

१ "अत्युष्ण-लवण-क्षार-विदाह्यम्ल-गराशनात् । मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्ष-विरुद्धाशुचिभोजनात् ॥ प्लीहार्शो-ग्रहणीदोषकर्शनात् कर्मविभ्रमात् । क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥ स्रोतसां दूषणादामात् संक्षोभादतिपूरणात् । अर्शो-वाल-शकृद्रोधादन्त्रस्फुटन-भेदनात् ॥ अतिसंचितदोषाणा पाप कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीना विशेषत ॥" (च चि. अ १३)। "मिथ्यासंसर्जनादाहारविधिविपर्ययेणाभ्यवहारात् । ×× । संक्षोभाच्चित्तस्य ।" (ग.) । "कर्मविभ्रमाद्वमनादीनामसम्यक्करणात् ।" (च. द.)।

पर श्वास भरना, रूक्षता और उदावर्तके कारण मलका अधिक सचय होना, मूत्राशयके सन्धिस्थानमें पीडा, अफारा, थोडा और हलका भोजन करने पर भी पेट बढना-फटता और फैलता सा मालूम होना, पेट पर रेखाएं-नसें दिखना और वलियाँ नष्ट होना (च.) बल-वर्ण और अन्न खानेकी इच्छा नष्ट होना, खाया हुआ अन्न हजम हुआ है ऐसा न मालूम होना, विदाह-अम्लपाक होना (सु) तथा मलकी ठीक प्रवृत्ति न होना (वा.) ये उदर रोगके पूर्वरूप हैं[१]।

उदर रोगका सामान्य लक्षण—

पेटका अफारा (पेट मोटा होना), पेटमें गुड-गुडाहट, हाथ-पाँव और उदरमें शोथ, जठराग्निकी मन्दता, गाल चिकने मालूम होना, शरीर कृश-पतला होना, तन्द्रा, अवसाद, दस्तकी कब्जियत, तालु और होंठ सूखना, चेष्टा-बल और आहारका नाश (आहार न खा सकना) तथा दाह ये उदर रोगके सामान्य लक्षण हैं[२]।

उदर रोगके भेद—

वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर (दूष्यु(ष्यो)दर), प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर (आगन्तुकोदर) और जलोदर (दकोदर)-इन भेदोसे उदर रोग आठ प्रकारका होता है[३]।

---

१ "क्षुन्नाश. स्वाद्वतिस्निग्ध-गुर्वन्नं पच्यते चिरात्। भुक्त विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥ सहते नातिसौहित्यमीषच्छोथश्च पादयो । शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥ वृद्धि पुरीषनिचये रूक्षोदावर्तहेतुका । वस्तिसन्धौ रुगाध्मान वर्धते पाट्यतेऽपि च ॥ आतन्यते च जठर लघ्वल्पैर्भोजनैरपि । राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्ग भविष्यताम् ॥" (च चि अ १३)। "स्वाद्वादीना यद्यपि चिरेण पाको भवति, तथाऽपीह चिरेणेति पदेनात्यर्थं चिरादित्यभिधीयते। × ×। बस्तिसधाविति बस्तिना सह यत्र शरीरेतरदेशसबन्धस्तत्र । आतन्यते विस्तीर्यते। राजी व्यक्ता सिरा।" (च. द) "भाविनस्तस्य लक्षणम्। क्षुन्नाशोऽन्न चिरात् सर्वं सविदाह च पच्यते ॥ जीर्णाजीर्णं न जानाति सौहित्य सहते न च। क्षीयते बलत शश्वच्छ्वसित्यल्पेऽपि चेष्टिते ॥ वृद्धिर्विंशोऽप्रवृत्तिश्च किञ्चिच्छोथश्च पादयो ॥ रुग्बस्तिसन्धौ ततता लघ्वल्पैर्भोजनैरपि। राजीजन्म वलीनाशो" (अ. स. नि अ. १२)। २ "कुक्षेराध्मानमाटोप शोफ पाद-करस्य च। मन्दोऽग्नि. श्लक्ष्णगण्डत्व कार्श्यं चोदरलक्षणम् ॥" (च चि. अ १३)। "तेनार्ता शुष्क-ताल्वोष्ठा शूनपाद-करोदरा । नष्टचेष्टा-बलाहारा कृशा प्रध्मातकुक्षय ॥ स्यु प्रेतरूपा पुरुषा" (अ स नि अ १२)। "जठरेषु तु । सर्वेषु तन्द्रा सदन मलसङ्गोऽल्पवह्निता। दाहश्वयथुराध्मानमन्ते चोदकसभव ॥" (अ स नि अ १२)। ३ "पृथग्दोषै समस्तैश्च प्लीहबद्ध-क्षतोदकै । सभवन्त्युदराण्यष्टौ" (च चि अ १३)। "पृथक्-समस्तैरपि चेह दोषै· प्लीहोदर बद्धगुद तथैव। आगन्तुक सप्तममष्टम च दकोदर चेति वदन्ति तानि ॥" (सु. नि. अ. ७)। "अष्टधा तच्च भिद्यते। पृथग्दोषै· समस्तैश्च प्लीह-बद्ध-क्षतोदकै ॥" (अ स नि. अ. १२)।

वातोदरके निदान, संप्राप्ति और लक्षण—

रूक्ष और अल्प भोजन, परिश्रम, वेगोंको रोकना तथा कृशता लानेवाले लङ्घन आदि कर्म-इनसे कुक्षि-हृदय-मूत्राशय और गुदमार्गमें प्रकुपित वायु जठराग्निको मन्द कर, कफको बढा, उस कफसे अवरुद्ध होकर त्वचा और मासके बीच वातोदर उत्पन्न करता है । वातोदरमें कुक्षि (पेट)-हाथ-पॉव और वृषण पर शोथ, पेट फटता-विदीर्ण होना हो ऐसा मालूम होना, अनियत रूपसे पेट कभी घटना तो कभी बढना, कुक्षि और पार्श्वमें शूल, उदावर्त, अगोंमें पीडा, सन्धियोंमें भेदवत् पीडा, सूखी खॉसी, कृशता, दुर्बलता, अरुचि, अन्न न पचना, पेटके नीचेके भागमें भारीपन, अधोवात-मल और मूत्रकी रुकावट, नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र और मलका रग श्याम या अरुण होना, पेट पर पतली और काली रेखाऍ तथा सिराऍ दिखना, पेट पर अगुलीसे ताडन करने पर वायुसे भरी हुई चमडेकी थैली (मशक) जैसी आवाज आना, वायुका ऊपर-नीचे और तिरछे शूल और शब्दके साथ फिरना, पार्श्व-पृष्ठ और नाभिस्थानमें उदरकी वृद्धि तथा पेटमें सूई चुभने सी पीडा होना ये लक्षण होते हैं[1] ।

पित्तोदरके हेतु, सप्राप्ति और लक्षण—

कटु (चरपरे)-अम्ल-लवण-अति उष्ण-तीक्ष्ण-और विदाही पदार्थ तथा अग्नि और धूपका सेवन, एक बार खाया हुआ न पचने पर खा लेना एव अजीर्ण-इन कारणोंसे सञ्चित पित्त वात और कफको दूषित कर, स्रोतोंका अवरोध कर तथा आमाशयस्थ अग्निको मन्द कर पित्तोदर उत्पन्न करता है । पित्तोदरमें सर्वाङ्गमें दाह, ज्वर, तृषा, मूर्च्छा, अतिसार, चक्कर आना, मुँह कडुआ-तीता रहना, नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र और मलका रग हरा या हलदी जैसा होना, पेट पर नील-पीत-हारिद्र (हलदी जैसे रगकी)-हरी

---

१ "रूक्षाल्पभोजनायास-वेगोदावर्त-कर्शनैः । वायु प्रकुपित कुक्षि-हृद्बस्ति-गुदमार्गग ॥ हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्तत । आचिनोत्युदर जन्तोस्त्वङ्मासान्तरमाश्रित ॥ तस्य रूपाणि—कुक्षि-पाणि-पाद-वृषणश्वयथु , उदरविपाटनम्, अनियतौ च वृद्धि ह्रासौ, कुक्षि-पार्श्व-शूलोदावर्ताङ्गमर्द-पर्वभेद-शुष्ककास-कार्श्य-दौर्बल्यारोचकाविपाका , अधोगुरुत्व, वात वर्चो-मूत्र-सङ्ग , श्यावारुणत्व च नख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्र-वर्चसाम्, अपि चोदर तन्वसितराजी-सिरासतत-माहतमाध्मातदृतिशब्दवच्चवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूल-शब्द-श्चरति, एतद्वातोदरमिति विद्यात् ।" (च नि अ १३) । "सगृह्य पार्श्वादर-पृष्ठ-नाभीर्यद्वर्धते कृष्णसिरावनद्धम् । सशूलमानाहवदुग्रशब्द सतोद-भेद पवनात्मक तत् ॥" (सु नि अ ७) । "तत्र वातोदरे शोथ पाणि-पान्मुष्क-सन्धिषु । कुक्षि-पार्श्वोदर-कटी-पृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ॥ शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधो गुरुता मलसग्रह । श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्ह्रास-वृद्धिमत् ॥ सतोद-भेदमुदर तनु-कृष्णसिराततम् । आध्मातदृतिवच्छब्दमाहत प्रकरोति च ॥ वायुश्चात्र सरुक्-शब्दो विचरेत् सर्वतोगति ।" (अ, स नि अ १२) ।

और तॉबे जैसी लाल रंगकी रेखाएं तथा सिराएँ दिखना, पेटमें जलता हो-पीडा होती हो-धुआँ उठता हो और पार्श्वमें अग्नि रखा हो ऐसा मालूम होना, पेट पर पसीना आना, पेट गीला सा मालूम होना, पेटका स्पर्श मृदु रहना, उदरमें शीघ्र पाक (पूय) होना, चूसने सी वेदना होना तथा रोग (उदर) शीघ्र बढना ये लक्षण होते हैं[1]।

कफोदरके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

परिश्रम न करना, दिनमें सोना तथा मधुर-अति स्निग्ध-पिच्छिल-दही-दूध-और आनूप तथा औदक प्राणियोंका मांस-इनके सेवनसे अति प्रकुपित कफसे स्रोतोंका आवरण होने पर आवृत वात उस कफको बढा कर अन्त्रोंके बाहर (उदरधरा कला और त्वचाके बीचमें) उदर रोग उत्पन्न करता है। कफोदरमें शरीरका विशेषत पेटका भारीपन, अरुचि, अन्न न पचना, अंगोंमें पीडा और अवसाद, सुप्तता, हाथ-पॉव और वृषण पर शोथ, मिचली, नींद अधिक आना, खॉसी, श्वास, नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र और मलका रंग श्वेत होना, पेट श्वेत वर्णकी रेखाओं और सिराओंसे व्याप्त होना तथा पेट भारी-निश्चल सा (जकडा सा) कठिन-स्निग्ध स्पर्शवाला-बडा (अन्य उदरकी अपेक्षया) और शोथयुक्त होना ये लक्षण होते हैं। कफोदर धीरे-धीरे बढता है।[2]

---

१ "कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः। विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम्॥ प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम्। निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः॥ तस्य रूपाणि—दाह-ज्वर-तृष्णा-मूर्च्छातीसार-भ्रमाः, कटुकास्यत्वं, हरित-हारिद्रत्वं च नख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्र-वर्चसाम्, अपि चोदरं नील-पीत-हारिद्र-हरित-ताम्रराजी-सिरावनद्धं, दह्यते, दूयते, धूप्यते, ऊष्मायते, स्विद्यते, क्लिद्यते, मृदुस्पर्शं, क्षिप्रपाकं च भवति, एतत् पित्तोदरमिति विद्यात्।" (च चि अ १३)। "यच्चोष-तृष्णा-ज्वर-दाहयुक्तं पीतं सिरा भान्ति च यत्र पीताः। पीताक्षि-विण्मूत्र-नखाननस्य पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि॥" (सु नि अ ७)। "पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता। भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित्॥ पीत-ताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते। धूमायति मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते॥" (अ स नि अ १२)। २ "अव्यायाम-दिवास्वप्न-स्वाद्वतिस्निग्ध-पिच्छिलैः। दधि-दुग्धोदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः॥ क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः। तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्तगः॥ तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाङ्गमर्दाः, सुप्तिः, पाणि-पाद-मुष्कोरुशोथः, उत्क्लेश-निद्रा-कास-श्वासाः, शुक्लत्वं च नख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्र-वर्चसाम्, अपि चोदरं शुक्लराजी-सिरासन्ततं, गुरु, स्तिमितं, स्थिरं, कठिनं च भवति, एतच्छ्लेष्मोदरमिति विद्यात्।" (च चि अ १३)। "यच्छीतलं शुक्लसिरावनद्धं गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य। स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि॥" (सु नि अ ७)। "श्लेष्मोदरेऽङ्गमदनं स्वापः श्वयथुगौरवम्। निद्रोत्क्लेशारुचि-श्वास-कास-शुक्लत्वगादिता॥ उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत्। चिराभिवृद्धि कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम्॥" (अ स नि अ १२)।

सन्निपातोदर(दूष्योदर)के हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

जो दुर्बलाग्निवाला मनुष्य अपथ्य, अपक्व अन्न, संयोग-मात्रादिसे विरुद्ध अन्न, गुरु पदार्थ, स्त्रियोंद्वारा सौभाग्यार्थ या वशीकरणार्थ अन्नमें मिलाकर दिये हुए रज (आर्तव)-रोम-विष्ठा-मूत्र-अस्थि-नख आदिका तथा शत्रुओंद्वारा दिये हुए मन्द विषोंका अथवा दुष्ट जल या दूषीविषका भक्षण करता है उसके पेटमें रक्त सहित वातादि तीनों दोष धीरे-धीरे सञ्चित तथा प्रकुपित होकर सन्निपातोदर उत्पन्न करते हैं। सन्निपातोदरमें वातादि तीनों दोषोंके ऊपर लिखे हुए समस्त लक्षण तथा त्वचादिमें समस्त वर्ण उपलब्ध होते हैं एवं पेट पर नाना वर्णकी रेखाएं और सिराएं उपलब्ध होती हैं (च.); ठण्डी हवा चलने पर अथवा बादल होने पर सन्निपातोदर बढ़ता है। इसमें रोगीको दाह एवं बार-बार मूर्च्छा होती है, रोगी पाण्डुवर्णका और कृश होता है एवं रोगीका मुख तृषासे सूखता है। सन्निपातोदरमें शीघ्र पाक (पूयोत्पत्ति) होता है। सन्निपातोदरको **दूष्योदर** भी कहते हैं[1] (सु.)।

प्लीहोदरके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

भोजनके अनन्तर अति क्षोभजनक कर्म करना, रथ आदिकी सवारी करना, अति चेष्टा-व्यायाम करना, अति मैथुन, अति भार उठाना, अति चलना, वमन, ज्वर आदि अन्य व्याधिसे शरीर कृश होना, विदाही और अभिष्यन्दी पदार्थोंका नित्य भोजन करना—इन हेतुओंसे उदरके वाम पार्श्वमें रही हुई प्लीहा अपने स्थानसे च्युत होकर बढ़ती है एवं रक्त और कफ अति प्रकुपित होकर उस बढ़ी हुई प्लीहाको और बढ़ाते हैं। इस व्याधिमें प्लीहा अष्ठीला (प्रस्तरविशेष)के सदृश कठिन और कछुएकी पीठ जैसी उभरी हुई होती है। इसकी उपेक्षा करने पर वह क्रमशः कुक्षि (उदरपार्श्व)-जठर और ग्रहणीको पीडित करके उदरको बढ़ाती है। इस व्याधिको **प्लीहोदर** कहते हैं। प्लीहो-दरसे रोगीको दुर्बलता, अरुचि, अन्न न पचना, मल-मूत्रका अवरोध, आंखोंके सामने

---

१ "दुर्बलाग्नेरपथ्याम-विरोधि-गुरुभोजने । स्त्रीदत्तैश्च रजो-रोम-विण्मूत्रास्थि-नखादिभिः ॥ विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चयं त्रयः । शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते, वर्णाश्च सर्वे नखादिषु, उदरमपि नाना-वर्णराजी-सिरासततं भवति, एतत् सन्निपातोदरमिति विद्यात्।" (च. चि. अ. १३)। "स्त्रियो-ऽन्न-पानं नख-रोम-मूत्र-विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः । यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गराश्च दुष्टाम्बु-दूषीविष-सेवनाद्वा ॥ तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम् । तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥ स चातुरो मूर्च्छति सम्प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च । दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव" (सु. नि. अ. ७)। "त्रिदोषकोपनैस्तैस्तैः स्त्रीदत्तैश्च रजो-मलैः । गर-दूषीविषाद्यैश्च सरक्ताः सञ्चिता मलाः ॥ कोष्ठं प्राप्य विकुर्वाणाः शोफ-मूर्च्छा-भ्रमान्वितम् । कुर्युस्त्रिलिङ्गमुदरं शीघ्रपाकं सुदारुणम् ॥ बाधते तच्च सुतरां शीतवाताभ्रदर्शने।" (अ. सं. नि. अ. १२)।

अँधेरा दीखना, प्यास अधिक लगना, अगोंमें पीडा, उलटी, मूर्च्छा, अगोंका अवसाद, खाँसी, श्वास, मृदु ज्वर, आनाह, मन्दाग्नि, कृशता, मुँहका स्वाद विगडना, सन्धियोंमे पीडा, पेटमें वायु होना, उदरशूल, वलक्षय और अति पाण्डुता ये लक्षण होते है। उदर अरुण (कुछ ललाई लिये श्वेत वर्णका) या विवर्ण होता है। पेट पर नील-काली, हरी या पीली हलदी जैसी रेखाएँ दिखती हैं। इसी प्रकार दक्षिण पार्श्वमे यकृतकी वृद्धि हो तो उसको **यकृद्दाल्युदर** कहते हं। यकृद्दाल्युदरके हेतु, सप्राप्ति और लक्षण प्लीहोदरके समान जानने चाहिए[1]।

वद्धगुदोदरके कारण, संप्राप्ति और लक्षण—

उपलेपी (आँतोंमे चिपकनेवाले) अन्नसे, अन्नके साथ खाए हुए वाल-वालू (रेती) आदिसे, उदावर्तसे, अर्शसे मलद्वार अवरुद्ध होनेसे अथवा अन्त्रसमूर्च्छनसे अन्त्रोंका मार्ग अवरुद्ध होने पर प्रकुपित अपान वायु जठराग्निको मन्द करके जैसे नालीका मार्ग अवरुद्ध होने पर नालीमें कूडेका सचय होता है इसी प्रकार ऑतोंमें विष्ठा, पित्त और कफका सचय वद्धगुदोदरको उत्पन्न करता है। वद्धगुदोदरमें गुदा (आँतों) मे मल रुकता है, कष्टसे थोडा-थोडा मल-दस्त आता है, हृदय और नाभिके वीचमे पेट वढता है और विष्ठाके समान गन्धवाला वमन होता है। वद्धगुदोदरमे तृषा, दाह, ज्वर, मुँह और तालुका

---

१ "अशितस्यातिसक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितै । अतिव्यवाय-भाराध्व-वमन-व्याधिकर्शनै ॥ वामपार्श्वाश्रित प्लीहा च्युत. स्थानात् प्रवर्धते। शोणित वा रसादिभ्यो विवृद्ध त विवर्धयेत्॥ तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमान कच्छपसस्थान उपलभ्यते । स चोपेक्षित क्रमेण कुक्षि जठरमग्न्यधिष्ठान च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति। तस्य रूपाणि–दौर्वल्यारोचकाविपाक-वर्चोमूत्र-ग्रह-तम प्रवेश-पिपासाङ्गमर्द-च्छर्दि-मूर्च्छाङ्गसाद-कास-श्वास-मृदुज्वरानाहाग्निनाश-कार्श्यास्यवैरस्य-पर्वभेद-कोष्ठवात-शूलानि, अपि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नील-हरित-हारिद्रराजिमद्भवति। एव-मेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थ कुर्यात्। तुल्यहेतु-लिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इति। एतत् प्लीहोदरमिति विद्यात्।" (च चि अ १३)। "प्लीहोदर कीर्तयतो निवोध। विदाह्यभिष्यन्दि-रतस्य जन्तो प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ॥ प्लीहाभिवृद्धिं सतत करोति प्लीहोदर तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञा । वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषत सीदति चातुरोऽत्र ॥ मन्दज्वराग्नि कफ-पित्त-लिङ्गैरुपद्रुत क्षीणवलोऽतिपाण्डु । सव्येतरस्मिन् यकृति प्रवृद्धे ज्ञेय यकृद्दाल्युदर तदेव ॥" (सु नि अ ७)। "अत्याशितस्य सक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितै । अतिव्यवाय-भाराध्व-वमन-व्याधिकर्शनै ॥ वामपार्श्वाश्रित प्लीहा च्युत स्थानाद्विवर्धते। शोणित वा रसादिभ्यो विवृद्ध त विवर्धयेत् ॥ सोऽष्ठीलेवातिकठिन प्रोन्नत कूर्मपृष्ठवत्। क्रमेण वर्धमानश्च कुक्षावुदरमावहेत् ॥ श्वास कास-पिपासास्यवैरस्याध्मान-रुग्ज्वरै । पाण्डुत्व-मूर्च्छा-च्छर्दीभिर्दाह-मोहैश्च सयुतम् ॥ अरुणाभ विवर्णं वा नील-हारिद्र-राजिमत्। उदावर्त-रुगानाहैर्मोह-तृट्-दहन-ज्वरै ॥ गौरवारुचि-काठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात्। प्लीहवद्दक्षिणात् पार्श्वात् कुर्याद्यकृदपि च्युतम् ॥" (अ स. नि. अ १२)

सूखना, जाँघकी शिथिलता, खाँसी, श्वास, दुर्बलता, अरुचि, अन्न न पचना, मल-मूत्रका अवरोध, अफारा, उलटी, छींके आना, सिर-हृदय-नाभि और गुदामें शूल, पेटमें वायुकी रुकावट, उदर स्थिर (निष्क्रिय सा), अरुणवर्ण, नीलवर्ण रेखायुक्त और सिराओंसे व्याप्त होता है । बद्धगुदोदर प्राय नाभिके ऊपर गोपुच्छ जैसा दिखता है¹ ।

छिद्रोदर (क्षतोदर)के हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

कंकर-घास-लकडी-हड्डी और काँटे जैसी वस्तु–शल्य अन्नके साथ खाई जाने और आँतोंमेंसे तिरछी गुजरनेसे, अति जोरकी जंभाई आनेसे या अति भोजनसे जब आँत कट-फट जाती है तब आँतोंमें पाक होनेपर या बिना पाकके भी आँतोंसे जल जैसा स्राव (अन्नरस) गुदासे स्रुत होता है तथा बचा हुआ अन्न गुद (बृहदन्त्र) और क्षुद्रान्त्रमें जमा-एकत्र होकर **छिद्रोदर (क्षतोदर)** उत्पन्न करता है । छिद्रोदरमें नाभिके नीचे उदरकी वृद्धि होती है तथा उदरमें सुई चुभने सी वेदना और विदाह होता है । जब यह नाभिके नीचे अधिक बढता है तब जलोदर हो जाता है और बलानुसार वातादि दोषोंके लक्षण दिखलाता है । रोगीको रक्तयुक्त, काले या पीले रंगके, दुर्गन्धदार, शव जैसी दुर्गन्धयुक्त, कच्चे-आम मलके दस्त आते हैं और हिचकी, श्वास, तृषा, प्रमेह, अरुचि, अन्न न पचना तथा दुर्बलता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । उसको **छिद्रोदर, परिस्राव्युदर या क्षतोदर** कहते हैं² ।

---

१ "पक्ष्म-वाले. सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे । उदावर्तस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसमूर्च्छनेन वा ॥ अपानो मार्गसरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिल । वर्चं पित्त-कफान् रुद्ध्वा जनयत्युदर तत ॥ तस्य रूपाणि–तृष्णा-दाह-ज्वर-मुखतालुशोषोरुसाद-कास-श्वास-दौर्बल्यारोचकाविपाक-वर्चोमूत्रसगाध्मान-च्छर्दि-क्षवथु-शिरोहृन्नाभिगुदशूलानि, अपि चोदर मूढवात, स्थिरमरुण नीलराजि सिरावनद्धम् अराजिक वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इति, एतद्बद्धगुदोदरमिति विद्यात् ।" (च चि अ १३) । "यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहित यथावत् । सचीयते तत्र मल सदोष क्रमेण नाल्यामिव सकरो हि ॥ निरुध्यते चास्य गुदे पुरीष निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् । हृन्नाभि-मध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदर विट्समगन्धिक च ॥ प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्य " (सु नि अ ७) । "पक्ष्मवाले सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे । दुर्नामभिरुदावर्तैरन्यैर्वाऽन्त्रोपलेपिभिः ॥ वर्चं -पित्त कफान् रुद्ध्वा करोति कुपितोऽनिल । अपानो जठर, तेन स्युर्दाह ज्वर-तृट्-क्षवा ॥ कास-श्वासो-रुसदन शिरो-हृन्नाभि-पायुरुक् । मलसङ्गोऽरुचिश्छर्दिरुदर मूढमारुतम् । स्थिर नीलारुणसिरा-राजि-नद्धमराजि वा । नाभेरुपरि च प्रायो गोपुच्छाकृति जायते ॥" (अ स नि अ १२) ।

२ "शर्करा-तृण काष्ठास्थि-कण्टकैरन्नसयुते । भिद्येतान्त्र यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥ पाक गच्छेद्रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्य प्रसवद्बहि । पूरयन् गुदमन्न च जनयत्युदर तत ॥ तस्य रूपाणि— तदधो नाभ्या प्रायोऽभिवर्धमानमुदकोदर भवति, यथाबल दोषाणा रूपाणि दर्शयति । अपि चातुर सलोहित-नील-पीत-पिच्छिल-कुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेश्यते, हिक्का श्वास-कास तृष्णा-

चरकके मतसे जलोदरके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

जिसने स्नेहपान किया है, जिसका जठराग्नि मन्द है तथा जो क्षीण और कृश है ऐसा मनुष्य जब अति जल पी लेता है तब उसका जठराग्नि नष्ट (अति मन्द) होता है। उस अवस्थामें क्लोमस्थान (कण्ठ और उरकी सन्धि ग.) में रहा हुआ (प्रकुपित) वायु जलवाही स्रोतोंका मार्ग अवरुद्ध करके तथा (प्रकुपित) कफ जलके साथ मिल कर अपने स्थानसे जलकी वृद्धि करके जलोदर उत्पन्न करते हैं (च.)। जिसकी स्नेहादि पञ्चकर्म चिकित्सा चल रही है वह मनुष्य यदि सहसा कच्चा जल पी ले या मन्दाग्नि-क्षीण और अति कृश मनुष्य अति जल पी ले तब उदराश्रित प्रकुपित वायु जलवाही स्रोतोंका अवरोध करके तथा प्रकुपित कफ उस जलको बढा कर जलोदर उत्पन्न करते हैं (वा.)। जलोदरमें अन्न खानेकी इच्छा न होना, प्यास, गुदासे जलसदृश स्राव, शूल, श्वास, खाँसी और दुर्बलता ये लक्षण होते हैं। उदर नाना वर्णकी रेखाओं और सिराओंसे व्याप्त, जलसे भरी हुई मशकके सदृश सक्षोभ (हिलना) और मृदु स्पर्शवाला होता है (ये प्रारम्भसे ही उत्पन्न जलोदरके लक्षण हैं)[1]।

अन्य उदरोंकी उपेक्षासे उत्पन्न जलोदरके लक्षण—

जो उदर रोग नवीन उत्पन्न हुआ हो और जिसमें उपद्रव और जल न उत्पन्न हुआ हो उसकी शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि प्रारम्भमें उपेक्षा करने (चिकित्सा न

प्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति। एतच्छिद्रोदरमिति विद्यात्।" (च चि अ १३)। "तत परिस्राव्युदर निबोध। शल्य यदन्नोपहित तदन्त्र भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा। तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाश स्राव स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय ॥ नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च। एतत् परिस्राव्युदर प्रदिष्ट" (सु नि अ ७)। "अस्थ्यादिशल्यै सान्नैश्चे-द्भुक्तैरध्यशनेन वा। भिद्यते पच्यते चान्त्र तच्छिद्रैश्च स्रवन् बहि ॥ आम एव गुदादेति ततो-ऽल्पाल्प स विट्सम । तुल्य कुणपगन्धेन पिच्छिल पीत-लोहित ॥ शेषश्चापूर्य जठर जठर घोर-मावहेत्। वर्धते तदधो नाभेराशु चैति जलात्मताम् ॥ उद्रिक्तदोपरूप च व्याप्त च श्वास-तृड्-भ्रमै । छिद्रोदरमिद प्राहु परिस्रावीति चापरे ॥" (अ स नि अ १२)।

१ "स्नेहपीतस्य मन्दाग्ने क्षीणस्यातिकृशस्य च। अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुत क्लोम्नि सस्थित ॥ स्रोत सु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छित । वर्धयेता तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ ॥ तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षा-पिपासा गुदस्राव-शूल-श्वास कास-दौर्बल्यानि, अपि चोदर नानावर्णराजि-सिरा-सन्ततमुदकपूर्णदृतिसक्षोभ-स्पर्श भवति। एतदुदकोदरमिति विद्यात्।" (च चि अ १३)। "प्रवृत्तस्नेहपानादे सहसाऽऽमाम्बुपायिन । अत्यम्बुपानान्मन्दाग्ने क्षीणस्यातिकृशस्य वा ॥ रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिल कफश्च जलमूर्च्छित । वर्धयेता तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ ॥ तत स्यादुदर तृष्णा-गुदस्रुति-रुजान्वितम् । कास श्वासारुचियुत नानावर्णसिराततम् ॥ तोयपूर्णदृतिस्पर्श-शब्द-प्रक्षोभ-वेपथु। दकोदर महत् स्निग्ध स्थिरमावृत्तनाभि तत् ॥

करने) से दोष अपना स्थान छोड, उनका पाक न होनेसे द्रव हो कर तथा स्वेद वाहरके स्रोतों द्वारा अवरुद्ध तथा तिर्यग्गामी हो कर उस जलको वढाता है । तदनन्तर उस जलमे पिच्छा (चावलके मॉडके सदृश द्रव) उत्पन्न होनेपर उदर मण्डलाकार, गुरु, जकडा सा, अगुलीसे ताडन करने पर शब्दरहित, मृदु स्पर्शवाला, रेखारहित होकर नाभिके चारों ओर वढता है। उसके वाद उसमे जल होता है। उसके ये लक्षण होते हैं-पेट अतिमात्र वढना, सिराऍ दिखनी वन्द होना, पानी भरी हुई मशकके सपान पेट हिलना, पेटका स्पर्श मृदु मालूम होना तथा रोगीको वमन, अतिसार, ऑखोंके सामने ॲधेरा दिखना, तृपा, श्वास, खॉसी, हिक्का, दुर्वलता, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभंग, पेशाव रुकना (या कम होना) आदि उपद्रव होते हैं। ऐसे जलोदर वालेको असाध्य जानना चाहिये **(च., चा.)**[१] ।

सुश्रुतके मतके जलोदरके हेतु, सप्राप्ति और लक्षण—

जिसने स्नेहपान, अनुवासन वस्ति, वमन, विरेचन या निरूह वस्ति लिया है अथवा जिसके जलवह स्रोत स्नेहसे उपलिप्त हैं ऐसा मनुष्य जव तुरन्त शीतल जलका पान कर लेता है तव उसके जलवह स्रोत दूपित होकर क्षतान्त्रोदरमे कही हुई सप्राप्तिके अनुसार पेटमे जल उत्पन्न होकर जलोदर होता है। जलोदरमे पेट स्निग्धस्पर्श, वडा, ऊँचे नाभि प्रदेशवाला, अति ऊँचा, जलसे भरा हुआ होनेसे पानीसे भरी हुई मशक जैसा किञ्चित् या अधिक कॉपता हुआ और शब्दयुक्त होता है[२] ।

---

१ "तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमप्राप्तमुदर त्वरमाणश्चिकित्सेत्। उपेक्षिताना ह्येषा दोषा स्वस्थानादपवृत्ता परिपाकाद्द्रवीभूता सन्धीन् स्रोतासि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च वाह्येषु स्रोत सु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति, तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदर गुरु स्तिमितमाकोठितमशब्द मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्त नाभ्यामेवोपसर्पति । ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भाव । तस्य रूपाणि-कुक्षेरतिमात्रवृद्धि, सिरान्तर्धानगमनम्, उदकपूर्णदृतिसक्षोभ सस्पर्शत्व च । तदाऽऽतुरमुपद्रवा स्पृशन्ति-छर्द्यतीसार-तमक-तृष्णा-श्वास-कास-हिक्का-दौर्वल्य-शूलारुचि-स्वरभेद-मूत्रसगादय , तथाविधमचिकित्स्य विद्यात्।" (च चि अ १३)। "उपेक्षया च सर्वेषु दोषा स्वस्थानतश्च्युता । पाकाद्द्रवा द्रवीकुर्यु सन्धीन् स्रोतोमुखान्यपि ॥ स्वेदस्तु वाह्यस्रोत सु विहतस्तिर्यगास्थित. । तदेवोदकमाप्याय्य पिच्छा कुर्यात्तदा भवेत् ॥ गुरूदर स्थिर वृत्तमाहत च सशब्दवत् । मृदु व्यपेतराजीक नाभ्या स्पृष्ट च सर्पति ॥ तदनूदकजन्मास्मिन् कुक्षिवृद्धिस्ततोऽधिका । सिरान्तर्धानमुदकजठरोक्त च लक्षणम् ॥" (अ स नि अ १२)। २ "दकोदर कीर्तयतो निवोध । य स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढ ॥ पिवेज्जल शीतलमाशु तस्य स्रोतासि दूष्यन्ति हि तद्वहानि । स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदर पूर्ववदभ्युपैति ॥ स्निग्ध महत् सपरिवृत्तनाभि भृशोन्नत पूर्णमिवाम्बुना च । यथा दृति क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदर तत् ।" (सु नि अ ७)।

अजातोदक (जिसमें जल उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे) उदरके लक्षण—

जो उदर शोथ (सूजन) रहित, अरुणवर्ण, गुड-गुड शब्दयुक्त, अति भारी नही ऐसा (कुछ भारी), सिराओंके जालवाला, जिसमें अपान वायु नाभि और आँतोंको विष्टब्ध (फूला) कर वेगसे अन्दर ही लीन हो जाय (बाहर निकले-सरे नहीं ऐसा), यदि वायु सरे तो कर्कश आवाजके साथ सरे, जिसमें हृदय-नाभि-वक्षण (ऊरुसधि)-कमर और गुदामें शूल हो, जठराग्नि अति मन्द न हो, मुँहका स्वाद-विगडा न हो, खानेकी इच्छा हो, पेशाब कम आता हो, मल कठिन हो तो उसमें जल नही उत्पन्न हुआ है ऐसा जानना चाहिए[1]।

उदररोगके साध्यासाध्य लक्षण—

जन्मसे (स्वभावसे) ही सब प्रकारके उदर प्राय कृच्छ्रसाध्य होते हैं । यदि रोगी वलवान हो, पेटमें जल उत्पन्न न हुआ हो और रोग नया हो तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करनेसे रोगी अच्छा होता है । वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर और जलोदर ये उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं । बद्धगुदोदर एक पक्ष (१५ दिन) के बाद तथा छिद्रोदर और जलोदर प्राय असाध्य होते हैं । जिस उदरवालेको आँखकी सूजन, शिश्नेन्द्रिय टेढी होना, त्वचा पतली और आर्द्र रहना, वल-रक्त-मास और जठराग्नि क्षीण होना, मर्मस्थानोंमें शोथ, श्वास, हिचकी, अरुचि, अन्नद्वेष, तृषा, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, पार्श्वमें भग-टूटने जैसी वेदना–ये लक्षण हों तथा विरेचन होनेपर फिर जल भर जाय वह उदरवाला असाध्य होता है[2]।

---

१ "अजातशोथमरुण सशब्द नातिभारिकम् । सदा गुडगुडावन्त सिराजालगवाक्षितम् ॥ नाभिं विष्टभ्य वायुस्तु वेग कृत्वा प्रणश्यति । हृन्नाभि वङ्क्षण-कटी-गुदप्रत्येकशूलिन ॥ कर्कश सृजतो वात नातिमन्दे च पावके । लोलस्यानिरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे सहते विशि ॥ अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वत । उपक्रमेद्भिषग्दोष-वल-कालविशेषवित् ॥" (च चि अ १३) । "सर्वं त्वतोयमरुणमशोथ नातिभारिकम् । गवाक्षित सिराजाले सदा गुडगुडान्वितम् ॥ नाभिमन्त्र च विष्टभ्य वेग कृत्वा प्रणश्यति । मारुतो हृत्कटी-नाभि-पायु-वक्षणवेदना ॥ सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड्बन्धो मूत्रमल्पकम् । नातिमन्दोऽनलो लौल्य न च स्याद्विरस मुखम् ॥" (अ स नि अ १२) ।

२ "जन्मनैवोदर सर्वं प्राय कृच्छ्रतम मृतम् । वलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्य नवोत्थितम् ॥ वाताद् पित्तात् कफात् प्लीह्न सन्निपातात्तथोदकात् । पर पर कृच्छ्रतरमुदर भिषगादिशेत् ॥ पक्षाद्बद्धगुद तूर्ध्वं सर्वं जातोदक तथा । प्रायो भवत्यभावाय छिद्राच्च चोदर नृणाम् ॥ शूनाक्ष कुटिलोपस्थमुपक्लिन्न-तनुत्वचम् । वल-शोणित-मासाग्निपरिक्षीण च वर्जयेत् ॥ श्वयथु सर्वमर्मोत्थ श्वासो हिक्काऽरुचि सतृट् । मूर्च्छा च्छर्दिरतीसारो निहन्त्युदरिण नरम् ।" (च चि अ १३) । "पार्श्वभङ्गान्नविद्वेष-शोफातीसारपीडितम् । विरिक्त पूर्यमाण च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥" (सु सू अ ३३) । "अन्ते सलिलभाव हि भजन्ते जठराणि तु । सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत् "विध्येत्यजेत वा ॥" इति पा०) ॥" (सु नि अ ७) ।

अरोचकाधिकार ।

अरोचकके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक और मानस भेदसे अरोचक पॉच प्रकारका होता है[१] ।

अरोचककी संप्राप्ति—

जीभ, हृदय और भक्तायन (अन्ननली और आमाशय) मे रहे हुए वातादि दोष तथा शोक, भय, अति लोभ (लोलुपता), क्रोध और मनको अप्रिय भोजन-गन्ध-रूप-दृश्य आदि मानसिक भावोंसे अन्न खाने पर रुचि नही होती है, इस व्याधिको **अरोचक-भक्तोपघात** कहते हैं[२] ।

वातज अरोचकके लक्षण—

वातिक अरोचकमे हृदय (छाती) मे शूल जैसी पीडा, दाँतोंमे खट्टापन या पानी आना (दन्तहर्ष) तथा मुँहका स्वाद कसैला या विरस होना ये लक्षण होते हैं[३] ।

पित्तज अरोचकके लक्षण—

पैत्तिक अरोचकमे हृदय (छाती-अन्ननलिका) मे जलन तथा चूसनेकी सी पीडा, मुँहका स्वाद कडुआ-तीता-खट्टा या विरस रहना, मूर्च्छा, तृषा और मुँहमें उष्णता तथा दुर्गन्ध रहना ये लक्षण होते हैं[४] ।

कफज अरोचकके लक्षण—

कफज अरोचकमे मुँहमें कण्डू, भारीपन, कफ लार-का अधिक स्राव, पिच्छिलता, ठण्डापन, अकडाहट, मुँहका स्वाद लवण या मधुर रहना, शरीरमे अवसाद और तन्द्रा ये लक्षण होते हैं[५] ।

---

१ "पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानीति—वात-पित्त-कफ सन्निपात-द्वेषा ।" (च सू अ १९)। २ "पृथग्दोषै समस्तैर्वा जिह्वा-हृदयसंश्रितै । जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसे ।" (च चि अ ८)। "वातादिभि शोक-भयातिलोभ-क्रोधैर्मनोघ्नाशन गन्धरूपै । अरोचकास्यु" (च चि अ २६)। २ "दोषै पृथक् सह च चित्तविपर्ययाच्च भक्तायनेषु हृदि चावतते प्रगाढम् । नान्ने रुचिर्भवति त भिषजो विकार भक्तोपघातमिह पञ्चविध वदन्ति ॥" (सु उ अ ५७)। ३ "परिहृष्टदन्त कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ।" (च चि अ २६)। "हृच्छूलपीडनयुत विरसाननत्व वातात्मके भवति लिङ्गमरोचके तु ।" (सु उ अ ५७)। ४ "कट्वम्लमुष्ण विरस च पूति पित्तेन विद्यात्" (च चि अ २६)। "हृद्दाह-चोषबहुता मुखतिक्तता च मूर्च्छा सतृड् भवति पित्तकृते तथैव ।" (सु उ अ ५७)। ५ "लवण च वक्त्रम् । माधुर्य-पैच्छिल्य-गुरुत्व-शैत्य-विबद्ध सबद्धयुत कफेन ।" (च. चि अ २६)। "कण्डू-गुरुत्व-कफसस्रव-साद-तन्द्रा श्लेष्मात्मके मधुरमास्यमरोचके तु ।" (सु. उ अ. ५७)।

त्रिदोषज अरोचकका लक्षण—

त्रिदोषज अरोचकमें वातज, पित्तज तथा श्लेष्मज अरोचकमें कहे हुए सर्व प्रकारके लक्षण तथा मुहके स्वाद दोषकी अधिकताके अनुसार न्यूनाधिक प्रमाणमें होते हैं[१]।

मानस अरोचकके लक्षण—

शोक, भय, अति लोभ, क्रोध, काम, चिन्ता आदि मानसिक कारणोंसे उपहत मनवालेको तथा मनको अप्रिय भोजन और गन्धसे एवं अशुचि पदार्थोंके दर्शनसे जो अरोचक होता है उस (मानसिक अरोचक) में मुँहका स्वाद स्वाभाविक (अविकृत) रहता है, परन्तु अन्न खाने पर रुचि नहीं होती[२]।

अवस्थाभेदसे अरोचकके विभिन्न नाम—

जिस व्याधिमें मुँहमें डाला हुआ स्वादिष्ट अन्न भी अच्छा न लगे उसको **अरोचक** कहते हैं, अभीप्सित-इच्छित आहार देने पर भी न खा सकना **अन्नानभिनन्दन** कहलाता है, अन्नके चिन्तन, स्पर्शन, दर्शन, गन्ध, श्रवण तथा स्मरण मात्रसे ही मनमें उद्वेग उत्पन्न होने को **भक्तद्वेष** कहते हैं तथा क्रोध, भय आदि मानसिक कारणोंसे और अभिचारसे भोजनकी इच्छा न होनेको **अभक्तच्छन्द** कहते हैं[३] (वृद्धभोज)।

तृष्णारोगाधिकार।

तृष्णाका सामान्य लक्षण—

जिस व्याधिमें मनुष्य वार-वार जल-पानी पीवे परन्तु उसको जलपानसे तृप्ति न

---

१ "त्रिदोषजे नैकरस भवेत्तु ।" (च चि अ २६)। "सर्वात्मके पवन-पित्त-कफा बहूनि रूपाण्यथास्य हृदये समुदीरयन्ति।" (सु उ अ ५७)। "कषाय-तिक्त-मधुरैर्विद्यान्मुखरसै क्रमात् । वाताद्यैररुचिं जाता मानसीं दोषदर्शनात् ॥" (च चि अ ८)।

२ "अरोचके शोक-भयातिलोभ-क्रोधाद्यहृद्याशन-गन्धजे स्यात् । स्वाभाविक वक्त्रमथारुचिश्च" (च चि अ २६)। "सराग-शोक-भय-विप्लुतचेतसस्तु चिन्ताकृतो भवति सोऽशुचिदर्शनाच्च।" (सु उ अ ५७)। "सराग काम ।" (ड)।

३ "प्रक्षिप्त तु मुखे चान्न जन्तोर्न स्वदते मुहु । अरोचक स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमत शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम् । द्वेषमायाति यज्जन्तुर्भक्तद्वेष स उच्यते ॥ कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च । यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ॥" (वृद्धभोज)। "सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचि , अभिलषितमप्यन्न दीयमान नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवण-स्मरण दर्शन-गन्धन स्पर्शनैर्यत्रोद्विजते स भक्तद्वेष , एव त्रिविधोऽपि रोगश्चरक-सुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन सगृहीत ।" (वि र)।

हो (प्यास बुझे नही) और फिर जल पीनेकी इच्छा हो, उस रोगको **तृष्णा** कहते हैं[1]। **तृष्णा, तृषा, तर्ष, तृट्** और **पिपासा** (प्यास) ये पर्याय शब्द हैं।

तृषाके हेतु और संप्राप्ति—

क्षोभ, भय, श्रम, शोक, क्रोध, लङ्घन उपवास, मद्यपान, धातुओंका क्षय, सूर्यका सताप (तेज धूप), दीर्घ काल तक रोग चलना (गदकर्षण), वमन-विरेचन आदिका अतियोग, वलका क्षय तथा क्षार-अम्ल-लवण-कटु (चरपरे)-उष्ण-रूक्ष शुष्क (सूखे) अन्न-आहार-का सेवन-इन कारणोंसे प्रकुपित पित्त और वात कफ रस आदि सौम्य (सोम-जलप्रधान) धातुओं तथा रसवाहिनियों(जलवह स्रोतों)-जिह्वामूल-गला-तालु और क्लोम-इनको दूषित और सुखा कर तथा तालुमे प्राप्त होकर तृषा उत्पन्न करते है। अतिवलवान् पित्त और वात वार-वार पीये हुए जलका शोषण करते हैं, अत जल पीने पर भी तृषा शात नही होती है। अन्य व्याधिसे कृश हुएको तृषा रोग घोर उपद्रवरूप होता है[2]।

सर्व तृषाओंमें पित्त और वातका अव्यभिचारि कारणत्व—

अग्निरूप पित्त और वातके विना तृषा उत्पन्न नही होती, क्योंकि जल धातु (शरीरस्थ जलाश) का शोषण करनेमे वढे हुए पित्त और वात ये दो कारण होते हैं। शरीरमे जल धातुका क्षय होने पर उसकी पूर्तिके लिए प्यास लगती है। विदाहावस्था (अन्नके पाककाल) मे सयोग-विभागसे एकीभावको प्राप्त होते हुए गुरु अन्न–दूध और स्नेह पदार्थसे वात और पित्तकी गति रुकने पर जो तृषा होती है वहॉ भी तृषाका कारण वात और पित्त ही होते हैं। मद्य अपने तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष गुणके कारण पित्त और वायुका प्रकोप तथा जलधातुका शोषण करके तृषा उत्पन्न करता है। शीतल जलसे स्नान करने पर जलके शीतल स्पर्शसे अवरुद्ध (रुका हुआ) ऊष्मा कोष्ठमे प्राप्त होकर तृषा

---

१ "सतत य पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति। पुन काङ्क्षति तोय च त तृष्णार्दितमादिशेत्॥" (सु उ. अ ४८)। २ "क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात् क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्। क्षाराम्ल-लवण-कट्वुष्ण-रूक्ष-शुष्कान्नसेवाभि ॥ धातुक्षय गदकर्षण वमनाद्यतियोग सूर्यसतापै । पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूश्च शोषयत. ॥ रसवाहिनीश्च नालीर्जिह्वामूल-गल-तालुक क्लोम्न । सशोष्य नृणा देहे कुरुतस्तृष्णा महाबलावेतौ॥ पीत पीत हि जल शोषयतस्तावतो न याति शमम्। घोरव्याधिकृशाना प्रभवत्युपसर्गभूता सा॥" (च चि अ २२)। "क्लोम कण्ठोरसो. सन्धि ।" (ग.)। "सक्षोभ-शोक-श्रम-मद्यपानाद्रूक्षाम्ल-शुष्कोष्ण-कटूपयोगात्। धातु-क्षयाल्लङ्घन-सूर्यतापात् पित्त च वातश्च भृश प्रवृद्धो॥ स्रोतासि सदूषयत समेतौ यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणा हि। स्रोत स्वपावाहिषु दूषितेषु जायेत तृष्णाऽतिवला ततस्तु॥" (सु उ अ. ४८)। "भय श्रमाभ्या वलसक्षयाद्वा। पित्त सवात कुपित नराणा तालुप्रपन्न जनयेत् पिपासाम्॥ स्रोत-स्वपावाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् सभवतीह जन्तो ।" (मा नि. अ १६)। "जिह्वामूल-गल-क्लोम-तालुतोयवहा सिरा । सशोष्य तृष्णा जायन्ते" (अ स नि अ. ५)।

उत्पन्न करता है, इस' लिये धूप-अग्निसताप आदिसे तप्त मनुष्य सहसा शीतल जलसे स्नान न करे, किन्तु शरीर ठण्डा होने पर स्नान करे। ऊपर लिखी हुई गुर्वन्नजादि सब तृषाओंमे वायुका क्षय (वातप्रकोप कम) होने पर पैत्तिक लक्षण होते हैं[1] (च.)।

तृषाके भेद—

वातजा, पित्तजा, कफजा, क्षतजा, क्षयजा, आमजा, और **भक्तजा**-इन भेदोंसे तृषा सात प्रकारकी होती है (सु.)। **वाग्भटने** तृषाके **वातजा, पित्तजा, कफजा, सान्निपातिकी, रसक्षयजा** तथा **उपसर्गजा** ये छ भेद माने है। **चरकने** तृषाके **वातजा, पित्तजा, आमजा, क्षयजा** और **उपसर्गात्मिका** ये पाँच भेद माने हैं[2]।

तृषाके पूर्वरूप—

तालु-होंठ-कण्ठ और मुँह सूखना, दाह (भीतरसे जलन), सताप (बाहरसे शरीर

---

१ "नाग्नेर्विना हि तर्ष पवनाद्वा ता हि शोषणे हेतू। अब्धातोरतिवृद्धावपाक्षये तृष्यति नगे हि॥ गुर्वन्न-पय -स्नेहै समूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च। यस्तृष्येद्वृतमार्ग तत्राप्यनिलानलौ हेतू॥ तीक्ष्णोष्ण-रूक्षभावान्मद्य पित्तानलौ प्रकोपयति। शोषयतोऽपा धातु तावेव हि मद्यशीलानाम्॥ तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम्। तेषा सतप्ताना हिमजलपानाद्भवति शर्म॥ शिशिरस्नानस्योष्मा रुद्ध कोष्ठ प्रपद्य तर्पयति। तस्माद्भजेत सहसा नोष्ण स्नाने जल शीतम् ('तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जल शीतम्।' इति पा०)॥ लिङ्ग सर्वास्वेतास्वनिलक्षयात् पित्तज ('निलक्षय-पित्तज' इति पा०) भवत्यथ तु॥" (च चि अ २२)। "नन्वाभ्योऽप्यतिरिक्तास्तृष्णा दृश्यन्ते, ता कथ नोपदिश्यन्त इत्यत आह—नाग्नेरित्यादि। हि यस्मादग्नेस्तेजसो विना पवनाद्वा विना तर्षा भवति। हि यस्मादब्धातोरतिवृद्धा शोषणे हेतू तावग्निपवनौ भवत, तस्मान्नगेऽपा क्षये तृष्यते। × ×। विदाहकाले पाककाले समूर्च्छद्भि परस्पर सयोग-विभागाभ्यामेकीभावमापद्यमानैर्गुर्वन्न पय -स्नेहैर्वृतमार्ग पवन-तेजसोर्गतिमत्त्वावरणे य पुमान् तृष्येत्तत्रापि पवनानिलो हेतू भवत, तस्मादन्नजा तृष्णा नातिरिक्ता। ×। मद्य तीक्ष्णादिगुणै पित्तानिलौ प्रकोपयति। मद्यकुपितौ तावेव मद्यशीलानामपा धातु शोषयत। ×। तस्माद्वातपित्तजतृष्णातिरिक्ता न मद्यजा तृष्णा। शिशिरे (जले) स्नातस्य देहोष्मा रुद्ध सन् कोष्ठ जठर प्राप्य तर्पयति। तस्मादुष्णसन्तप्तदेह पुमान् स्नाने शीत जल सहसा न भजेत। अत्रापि देहोष्मा पित्तविशेष एव, तस्माज्जातेय तृष्णा नातिरिक्ता।" (ग)। "ऊष्मा रुद्ध इति शीतजलस्पर्शेन बहिरनिर्गच्छन् रोमकूपैरुष्माऽवरुद्ध प्रतीपीकृत, एतेन एताया अपि पित्तजत्वमुक्तम्। न सहसेत्यनेन विश्रम्य शीतजलसेवायां न तथाविधा तृष्णा भवतीति दर्शयति" (च द)।

२ "तिस्र स्मृतास्ता क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथाऽन्याऽऽमसमुद्भवा च। स्यात् सप्तमी भक्तनिमित्तजा तु" (सु उ अ ४८)। "वातात् पित्तात् कफात्तृष्णा सन्निपातादसक्षयात्। षष्ठी क्षयोपसर्गाच्च" (अ स नि अ ५)। "पञ्च तृष्णा इति वात-पित्ताम-क्षयोपसर्गात्मिका।" (च सू अ १९)।

गरम मालूम होना), मूर्च्छा, चक्कर आना और असबद्ध बोलना ये तृषाके पूर्वरूप है (तृष्णा रोग होनेके पहिले ये लक्षण होते हैं[१])।

तृष्णाके सामान्य लक्षण—

तृष्णा रोगमे सर्वदा जल पीनेकी इच्छा, मुँह सूखना, जल पीनेसे तृप्ति न होना, अन्नद्वेप, स्वर (आवाज) क्षीण होना, कण्ठ-जीभ और होंठकी कर्कशता, जीभ मुँहसे बाहर निकलना, बिना परिश्रमके थकावट, असबद्ध बोलना, चित्तविभ्रश (मनकी व्याकुलता) तथा तृषाके वेगको रोकनेसे होने वाले लक्षण (देखें इसी ग्रन्थमे पृ १०३ पर) होते हैं[२]।

वातज तृषाके लक्षण—

वातज तृषामे नींद न आना, सिरमे चक्कर मालूम होना, मुँह सूखा और विरस होना, स्रोतोका अवरोध, कनपटी और सिरमे सूई चुभने सी वेदना, ठण्डा जल पीनेसे प्यास बढना, कृशता, दीनता, गन्धका सम्यक् ज्ञान न होना, कम सुनना और बलक्षय ये लक्षण होते हैं[३]।

पैत्तिक तृषाके लक्षण—

पैत्तिक तृषामे दाह अधिक होना, मुँहका स्वाद तीता-कडुआ रहना, सिरमे दाह, शीतल पदार्थोंकी इच्छा, मूर्च्छा, नेत्र-मूत्र और मलमे पीलापन, प्रलाप, अरुचि, मुँह सूखना, भीतरसे धुआँ उठता हो ऐसा मालूम होना और आँखें लाल होना ये लक्षण होते हैं[४]।

---

१ "प्राग्रूप मुखशोष" (च चि अ २२)। "ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोष-दाहा सताप-मोह-भ्रम-विप्रलापा। पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकालेषु विशेषतस्तु॥" (सु उ अ ४८)। २ "स्वलक्षण सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।" (च चि अ २२)। "तासा सामान्यलक्षणम्। मुखशोषो जलातृप्तिरन्नद्वेष स्वरक्षय॥ कण्ठोष्ठजिह्वाकार्कश्य जिह्वानिष्क्रमण क्लम। प्रलापश्चित्तविभ्रशस्तृड्ग्रहोक्तास्तथाऽऽमया॥" (अ स नि अ ५)। ३ "निद्रा-नाश शिरसो भ्रमस्तथा शुष्क-विरसमुखता च। स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्ग वाततृष्णाया॥" (च चि अ २२)। "शुष्कास्यता मारुतसभवाया तोदस्तथा शङ्ख-शिर सु चापि। स्रोतो-निरोधो विरस च वक्त्र शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति॥" (सु उ अ ४८)। "मारुतात् क्षामता दैन्य शङ्खतोद शिरोभ्रम.। गन्धाज्ञानास्यवैरस्य-श्रुति-निद्रा-बलक्षया। शीताम्बुपाना-द्वृद्धिश्च॥" (अ स नि अ ५)। ४ "पित्त मतमाग्नेय कुपित चेत्तापयत्यपा धातुम्। सतप्त स हि जनयेत्तृष्णा दाहोल्वणा नृणाम्॥ तिक्तास्यत्व शिरसो दाह शीताभिनन्दता मूर्च्छा। पीताक्षि-मूत्र-वर्चस्त्वमाकृति पित्ततृष्णाया॥" (च चि अ २२)। "मूर्च्छा-प्रलापारुचि-वक्त्रशोषा पीतेक्षणत्व प्रतनश्च दाह। शीताभिकाङ्क्षा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकाया परिधूपन च॥" (सु उ अ ४८)। "पित्तान्मूर्च्छास्यतिक्तता। रक्तेक्षणत्व प्रतत शोषो दाहोऽतिधूमक॥" (अ स नि अ ५)।

कफज तृषाके लक्षण—

जब पित्त और वात कफके द्वारा आवृत होते हैं तब कफ भी शुष्क होकर तृषा उत्पन्न करता है। उस तृषामें नींद अधिक आना, मुँहका स्वाद मीठा रहना, मुँहमें अति शोष पड़ना, कण्ठ कफसे ढ़िपा हुआ सा मालूम होना, मुख लुआबदार (पिच्छिल) रहना, शीत लग कर ज्वर आना, उलटी होना, अरुचि, शरीरका भारीपन, हाथ–पाँवमें सूजन, अन्न न पचना तथा जल पीनेकी अति इच्छा न होना ये लक्षण होते हैं (सु)। जब प्रकुपित कफ जलवाही स्रोतोंमें वायुका अवरोध करता है तब जैसे बाह्य वायुसे पङ्क–कीचड़ सूख जाता है वैसे अवरुद्ध वायुसे जलवह स्रोत स्थ कफ शुष्क होकर कण्ठ सूक्ष्म काँटोंसे आवृत सा मालूम होना, नींद अधिक आना, मुँहका स्वाद मीठा रहना, अफारा, सिरमें जड़ता, शरीर गीले कपड़ेसे लिपटा हुआ सा मालूम होना और आलस्य ये लक्षण उत्पन्न करता है[1] (वा.)।

सान्निपातिक तृष्णाका लक्षण—

ऊपर लिखे हुए वातजा, पित्तजा और कफजा तृषाके लक्षण जहाँ एकत्र देखनेमें आवें उस तृषाको सान्निपातिक तृषा जानना चाहिए[2]।

आमज तृषाके लक्षण—

आमदोषसे जो तृषा होती है उसको आम पित्तसे उत्पन्न होनेके कारण आमजा जानना चाहिए। आमज तृषामें अरुचि, आध्मान और कफप्रसेक (मुँहसे लालाका अधिक स्राव होना) ये लक्षण होते हैं (च.)। आमज तृष्णामें तीनों दोषोंके लक्षण तथा हृदयमें शूल, बार–बार थूकना और अवसाद ये लक्षण होते हैं (सु.)। आमज तृषाको अन्न न पचनेके कारण अन्नरससे शरीरका तर्पण न होनेसे वृद्ध वातपित्तज जानना चाहिए[3] (वृ. वा.)।

---

१ "कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णाम्। निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तयाऽर्दितः शुष्यति चातिमात्रम्॥ कण्ठोपलेपो मुखपिच्छिलत्वं शीतज्वरश्छर्दिररोचकश्च। कफात्मिकाया गुरुगात्रता च शाखासु शोफस्त्वविपाक एव॥ एतानि रूपाणि भवन्ति तस्यां तयाऽर्दितः काङ्क्षति नाति चाम्भः।" (सु. उ. अ. ४८)। "कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम्। स्रोतःसु स कफस्तेन पङ्कवच्छोष्यते ततः॥ शूकैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता। आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्यरोचकाः॥ आलस्यमविपाकश्च" (अ. सं. नि. अ. ५)। "तृष्णासु शोषे वात-पित्तं कारणमुक्तं, तत् कफे कदाचित् सौम्यत्वान्न संभवत्यत कफजाया संप्राप्तिरुच्यते—कफः कुपितस्तोयवाहिषु स्रोतःसु यदा मारुतं रुणद्धि तदा तेन मारुतेन स कफः शोष्यते पङ्कवत्, ततः कफे शुष्के अविपाकान्तं तृष्णाया लिङ्गं भवतीति।" (इन्दु)। २ "सर्वैः स्यात् सर्वलक्षणा।" (अ. सं. नि. अ. ५)। ३ "तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्। लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानं कफप्रसेको च॥" (च. चि. अ. २२)। "आमशब्देन चेह लक्षणया आमसमानचिकित्सित आमसमानलक्षणश्च कफोऽपि

भक्तज तृषाके लक्षण—

स्निग्ध, अम्ल, लवण और गुरु अन्नके भोजनसे जो तृषा होती है उसको **भक्तजा** तृष्णा कहते है (सु)। यह तृषा कफके प्रकोपसे होती है[1] (वृ. वा.)।

रसक्षयज तृष्णाके लक्षण—

देह रस धातुसे उत्पन्न-पोषित होता है, रस धातु जलसे उत्पन्न होता है (आप्य है), अत रस धातुका क्षय होने पर तृषा उत्पन्न होती है। रसक्षयज तृषामे स्वर क्षीण हो जाना, मूर्च्छा तथा हृदय–गला और तालुका सूखना (सु.) और रसक्षयसे होने वाले अन्य लक्षण भी होते हैं[2] (वा.)। (रसक्षयके लक्षण इसी ग्रन्थके पूर्वार्धमें पृ ६३ पर देखें)।

उपसर्गज (उपद्रवरूप) तृषाके लक्षण—

ज्वर, मेह (मधुमेह), धातुक्षय, राजयक्ष्मा, श्वास आदि अन्य दीर्घकाल रहने वाले रोगोमें उपद्रवरूप जो तृषा होती है उसको **उपसर्गजा** तृष्णा कहते हैं। उपसर्गजा तृष्णा मुख-गला आदिको सुखाने वाली और कष्टसाध्य होती है (च.)। इस तृषामे रोगीको दाह होता है तथा जल पीनेकी अति इच्छा होती है। इस तृषाको कई आचार्य **सान्निपातिक** मानते हैं[3] (सु)।

गृह्यते, तेनामप्रभवाया व्युत्पादनेन कफजाऽपि सुश्रुतोक्ता गृहीतैव। X। आमपित्तजनितत्वादिति आमावरोधवृद्धपित्तजनितत्वादित्यर्थ ।" (च द) "त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूल-निष्ठीवन-सादयुक्ता।" (सु उ अ ४८)। "आमोद्भवा च भक्तस्य सरोधाद्वात-पित्तजा।" (अ स नि ५)। "या त्वामोद्भवा सा वात-पित्तजैव वोद्धव्या। यत आमेनावच्छन्नान्नस्यापाकेन तर्पणाभावाद्वृद्धाभ्या वात-पित्ताभ्या जन्यते।" (इन्दु.)।

१ "स्निग्ध तथाऽन्न मधुर च भुक्त गुर्वन्नमेवाशु तृषा करोति।" (सु उ अ ४८)। "स्निग्धगुर्वम्ल लवणभोजनेन कफोद्भवा।" (अ स नि अ ५)। "स्निग्धादिभोजनेन या तृष्णा सा कफोद्भवेति विज्ञेया।" (इन्दु)। २ "देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येत्तु। दीनस्वर प्रताम्यन् सशुष्कहृदय-गल-तालु ॥" (च चि अ २०)। "रसक्षयाद्या क्षयजा मता सा तयाऽर्दित शुष्यति दह्यते च। अत्यर्थमाकाङ्क्षति चापि तोय ता सन्निपातादिति केचिदाहु ॥ रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥" (सु उ अ ४८)। "तृष्णा रसक्षयोक्तेन लक्षणेन क्षयात्मिका।" (अ स नि अ ५)। ३ "भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा। ज्वर-मेह-क्षय शोष-श्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥" (च चि अ २०)। उपसर्गादिति ज्वराद्युपद्रवात्, ज्वराद्युपद्रवरूपतयेति यावत्। X। एव प्रागमून्नितवात-पित्तामाग्नुक्षयोपसर्गात्मिका पञ्च तृष्णा व्याहृता। अत्रैव सुश्रुतोक्ता कफजा आमजायामवरुद्धा, क्षतजा उपसर्गात्मिकायामवरुद्धा, अन्नजा चामजायामेवान्तर्भावनीया।" (च द)। "शोष-मेह-ज्वराद्यन्यदीर्घरोगोपसर्गत। या तृष्णा जायते तीव्रा सोपसर्गात्मिका स्मृता ॥" (अ स नि अ ५)।

क्षतज तृष्णाके लक्षण—

शस्त्रादिसे शरीर क्षत होने पर क्षतकी पीडा और रक्तस्रावके कारण **क्षतजा** तृषा होती है। इस तृषासे पीडित मनुष्यको दिन-रात जल पीने पर भी सुख नही मालूम होता है[१]।

तृष्णाके उपद्रव—

तृषा अति बढने पर मुँह सूखना, स्वरभेद, चक्कर आना, सताप, प्रलाप, स्तब्धता, तालु-होंठ-कण्ठ-और जीभकी कर्कशता-खुरदरापन, चित्तनाश-मनका अवसाद, जीभ बाहर निकल आना, अरुचि, बहरापन, हृदयमे पीडा और शरीरका अवसाद-शैथिल्य ये उपद्रव होते हैं[२]।

तृषाके असाध्य लक्षण—

सब प्रकारकी अति बढी हुई, अन्य रोगसे कृश हुए मनुष्यको हुई तथा छर्दिरोग वालेको उत्पन्न हुई और घोर उपद्रवोंसे युक्त तृषा असाध्य होती है[३]।

उरोगतरोगविज्ञानीयाध्याय–तृतीय।

हिक्का-श्वासाधिकार।

हिक्का और श्वासका सामान्य स्वरूप और गम्भीरत्व—

अनेक रोग प्राणहर (जीवनका नाश करनेवाले) है परन्तु जैसे हिक्का और श्वास प्राणका शीघ्र नाश करते हैं वैसे वे प्राणका शीघ्र नाश नही करते हैं। अन्य रोगोंसे पीडित मनुष्यको भी अन्तमे हिक्का या तीव्र वेदना-पीडा करनेवाला श्वास होता है। हिक्का और श्वास ये दोनो रोग कफवातात्मक (कफ और वात-प्रधान) है परन्तु इनकी उत्पत्ति पित्त स्थान (आमाशय-पच्यमानाशय) से होती है-अर्थात् जब पित्तस्थान अन्नपचनका कार्य ठीक नहीं करता है तब हिक्का और श्वास रोग उत्पन्न होते हैं। ये दोनो रोग हृदय और रसादि धातुओंका शोषण करनेवाले हैं। इसलिए ये दोनों व्याधि साधारणत परम दुर्जय-कष्टसाध्य माने जाते हैं। यदि इन दोनों रोगोंका मिथ्या उपचार हो तो ये क्रुद्ध

---

१ "क्षतस्य रुक्-शोणितनिर्गमाभ्या तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु। तयाऽभिभूतस्य निशा-दिनानि गच्छन्ति दु ख पिबतोऽपि तोयम्॥" (सु उ अ ४८)। २ "मुखशोष-स्वरभेद-भ्रम-सताप-प्रलाप सस्तम्भान्। ताल्वोष्ठ-कण्ठ-जिह्वाकर्कशता चित्तनाश च॥ जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयन सादम्। तृष्णोद्भूता कुरुते" (च चि अ २२)। "ये तु मुखशोषादीनि लक्षणान्याहुस्तन्मते तृष्णोपद्रवाणामभिधान न स्यात्, उपद्रवाश्चाध्यायसग्रहे सगृहीता, तेनातिशय-वृद्धा मुखशोषादय उपद्रवा., वृद्धास्तु लिङ्गमिति व्यवस्था।" (च द)। ३ "सर्वास्त्वति-प्रसक्ता रोगकृशाना वमिप्रसक्तानाम्। घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेया॥" (च चि. अ २२)।

आशीविष सर्पके समान रोगीको शीघ्र मारते हैं (च.) (यह कथन हिक्का और श्वास रोगके कुछ भेदोंकी गम्भीरता दिखलानेके लिए है)[१] ॥

हिक्का और श्वासके भेद—

महती, गम्भीरा, व्यपेता (यमला–सु.), क्षुद्रा और **अन्नजा**–इन भेदोंसे हिक्का पाँच प्रकारकी होती है[२]। **महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास** और **क्षुद्रश्वास**–इन भेदोंसे श्वास पाँच प्रकारका होता है[३]।

हिक्का और श्वासके हेतु—

रज (धूल उड़ना), धुआँ, तेज हवा, शीतल आसन और स्थान, शीत जल, अधिक परिश्रम, मैथुन, मार्गगमन, रूक्ष (स्नेहरहित) अन्न, विषमाशन (बहुत–अल्प या अकालमें भोजन), आमप्रदोष, आनाह रोग, रूक्षता, अति अपतर्पण (अति अल्प भोजन), दुर्बलता, मर्मस्थानमें आघात लगना, शीत-उष्ण-रूक्ष-स्निग्ध आदि द्वन्द्वों (विरुद्धधर्मी भावों) का एक साथ सेवन, वमन-विरेचन आदि संशोधनोंका अतियोग, अतिसार, ज्वर, उलटी, जुकाम, उरःक्षत, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, पाण्डुरोग, विष, निष्पाव (सेमके बीज)-उड़द-खली-तिलतैल पिष्ट(मैदा) कमलका कन्द-विष्टम्भि-विदाहि और गुरु-पदार्थ-जलज और आनूप प्राणियोंका मांस-दही-कच्चा दूध-अभिष्यन्दि उपचार तथा भोजन और कफ करनेवाले पदार्थोंका सेवन, कण्ठ और उर-छातीमें प्रतिघात, नाना प्रकारका विबन्ध (मल-मूत्र-स्वेद आर्तव आदिका अवरोध) (**च**), अग्निसेवन, भार उठाना, वेगोंको रोकना, धातुओंका क्षय, अध्यशन (एक बार खाया हुआ पचन होनेके पहिले ही दूसरी बार खा लेना), समशन (पथ्य तथा अपथ्य पदार्थ एक साथ खा लेना) इन कारणों से हिक्का-श्वास और खाँसी ये रोग उत्पन्न होते हैं[४]।

---

१ "कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥ अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः। अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥ कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ। हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥ तस्मात् साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ। मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हतः आशीविषाविव ॥" (च. चि. अ. १७)। "सर्वेऽपि रोगा नाशाय, न त्वेवं शीघ्रकारिणः। हिध्मा-श्वासौ यथा तौ हि मृत्युकाले कृतालयौ ॥" (अ. सं. नि. अ. ४)। २ "पञ्च हिक्का इति महती, गम्भीरा, व्यपेता, क्षुद्रा, अन्नजा च।" (च. सू. अ. १९)। "अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा। वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥" (सु. उ. अ. ५०)। ३ "पञ्च श्वासा इति महोर्ध्व-च्छिन्न-तमक-क्षुद्राः।" (च. सू. अ. १९)। "क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वस्तथैव च। भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥" (सु. उ. अ. ५१)। ४ "रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्। व्यायामाद्ग्राम्यधर्माध्व-रूक्षान्न-विषमाशनात् ॥ आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्। दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद्द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ॥ अतिसार-ज्वर-च्छर्दि-प्रतिश्याय-क्षत-क्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥ पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तते

हिक्का और श्वासकी सामान्य संप्राप्ति—

ऊपर लिखे हुए कारणोंसे प्रकुपित वायु प्राणवह स्रोतोंमें प्रवेश कर तथा उर स्थलसे कफको ऊपरकी ओर उठाकर हिक्का और श्वास रोगको उत्पन्न करता है[1]।

हिक्का और श्वासके पूर्वरूप—

कण्ठ और छातीका भारीपन, मुंहका कसैलापन, बेचैनी और पेटका अफारा ये हिक्काके पूर्वरूप हैं। आनाह, पार्श्वशूल, हृदयमें पीडा, प्राणवायुकी विलोम (विपरीत) गति, अन्नपर द्वेष, बेचैनी तथा शङ्खस्थान-कनपटी-मे भेदनवत पीडा होना ये श्वासके पूर्वरूप हैं[2]।

'हिक्का' शब्दकी निरुक्ति—

इस रोगमें उदानसहित प्राणवायु यकृत-प्लीहा और आंतोंको बाहर फेंकता सा हिक् ऐसे शब्दके साथ मुखसे बाहर आता है और यह रोग प्राणोंकी हिंसा करता है इस लिए इस व्याधिको हिक्का कहते हैं[3]। हिक्का और हिध्मा ये दोनों पर्याय शब्द हैं।

हिक्काकी विशिष्ट संप्राप्ति—

कफसहित वायु प्राण तथा उदक-जल और अन्नको वहन करने वाले स्रोतोंका अवरोध करके हिक्का रोगको उत्पन्न करता है[4]।

गदानिर्मं। निष्पाव-माष-पिण्याक-तिलतैलनिषेवणात्॥ पिष्ट-शालूक विष्टम्भि-विदाहि-गुरुभोजनात्। जलजानूपपिशित-दध्यामक्षीरसेवनात्॥ अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात्। कण्ठोरसः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः॥" (च चि अ १७)। "विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः। शीतपानाशनस्थान-रजो-धूमानिलानलैः॥ व्यायामकर्म-भाराध्व-वेगघातापतर्पणैः। आमदोषाभिघात-स्त्री-क्षय रोगप्रपीडनैः॥ विषमाशनाध्यशनैस्तथा समशनैरपि। हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते॥" (सु उ अ ५०)।

१ "मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतास्याविश्य कुप्यति। उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्का-श्वासान् करोति सः॥ घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च।" (च चि अ १७)। २ "उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम्। कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता॥ हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च। आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च॥ प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम्।" (च चि अ १७)। "मुखं कषायमरतिर्गौरवं कण्ठ-वक्षसोः। पूर्वरूपाणि हिक्कानामाटोपो जठरस्य च॥' (सु उ अ ५०)। "प्राग्रूपं तस्य (श्वासस्य) हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा। आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च॥" (सु उ अ ५१)।
३ "मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्। स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते॥" (सु उ अ ५०)। "हिनस्त्यसूनिति हिक्का, पृषोदरादित्वा रूपसिद्धि, 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते' इति हिक्का, इति शाब्दिकाः।' (वि र)।
४ "प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुद्ध्य॥" (च चि. अ १७)।

महती हिक्काके लक्षण—

जिसका मांस-बल-प्राण और तेज अग्नि क्षीण हुआ है ऐसे मनुष्यके शरीरमें कफ-सहित वात सहसा कण्ठको पकड कर उच्च शब्दवाली एक-दो या तीन वार हिक्का करता है। इस हिक्कामें प्राणवायु स्रोतो और मर्मोको अवरुद्ध करके सज्ञानाश, अवयवोका स्तम्भ, अन्न-पानके मार्गोंका अवरोध, स्मरण शक्तिका नाश, आँसूसे नेत्र भर जाना, कनपटीकी स्तब्धता, भौंहोका नीचे आ जाना, रुक-रुक कर वोलना, असवद्ध वोलना और चैन-आराम न मालूम होना ये लक्षण उत्पन्न करता है। इस प्रकारकी गभीर मूल-वाली, वडे वेगवाली, वडे जोरकी हिक्काको **महाहिक्का** कहते हैं। महाहिक्का शीघ्र प्राण हरनेवाली होती है (**च.**)। महाहिक्कामे हृदय आदि मर्मस्थानोमे पीडा, निरन्तर हिक्का रहना (वीचमें न थंभना) और सर्व शरीरका कप ये लक्षण होते हैं[1] (**सु.**)।

गम्भीरा हिक्काके लक्षण—

जो हिक्का नाभि या पक्वाशयसे प्रवृत्त हो, जिसमे मनुष्य कृश और दीन (ग्लानियुक्त) मनवाला हो, उर छाती जर्जर सी हो, गंभीर शब्दके साथ कष्टसे हिक्का आवे, जभाई आवे, रोगी अगोको कभी सकुचित और कभी प्रसारित करे, दोनों पार्श्व विस्तृत से हों, कूजन (अव्यक्त शब्द) और स्तब्धता हो, समग्र देह हिल जाय, झुक जाय, मूर्छा आ जाय, उच्छ्वास रुके, वल और चेतना कम हो जाय, होंठ-जीभ और कण्ठ सूखने लगे तथा ज्वर-श्वास-तृष्णा आदि अनेक उपद्रव हो उसको **गम्भीरा** हिक्का जानना चाहिए[2]।

---

१ "क्षीण-मास-वल प्राण-तेजस सकफोऽनिल। गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवती भृशम्॥ करोति सतत हिक्कामेक-द्वि-त्रिगुणा तथा। प्राण स्रोतासि मर्माणि सरुध्योष्माणमेव च॥ सज्ञा मुष्णाति गात्राणा स्तम्भ सजनयत्यपि। मार्गं चैवान्न-पानाना रुणद्ध्युपहतस्मृते॥ साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्ख-च्युतभ्रुव। सक्तजल्प-प्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छत॥ महामूला महावेगा महा-शब्दा महाबला। महाहिक्केति सा ख्याता सद्य प्राणहरा मता॥" (च चि अ. १७)। "मर्माण्यापीडयन्तीव सतत या प्रवर्तते। देहमायम्य वेगेन घोषयत्यतितृष्यत॥ महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी।" (सु उ अ ५०)। "स्तब्धभ्रू-शङ्खयुग्मस्य सास्र-विप्लुतचक्षुष। स्तम्भ-यन्ती तनु वाच स्मृतिं सज्ञा च मुष्णती॥ रुन्धती मार्गमन्नस्य कुर्वती मर्मघट्टनम्। पृष्ठतो नमन शोष महाहिध्मा प्रवर्तते॥" (अ स नि अ ४)। २ "हिक्कते य प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नर। जर्जरेणोरसा कृच्छ्र गम्भीरमनुनादयन्॥ सजृम्भन् सक्षिपश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन्। पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दित॥ नाभे पक्वाशयाद्वाऽपि हिक्का चास्योपजायते। क्षोभ-यन्ती भृश देह नामयन्तीव ताम्यत॥ रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रणष्टवल-चेतस। गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता॥" (च चि अ १७)। "नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी। शुष्कौष्ठ-कण्ठ-जिह्वस्य श्वास-पार्श्वरुजाकरी॥ अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता॥" (सु उ अ ५०)।

व्यपेता हिक्काके लक्षण—

जो हिक्का जत्रु (ग्रीवामूल) से चले, निरन्तर न रहे (बीच-बीचमें रुक जाय), आहार खाने पर भी हो, आहार पच जाने पर जोरसे आवे (बलवती हो) तथा जिसमें प्रलाप, उलटी, अतिसार, तृषा, चित्तकी व्याकुलता, जभाई, नेत्र पानीसे भर जाना, मुँह सूखना, शरीर आगेकी ओर झुकना और पेटका अफारा ये लक्षण हों उसको **व्यपेता** हिक्का जानना चाहिए। व्यपेता हिक्का प्राणघातक होती है[1]।

यमला हिक्काके लक्षण—

जो हिक्का चिरकालसे आहारका परिणाम (पचन) होनेके समयमें दो वेगोंसे आवे और आहार पच जाने पर बढ़े, जिसमें सिर और ग्रीवाका कम्प हो तथा पेटका अफारा, अति तृष्णा, प्रलाप, वमन, अतिसार, आँखोंमें आँसू आना और जँभाई आना ये लक्षण हों उसको **यमला** हिक्का जानना चाहिए। **वेगिनी** और **परिणामवती** ये दो यमलाके पर्याय नाम हैं[2] (वा.)।

वक्तव्य—गयदास और **डल्हणने** चरकोक्त व्यपेताको ही **यमला** बताया है। **वाग्भटने** व्यपेता और यमला दोनोंके लक्षण मिला कर लिखे हैं।

क्षुद्रा हिक्काके लक्षण—

जब व्यायामसे प्रकुपित अल्प वात कोष्ठ—उदर—से हृदय क्लोम-कण्ठ और तालुका आश्रय करके कण्ठमें आता है तब **क्षुद्रा** हिक्का उत्पन्न करता है। इस हिक्कामें अति पीडा नहीं होती है, उर (छाती)—सिर और मर्म स्थानोंमें पीडा नहीं होती, उच्छ्वास और अन्न-पानके मार्गोंका अवरोध नहीं होता, उत्पन्न होकर शीघ्र बैठ जाती है (लगातार नहीं रहती), परिश्रम करनेपर बढती है और कुछ खा-पी लेने पर शांत हो जाती है, उस हिक्काको **क्षुद्रा** कहते हैं[3]।

---

१ "व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे। आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम्॥ प्रलाप-वम्यतीसार-तृष्णार्तस्य विचेतस। जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिन। पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादनतता। सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी॥" (च. चि अ १७)। २ "चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते। कम्पयन्ती शिरो-ग्रीव यमलां ता विनिर्दिशेत्॥" (सु उ अ ५०)। "चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते। परिणामोन्मुखे वृद्धिं परिणामे च गच्छति॥ कम्पयन्ती शिरो ग्रीवमाध्मातस्यातितृष्यत। प्रलाप-च्छर्द्यतीसार-नेत्रविप्लुति-जृम्भिण॥ यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा।" (अ स. नि अ ४)। "यमला नाम हिध्मा या चिरेण यमलैर्वेगै द्वाभ्या वेगाभ्या भवति, परिणामोन्मुखे आहारे प्रवर्तते, परिणते च शिरोग्रीवा कम्पयन्त्याध्मानादिमत पुरुषस्य वृद्धिं यातीति सा **यमला**, तस्यास्तु **वेगिनी, परिणामवती** चेति नामद्वयम्।" (इन्दु)। ३ "क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद्व्यायामपरिघट्टित। कण्ठे प्रपद्यते हिक्का तदा **क्षुद्रां** करोति स॥ अतिदु खा न सा चोर-शिरोमर्मप्रबाधिनी। न चोच्छ्वासान्न-पानाना मार्गमावृत्य तिष्ठति॥

अन्नजा हिक्काके लक्षण—

सहसा (शीघ्रतासे) तथा अति प्रमाणमे अन्न-पान खाने-पीनेसे, तीक्ष्ण मद्य पीनेसे एव रूक्ष-तीक्ष्ण-खर (कठिन)-असात्म्य-कटु और घन आहार खानेसे कोष्ठ-उदर गत प्रपीडित-प्रकुपित वायु ऊपर उर स्रोतमे प्राप्त होकर **अन्नजा** हिक्का उत्पन्न करता है । इसमे छींकके साथ (कभी छींकके विना भी) मन्द शब्द वाली हिक्का आती है । कुछ सात्म्य आहार खा-पी लेनेसे यह हिक्का दब-बैठ जाती है । इस हिक्कासे हृदयादि मर्मस्थानोंको या इन्द्रियोंको पीडा नही होती है[1] ।

हिक्काके साध्यासाध्य लक्षण—

पॉच प्रकारकी हिक्कामे **अन्नजा और क्षुद्रा** हिक्का साध्य है, **महती और गम्भीरा** हिक्का असाध्य है, सर्व लक्षणयुक्त तथा प्रलाप-तृषा और मोह (मूर्च्छा)-इन लक्षणोंसे युक्त **यमला** हिक्का असाध्य है । जो मनुष्य क्षीण नहीं है, जिसका मन दीन (ग्लानियुक्त) नही है तथा धातु और इन्द्रियॉ स्थिर-दृढ हैं ऐसे मनुष्यकी यमला हिक्का साध्य होती है (अर्थात् इसके विपरीतकी असाध्य होती है) । जिसके शरीरमें आम दोपका अति सचय हो, जो अन्न न खा सकनेसे कृश हो गया हो तथा वृद्ध, अति मैथुन करने वाला और इतर व्याधिसे क्षीण हो गया हो उसको जो हिक्का हुई हो वह असाध्य होती है[2] ।

वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् । यत प्रवर्तते पूर्व तत एव निवर्तते ॥ हृन्य क्लोम कण्ठ च तालुक च समाश्रिता । मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणा साध्या प्रकीर्तिता" । (च चि अ १७) । "निकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दै समभिवर्तते । क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात् प्रधाविता ।" (सु उ अ ५०)" । "आयासात् पवन क्रुद्ध क्षुद्रा हिध्मा प्रवर्तयेत् । जत्रुमूलप्रविसृतामल्पवेगा मृदु च सा ॥ वृद्धिमायास्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ।" (अ स नि अ ४) ।

१ "सहसाऽत्यभ्यवहृते पानान्ने पीडितोऽनिल । ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदै ॥ वायु कोष्ठगतो धावन् पान-भोज्यप्रपीडित । उर स्रोत समाविश्य कुर्याद्धिक्का ततोऽन्नजाम् ॥ तया शनैरसबन्ध क्षुवश्चापि स हिक्कते । न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणा प्रबाधिनी ॥ हिक्का पीते तथा भुक्ते शम याति च साऽन्नजा ।" (च चि अ १७) । "त्वरमाणस्य चाहार भुञ्जानस्याथवा घनम् । वायुरन्नैरवस्तीर्ण कटुकैरार्दितो भृशम् ॥ हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा ता विद्यादन्नजा भिषक् ।" (सु उ अ ५०) "अवस्तीर्ण आच्छादित ।" (ड) "मरुत्तत्र त्वरयाऽयुक्तिसेवित । रूक्ष-तीक्ष्ण खरासात्म्यरन्न पानै प्रपीडित ॥ करोति हिध्मामरुजा मन्दशब्दा क्षवानुगाम् । शम सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च साऽन्नजा ॥" (अ स नि अ ४) ।
२ "अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च । व्याधिभि क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिन ॥ आसा या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् । यमिका च प्रलापार्ति-तृष्णा-मोहसमन्विता ॥

श्वास रोगके हेतु—

जिन अनेक कारणोंसे हिक्का होती है उन ही कारणोंसे भयंकर श्वास रोग भी होता है (सु.)। खाँसी बढ़नेसे, खाँसीके कारणरूपमें कहे हुए दोषप्रकोपक हेतुओंसे तथा आमदोष, अतिसार, वमन, विष, पाण्डुरोग, ज्वर, मुख-नासाप्रविष्ट रज-धूल और धुआं, जोरकी हवा, मर्मस्थानमें आघात और अति शीतल जल-इन कारणोंसे श्वास रोग होता है[1]।

श्वास रोगकी सम्प्राप्ति—

जिस व्याधिमें उर स्थित प्रकुपित प्राण वायु ऊर्ध्वग और कफ द्वारा अवरुद्ध हो कर श्वासकी गति अधिक करता है उस रोगको **श्वास** कहते हैं। श्वासके भेद इसी ग्रन्थमें पृष्ठ १२४ पर देखें[2]।

क्षुद्र श्वासके हेतु और लक्षण—

रूक्ष पदार्थोंका भोजन, अति भोजन तथा चलने-ऊपर चढने आदि कुछ परिश्रम करनेसे कोष्ठमें अल्प प्रकुपित वात क्षुद्र श्वास उत्पन्न करता है। यह श्वास परिश्रम छोड कर बैठ जाने-आराम करनेसे शान्त हो जाता है। इस श्वाससे इतर श्वासके समान शरीरमें या इन्द्रियोंमें कोई विशेष पीडा नहीं होती है और खाने-पीनेमें भी कोई रुकावट नहीं होती है। क्षुद्र श्वास साध्य होता है।[3] (वृ. वा)

अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिर-धात्विन्द्रियश्च य.। तस्य साधयितु शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥" (च. चि अ १७)। "आयम्यते हिक्कतोऽङ्गानि यस्य दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते यस्य गाढम्। क्षीणोऽन्नद्विट् कासते ('क्षौति' इति पा०) यश्च हिक्की तौ द्वावन्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥" (सु उ. अ ५०)। "तासु साधयेत्। आद्ये द्वे, वर्जयेदन्त्ये, सर्वलिङ्गा च वेगिनीम्। सर्वाश्च सचितामस्य स्थविरस्य व्यवायिन। व्याधिभि क्षीणदेहस्य भक्तच्छेदकृशस्य वा ॥" (अ स. नि अ. ४)।

१ "यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभि सम्प्रवर्तते। तैरेव कारणै श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥" (सु उ अ ५१)। "कासवृद्ध्या भवेच्छ्वास पूर्वैर्वा दोषकोपनै। आमातिसार-वमथु-विष-पाण्डु-ज्वरैरपि ॥ रजो-धूमानिलैर्मर्मघाताद्‌तिहिमाम्बुना।" (अ स नि. अ. ४)। २ "यदा स्रोतासि सरुध्य मारुत कफपूर्वक। विष्वग्व्रजति सरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स ॥" (च. चि. अ १७)। "विहाय प्रकृतिं वायु· प्राणोऽथ कफसयुत। श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा त श्वास परिचक्षते ॥" (सु उ अ ५१)। "प्राणो वायु, प्रकृतिं विहाय, ऊर्ध्वगो भूत्वा, तथा कफसयुत· सन्, यदा श्वासयति त बुधा श्वास परिचक्षते कथयन्ति।" (ड)। "कफोपरुद्धगमन पवनो विष्वगास्थित। प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्ट स्रोतासि दूषयन् ॥ उर स्थ कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम्।" (अ. स नि अ ४)। ३ "रूक्षायासोद्भव कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दु खेनाङ्गप्रबाधक ॥ हिनस्ति न स गात्राणि न च दु खो यथेतरे। न च

तमक श्वासकी संप्राप्ति और लक्षण—

अपने हेतुओंसे प्रकुपित वायु जब प्रतिलोम गतिसे गले और सिरमें प्राप्त होता है तब वहाँ रहे हुए कफ को उदीर्ण (बढा) करके प्रतिश्याय (पीनस-जुकाम) उत्पन्न करता है । उस बढे हुए कफसे रुका हुआ वायु कण्ठमे घुर-घुर शब्दके साथ शरीरको पीडा देनेवाला और तीव्र वेगवाला तमक श्वास (दमा) उत्पन्न करता है । उस रोगीको जोरकी खाँसी आने पर वह ग्लानियुक्त और निश्चेष्ट सा हो जाता है । खाँसते-खाँसते बार-बार उसकी मूर्च्छा सी अवस्था हो जाती है । वह रोगी कफ न छुटने पर अति दु खी होता है और कफ छुट जाने पर उसको थोडा समय आराम मालूम होता है । उसका कण्ठ छिलता सा है । वह कष्टसे बोल सकता है । श्वासकी पीडाके कारण उसको सोने पर नीद नहीं आती है । सोने पर वायु उसके पार्श्वमें जकडने सी पीड़ा करता है । बैठे रहने पर उसको आराम मालूम होता है । उसकी उष्ण पदार्थ खाने-पीनेकी इच्छा रहती है । खाँसते-खाँसते उसकी आँखें ऊपर चढ जाती हैं और ललाट पर पसीना आता है । उसका मुँह सूखता है । वह बार-बार श्वासके कारण घोडे आदिकी सवारी पर बैठे हुए मनुष्यके समान हिलता है । वर्षा, जल, शीतल वायु, पूर्वा हवा और कफवर्धक आहार-विहारोंसे श्वास बढता है । उसको अरुचि, प्यास अधिक लगना, पसीना आना और प्रायः वमन होना ये लक्षण होते हैं । यह तमक श्वास याप्य होता है । यदि रोग नया (एक सालके भीतरका) हो और रोगी बलवान् हो तो सुचिकित्सासे लाभ होता है। जिस तमक श्वासमे ज्वर और मूर्च्छा ये लक्षण हो और शीतोपचारसे शाति मिले उसको **प्रतमक** जानना चाहिए। जो तमक श्वास उदावर्त, मुख-नासाप्रविष्ट धूल-अजीर्ण-शरीर जलसे आर्द्र होना और वेगोंको रोकना-इन कारणोंसे उत्पन्न हुआ हो, अँधेरेमें रहनेसे बढ़े, शीतो-पचारसे शात हो तथा रोगीको मैं अँधेरेमे गोता खा रहा हू ऐसी प्रतीति हो उसको सतमक जानना चाहिए। प्रतमक और सतमक ये दो तमकके ही अवस्थाभेद हैं ।[1]

भोजन-पानाना निरुणद्ध्युचिता गतिम् ॥ नेन्द्रियाणा व्यथा चापि काञ्चिदापादयेद्रुजम् । स साध्य उक्त " (च चि अ १७) । किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वास प्रवर्तते । निपण्णस्यैति शान्तिं च स क्षुद्र इति सज्ञित ।" (सु. उ अ ५१) । "तत्रायासातिभोजनै । प्रेरित प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वय सशमन मरुत् ॥" (अ स चि अ ४) ।

१ "प्रतिलोम यदा वायु स्रोतासि प्रतिपद्यते । ग्रीवा शिरश्च सगृह्य श्लेष्माण समुदीर्य च ॥ करोति पीनस, तेन रुद्धो घुर्घुरक तथा । अतीव तीव्रवेग च श्वास प्राणप्रपीडकम् ॥ प्रताम्यत्यति-वेगाच्च कासते सन्निरुध्यते । प्रमोह कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहु ॥ श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृश भवति दु खित । तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त लभते सुखम् ॥ अथास्योद्ध्वसते कण्ठ कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् । न चापि निद्रा लभते शयान श्वासपीडित ॥ पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरण । आसीनो लभते सौख्यमुष्ण चैवाभिनन्दति ॥ उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् । विशुष्कास्यो मुहु. श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ मेघाम्बु-शीत-प्राग्वातै श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते । स

छिन्न श्वासके लक्षण—

जो रोगी अपनी सपूर्ण शक्ति लगाकर भी रुक-रुक कर श्वास लेता हो, हृदय आदि मर्मोंकी वेदनासे पीड़ित होनेके कारण कुछ समय श्वास नहीं भी लेता हो, आनाह-स्वेद और मूर्च्छासे पीड़ित हो, जिसके मूत्राशयमें दाह हो रहा हो, जिसकी आँखें आँसुओंसे भरी हों, जो क्षीण हो गया हो, जिसकी एक आँख लाल हो, जिसका चित्त उद्विग्न रहता हो—सुध सूना रहता हो तथा शरीर कान्तिहीन हो, जो असबद्ध बोल रहा हो और दृष्टि नीचेकी ओर रखे हुए रहता हो उसको छिन्नश्वाससे पीड़ित जानना चाहिए[1]। छिन्न श्वास वाला रोगी शीघ्र (३ दिनमें) मरता है[1]।

महाश्वासके लक्षण—

ऊर्ध्वगति वातसे जो रोगी रोकनेसे क्रुद्ध मत्त साँड़के फुफकारने-हाँफनेके समान शब्द-युक्त श्वास निरन्तर लेता हो, जिसका ज्ञान (लौकिक ज्ञान) और विज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) लुप्त हो गया हो, जिसके नेत्र विभ्रान्त-चञ्चल हों, मुँह और नेत्र फैले-फटे हुए रहते हों, मूत्र और मल रुके हुए हों, वाणी (बोलना) क्षीण या स्खलनयुक्त हो, जो

याप्यस्तमकश्वास साध्यो वा स्यान्नवोत्थित. ॥ ज्वर-मूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमक तु तत्। उदावर्त-रजोऽजीर्ण-क्लिन्नकाय-निरोधज. ॥ तमसा वर्धतेऽत्यर्थ शीतैश्चाशु प्रशाम्यति। मज्जतस्तम-सीवास्य विद्यात् सतमक तु तम् ॥" (च. चि. अ १७) "तृट्-स्वेद-वमथुप्राय कण्ठघुर्घुरि-कान्वित । विशेषाद्दुर्दिने तान्येच्छ्वास स तमको मत. ॥ घोषेण महताऽऽविष्ट सकास सकफो नर । य. श्वसित्यनलोऽत्यद्दिट् स वै तमकपीडित ॥ य शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्धते। मूर्च्छा-ज्वराभिभूतस्य ज्ञेय प्रतमकस्तु स ॥" (सु. उ. अ ५१)। "प्रतिलोम सिरा गच्छन्नु-दीर्य पवन. कफम्। परिगृह्य शिरो-ग्रीवमुर -पार्श्व च पीडयन्॥ कास घुर्घुरक मोहमरुचिं पीनस तृपन्। करोति तीव्रवेग च श्वास प्राणोपतापिनम्। प्रताम्येत्तस्य वेगेन निष्ठ्यूतान्ते क्षण सुखी। कृच्छ्राच्छयान श्वसिति निषण्ण स्वास्थ्यमृच्छति ॥ उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान्॥ विशुष्कास्यो मुहु श्वासी काङ्क्षत्युष्ण सवेपथु । मेघाम्बु-शीत-प्राग्वातै श्लेष्मलैश्च विवर्धते ॥ स याप्यस्तमक साध्यो नवो वा बलिनो भवेत्। ज्वर-मूर्च्छायुत शीतै. शाम्येत् प्रतमकस्तु स. ॥" (अ. स नि. अ. ४)।

१ "यस्तु श्वसिति विच्छिन्न सर्वप्राणेन पीडित । न वा श्वसिति दु खार्तो मर्मच्छेदरुगर्दित ॥ आनाह-स्वेद-मूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना। विप्लुताक्ष परिक्षीण श्वसन् रक्तैकलोचन ॥ विचेता' परिशुष्कास्यो विवर्ण प्रलपन्नर । छिन्नश्वासेन विच्छिन्न स शीघ्र विजहात्यसून् ॥" (च चि अ. १७)। "आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नर । सर्वप्राणेन विच्छिन्न श्वसाच्छिन्नं तमादिशेत् ॥' (सु उ अ ५१)। "छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्न मर्मच्छेदरुजार्दित । सस्वेद-मूर्च्छ सानाहो बस्तिदाह-निरोधवान्॥ अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचन । शुष्कास्य. प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतन ॥" (अ. स. नि अ ४)।

दीन (ग्लानियुक्त) रहता हो, जिसके श्वासकी आवाज दूरसे सुनाई जाती हो, जो सज्ञा-रहित–पार्श्वशूलसे पीडित–शोथयुक्त नेत्र वाला और नीचे झुक कर श्वास लेता हो, जिसका कण्ठ सूखता हो, जिसको वार-वार मूर्च्छा आती हो और जिसको कान–सिर और कनपटीमें अति पीड़ा हो उसको महाश्वाससे पीडित जानना चाहिए । महाश्वाससे पीडित मनुष्य शीघ्र (तीन दिनमें) मरता है ।[१]

ऊर्ध्वश्वासके लक्षण—

जो रोगी दीर्घकाल तक श्वास वाहर छोडता हो परतु भीतर नहीं खींच सकता हो, जिसके मुँह और प्राणवहस्रोत कफसे भरे हुए-अवरुद्ध रहते हों, जो क्रुद्ध वातसे पीडित रहता हो, जिसकी दृष्टि ऊपरकी ओर चढी हुई रहती हो, जो अनेक विकृत रूपोंको देखता हो, जिसकी ऑखें इधर उधर घूमती हों, जो वार-वार मूर्च्छित हो जाता हो, वेदनाओंसे पीडित रहता हो, जिसका चेहरा सफेद पड गया हो, जिसका मुँह सूखता हो, जो वेचैन रहता हो, ऊर्ध्व श्वास (श्वास छोडना) जव प्रकुपित होता (वढता) है तव अध श्वास (श्वास खींचना) रुक जाता है अत रोगी वेचैन होकर मूर्च्छित होता हो, जिसको हृदय-सिर आदि मर्मस्थान खिंचतेसे मालूम होते हों, जो रोगी ऊपरकी ओर देखता हो, जिसका आवाजस्वर वैठ गया हो और वोल नही सकता हो–इस प्रकारके रोगीको ऊर्ध्वश्वाससे पीडित जानना चाहिए । ऊर्ध्वश्वास असाध्य होता है ।[२]

श्वास रोगका साध्यासाध्य लक्षण—

पाँच प्रकारके श्वासोंमें क्षुद्रश्वास साध्य है, तमक श्वास कृच्छ्रसाध्य है तथा महाश्वास,

---

१ "उद्धूयमानवातो य शब्दवद्दु खितो नर । उच्चै श्वसिति सरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ प्रनष्टज्ञान-विज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचन. । विकृताक्ष्याननो वद्धमूत्र वर्चा विशीर्णवाक् ॥ दीन प्रश्वसित चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् । महाश्वासोपसृष्ट स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥" (च चि अ १७)। "विसज्ञ पार्श्वशूलार्त. शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान् । सरब्धनेत्रस्त्वायम्य य श्वस्यात् स महान् स्मृत• ॥" (सु उ अ ५१)। "महता महता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् । उद्धूयमान सरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ प्रनष्टज्ञान-विज्ञानो विभ्रान्तनयनानन. । वक्ष समाक्षिपन् वद्धमूत्र-वर्चा विशीर्णवाक् ॥ शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्ण-शङ्ख-शिरोतिरुक् ॥" (अ स नि अ ४)। २ "दीर्घ श्वसिति यस्तूर्ध्व न च प्रत्याहरत्यध. । श्लेष्मावृतमुख-स्रोत. क्रुद्धगन्धवहार्दित ॥ ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्तत । प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडित ॥ ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यध श्वासो निरुध्यते । मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्व श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥" (च चि अ १७)। "मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन् मूढो मुहुश्च य । ऊर्ध्वप्रेक्षी हतरवस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत् ॥" (सु उ अ ५१)। "दीर्घमूर्ध्व श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यध । श्लेष्मावृतमुखस्रोता क्रुद्धगन्धवहार्दित ॥ ऊर्ध्वदृग्वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परित क्षिपन् । मर्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ॥" (अ स. नि अ ४)।

छिन्नश्वास और ऊर्ध्वश्वास असाध्य हैं। तमक श्वास भी यदि दुर्बल मनुष्यको हुआ हो तो वह असाध्य होता है[१]।

कासरोगाधिकार।

कासरोगके सामान्य हेतु और संप्राप्ति—

जिस व्याधिमें मुँह और नाकमें धुआँ या रज-धूलका प्रवेश होना, परिश्रम-व्यायाम करना, रूक्ष अन्न खाना, असावधानीसे अन्न-पान खाने-पीने पर उसके कुछ अंशका श्वासनलिकामें प्रविष्ट होना और छींकके वेगको रोकना–इन कारणोंसे उदानके साथ प्रकुपित प्राणवायु मुँहसे कफ-पित्तके साथ (या उनके विना भी) भग्न (टूटे हुए) कांस्यपात्र पर आघात करनेसे उत्पन्न शब्दके सदृश शब्दके साथ बाहर आता है उसको **कास** (खाँसी) कहते हैं[१] (सु.)। कषाय-पिच्छिल-असात्म्य-कडुए (तीते)-चरपरे-रूक्ष-शीत-गुरु-स्निग्ध-उत्क्लेद(आर्द्रता)उत्पन्न करनेवाले बासी–ऐसे पदार्थोंका भोजन, उत्पन्न वेगोंका धारण, अनुत्पन्न वेगोंका प्रवर्तन, परिश्रम, दिनमें सोना, रातमें जागना–इन कारणोंसे तथा अन्य भी इस प्रकारके धातुओंका क्षय करनेवाले या स्रोतोंका आवरण करनेवाले कारणोंसे प्रकुपित अपान वायु जब नीचेकी ओर प्रतिहत (अवरुद्ध गति) होता है तब ऊपरकी ओर रस धातुके स्थान उर(छाती)में आ, उदान वायुसे पीडित हो, कण्ठ और छातीमें रुक, सिरके स्रोतोंको भर कर अंगोंको ऊपर उठाता हुआ सा, पृष्ठ-छाती और पार्श्वको पीड़ा करता हुआ, फूटे हुए कांस्यपात्र पर आघात करनेसे उत्पन्न शब्दके सदृश शब्दके साथ कण्ठसे केवल या कफके साथ बाहर आता है उस व्याधिको **कास (खाँसी)** कहते हैं[२] (च., वा.)। कारण भेदसे वेगयुक्त वायुके विभिन्न प्रति-

---

१ "क्षुद्र साध्यतमस्तेषा तमक कृच्छ्र उच्यते। त्रय श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च॥" (सु उ अ ५१)। २ "धूमोपघाताद्रजसस्तथैव व्यायाम-रूक्षान्न-निषेवणाच्च। विमार्ग-गत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव॥ प्राणो ह्युदानानुगत प्रदुष्ट सभिन्नकास्यस्वनतुल्य-घोष। निरेति वक्त्रात् सहसा सदोष कास स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु॥" (सु उ अ ५२)। "सदोष सकफ-पित्त।" (वि. र)। "अध प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोत समाश्रित। उदानभावमापन्न कण्ठे सक्तस्तथोरसि॥ आविश्य शिरस खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन् देह हनुमन्ये तथाऽक्षिणी॥ नेत्रे पृष्ठमुर· पार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयस्तत। शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात् ('कासनात्' इति पा०) कास उच्यते॥" (च चि अ १८)। "उदानभावमापन्न इति ऊर्ध्वगतिस्वभावमापन्न। निर्भुज्येति आक्षिप्य। कसनादिति यथोक्तगति-मत्त्वात्तथा उर प्रभृतिशातनाच्च 'कास' इति अन्वर्थसंज्ञयोच्यते। 'कस गति-शातनयो' इत्यस्य धातोरय प्रयोग।" (च. द) "कासनात् 'कासृ' कुशब्दे, कुशब्द भिन्नस्वरविशेष कुर्व-न्निरेतीति स वायु सकफ शुद्धो वा 'कास' इत्युच्यते, कश्चिदाह–शिर -कण्ठाद्याक्षिपन् कसति निर्गच्छति-इति 'कस' गतौ, इत्यस्य रूप कास इति।" (ग)। "कषाय-निर्जलासात्म्य कट्वम्ल-

घात होते हैं, इसी कारणसे खाँसीमे पीडा और खाँसीके शब्दमें विषमता (भेद) मालूम होती है ।[१]

कासके भेद—

वातकास, पित्तकास, कफकास, क्षतकास और **क्षयकास**–इन भेदोंसे कास पाँच प्रकारका होता है । सर्व प्रकारके कासकी सम्यक् चिकित्सा न करनेसे अन्तमें क्षय-राजयक्ष्मा हो जाता है । पाँचों प्रकारके कासोंमे उत्तरोत्तर कास बलवान् होता है[२] ।

कासके पूर्वरूप—

कासके पूर्वरूपमें गळा और मुँह सूक्ष्म काँटों(शूकों)से भरा हुआ सा मालूम होना, कण्ठमें खुजलाहट–सुरसुरी, खानेमें अरुचि या रुकावट सी मालूम होना, गला और तालु कफसे लिप्त सा मालूम होना, आवाजमें विषमता (फर्क पड़ना) और अग्निमान्द्य ये लक्षण होते हैं[३] ।

लवणोषणै । रूक्ष-शीत-गुरु-स्निग्धोत्क्लेदि-पर्युषिताशनै ॥ धारणोदीरणायास रात्र्यह.स्वप्न-जागरै. । अन्यैश्च तद्विधैर्धातुक्षयावरणकारिभि ॥ क्रुद्ध प्रतिहतोऽपाने यदाऽपान प्रपद्यते । ऊर्ध्वं रसस्य स स्थाने तिष्ठन्नुरसि पीड्यते ॥ उदानेन, सजस्तत्र कण्ठे चानुप्रपूर्य च । वाहिनीर्गलमूर्ध्वस्था-स्ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव ॥ विवृतत्वान्मुखेनैति भिन्नकांस्योपमध्वनि । यस्मात्तस्मात् स वर्णौजो-बल-मासक्षयावह. ॥" (अ स नि अ ३) । "विज्जल क्लिन्न-पिच्छिलप्रायो गुणविशेष । रक्त-मांसादीना यत् क्लेदमावहति तदुत्क्लेदि । × × । अन्यैश्चैवप्रकारै कैश्चिद्धातुक्षयकारिभि कैश्चिच्च स्रोतसामावरणकारिभिर्वायु क्रुद्ध सन् यदाऽपानप्रतिहतत्वादिना रूपेण कासाख्यो भवति तदा वर्णादिक्षयावहो भवति । सर्वत्रैव वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा । एव चापानो नाम वायु कुपित सजातीय एवापाने कारणविशेषवशाच्च प्रतिहत. सन् ऊर्ध्वमुपरि प्रवर्तते । स चापान ऊर्ध्वं प्रवृत्त सन् रसस्थाने उरसि स्थितिशील सन् तत्स्थानेनो-दानाख्येन पीड्यते । पीडितश्च तत्र रसस्थाने उरसि कण्ठे च सजन् सक्तिमाप्नुवन् गलस्था मूर्धस्थाश्च वाहिनी सिरा अनुप्रपूर्य अङ्गान्युत्क्षिपन्निवेत्यादि सुबोधम् ।" (इन्दु) ।

१ "प्रतिघातविशेषेण तस्य वायो सरहस । वेदना–शब्दवैशिष्ट्य कासानामुपजायते ॥" (च. चि. अ १८) । "हेतुभेदात् प्रतीघातभेदो वायो सरहस । यद्रुजा-शब्दवैषम्य कासाना जायते तत ॥" (अ स. नि ३) । २ "वातादिजास्त्रयो ये च क्षतज क्षयजस्तथा । पञ्चैते स्युर्नृणा कासा वर्धमाना क्षयप्रदा. ॥ (च चि अ १८) । "स वात-पित्तप्रभव. कफाच्च क्षतात्तथाऽन्य क्षयजोऽपरश्च । पञ्चप्रकार. कथितो भिषग्भिर्विवर्धितो यक्ष्मविकारकृत् स्यात् ॥" (सु उ अ ५२) । ३ "पूर्वरूप भवेत्तेषा शूकपूर्णगलास्यता । कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानाम-वरोधश्च जायते ॥" (च चि अ १८) । "भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डूर्भोज्योपरोधो गल-तालुलेप । स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्निसादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि ॥" (सु उ अ ५२) ।

वातकासके हेतु और लक्षण—

रूक्ष-शीत-कषाय-अल्प और एक रसवाले आहारका भोजन, उपवास, अति स्त्रीगमन, वेगोंको रोकना और अति परिश्रम करना ये वातकासके हेतु है। हृदय-पार्श्व-छाती-कनपटी और सिरमें शूल, स्वरभेद (आवाज बैठ जाना), छाती-कण्ठ और मुँह सूखना, खाँसते समय रोमहर्ष होना, आँखोंके सामने अँधेरा दिखना, जोरके आवाजके साथ खाँसी आना, चेहरा कृश सा मालूम होना, बल-स्वर और ओज क्षीण होना, खाँसीका वेग बीच-बीचमें रुकना, अन्दर थोडा कफ हो परन्तु खाँसी सूखी आना तथा कष्टसे थोडा कफ आने पर खाँसी कम हो जाना, स्निग्ध-अम्ल-लवण और उष्ण पदार्थ खाने-पीनेसे खाँसी कम होना तथा अन्न जीर्ण होनेपर खाँसी बढना ये वातकासके लक्षण हैं[1]।

पित्तकासके हेतु और लक्षण—

कटु (चरपरे)-उष्ण-विदाहि-अम्ल और क्षार पदार्थोंका अति सेवन, क्रोध तथा अग्नि और सूर्यका संताप ये पित्तकासके हेतु हैं। खाँसीमें पीले रंगका कफ आना, आँखें पीली होना, मुँहका स्वाद तीता-कडुआ रहना, स्वरभङ्ग, छातीमें धुआँ उठना सा और जलन मालूम होना, तृषा, दाह, मूर्च्छा, अरुचि, चक्कर आना, खाँसते-खाँसते आँखोंके सामने तारे से दिखना, पित्तयुक्त कफ निकलना, ज्वर, मुँह सूखना तथा पीले रंगका-कडुआ और पित्त तथा रक्तयुक्त वमन होना ये पित्तकासके लक्षण हैं[2]।

कफकासके हेतु और लक्षण—

गुरु-अभिष्यन्दि-मधुर-और स्निग्ध पदार्थोंका सेवन, दिनमें सोना, परिश्रम न करना

---

१ "रूक्ष-शीत-कषायाल्प-प्रमितानशन स्त्रिय। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तका॥ हृत्पार्श्वोर शिर शूल-स्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोर-कण्ठ-वक्त्रस्य हृष्टलोम्न. प्रताम्यत.॥ निर्घोष-दैन्य स्तनन-दौर्बल्य-क्षोभ-मोहकृत्। शुष्ककास कफ शुष्क कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पता व्रजेत्॥ स्निग्धाम्ल-लवणोष्णैश्च भुक्त-पीते प्रशाम्यति। ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत्॥" (च चि. अ १८)। "हृच्छङ्ख मूर्धोदर-पार्श्वशूली क्षामानन क्षीणबल-स्वरौजा॥ प्रसक्तमन्त.-कफमीरणेन कासेत्तु शुष्क स्वरभेदयुक्त॥" (सु उ अ ५२) "कुपितो वातलैर्वायु. शुष्कोर-कण्ठ-वक्त्रनाम्। हृत्पार्श्वोर-शिर-शूल मोह-क्षोभ-स्वरक्षयान्॥ करोति शुष्ककास च महावेग-रुजा-स्वनम्। सोऽङ्गहर्षी कफ शुष्क कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पता व्रजेत्॥" (अ स नि अ ३)।

२ "कटुकोष्ण-विदाह्यम्ल क्षाराणामतिसेवनम्। पित्तकासकर क्रोध सतापश्चाग्नि सूर्यज.॥ पीतनिष्ठीवनाक्षित्व तिक्तास्यत्व स्वरामय। उरोधूमायन तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रम॥ प्रतत कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति। श्लेष्माण पित्तससृष्ट निष्ठीवति च पैत्तिके॥" (च चि अ १८)। "उरोविदाह-ज्वर-वक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्त। पित्तेन पीतानि वमेत् कटूनि कासेत् सपाण्डु परिदह्यमान॥" (सु उ अ ५२)। "पित्तात् पीताक्षि-कफता तिक्तास्यत्व ज्वरो भ्रम। पित्तासृग्वमन तृष्णा वैस्वर्य धूमको मद॥ प्रतत कासवेगेन ज्योतिषामिव दर्शनम्।" (अ स. नि अ ३)।

इन कारणोंसे बढा हुआ कफ उदान वायुका अवरोध करके कफकासको उत्पन्न करता है। अग्निमान्द्य, अरुचि, उलटी, जुकाम, मिचली, शरीरका भारीपन, खांसते समय रोएँ खड़े होना, मुहका स्वाद मीठा रहना, क्लेद, अवसाद, खाँसीमें बहुत-मधुर-स्निग्ध और गाढा कफ विना कष्टके आना, छाती कफसे भरी हुई सी मालूम होना, सिर और हृदय (छाती) जड़ सा मालूम होना तथा कण्ठ कफसे लिप्त सा रहना ये कफकासके लक्षण हैं[1]।

क्षतकासके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

अपने बल(सामर्थ्य)से अधिक स्त्रीगमन-भार उठाना-मार्गगमन (चलना)-युद्ध (कुश्ती आदि) लडना-भागते हुए घोडे-हाथी आदिको रोकना इत्यादि साहस कर्म करनेसे, जोरसे अधिक पढ़नेसे तथा अभिघात(मार--चोट)से उर (छाती-फेफड़े) में क्षत होने पर पित्त सहित वात प्रकुपित होकर क्षतज कास उत्पन्न करता है। क्षतज कासमें पहले सूखी खाँसी आती है और पीछे रक्तमिश्रित, पीले या श्याववर्णका, गठा हुआ और सड़ा सा बहुत कफ वार-वार आता है। खाँसते समय कण्ठमें वेदना तथा छातीमें भेदवत् और सूई चुभने सी कष्टदायक पीड़ा होती है, तथा पर्वभेद ज्वर-श्वास-तृषा-स्वर विकृत होना-पार्श्वशूल-क्षीणता-पेशावमें रक्त आना-पृष्ठ और कमरमें वेदना होना ये लक्षण होते हैं, और रोगीका वीर्य-रुचि-पचनशक्ति-बल तथा शरीरकी कान्ति क्रमश क्षीण होती जाती हैं[2]।

---

१ "गुर्वभिष्यन्दि-मधुर-स्निग्ध-स्वप्नानिचेष्टने । वृद्ध श्लेष्माऽनिल रुद्ध्वा कफकास करोति हि ॥ मन्दाग्नित्वारुचि-च्छर्दि-पीनसोत्क्लेश-गौरवै ॥ लोमहर्षास्यमाधुर्य-क्लेद-ससदनैर्युतम् ॥ बहुल मधुर स्निग्ध निष्ठीवति घन कफम् । कासमानो ह्यरुग्वक्ष सपूर्णमिव मन्यते ॥" (च चि. अ. १८)। "प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्त कफपूर्णदेह । अभक्तरुग्गौरव-सादयुक्त कासेत ना सान्द्रकफ कफेन ॥" (सु. उ. अ ५२)। "कफादुरोऽल्परुङ्मूर्ध-हृदयं स्तिमित गुरु । कण्ठोपलेप. सदन पीनस-च्छर्द्यरोचका ॥ रोमहर्षो घन-स्निग्ध-श्वेतश्लेष्मप्रवर्तनम् ।" (अ. स नि अ ३)।
२ "अतिव्यवाय-भाराध्व-युद्धाश्व-गजनिग्रहै. । रूक्षस्योर क्षत वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ स पूर्व कासते शुष्क तथा ष्ठीवेत् सशोणितम् । कण्ठेन रुजताऽत्यर्थ विरुग्णेनेव चोरसा ॥ सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना । दु खस्पर्शेन शूलेन भेद-पीडाभितापिना ॥ पर्वभेद-ज्वर-श्वास-तृष्णा-वैस्वर्यपीडित । पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥" (च. चि अ. १८)। "वक्षोऽतिमात्र विहत तु यस्य व्यायाम-भाराध्ययनाभिघातै । विश्लिष्टवक्षा स नर सरक्त ष्ठीवत्य-भीक्ष्ण क्षतज तमाहु ॥" (सु उ अ ५)। "युद्धाद्यै साहसैस्तैस्तै. सेवितैरयथाबलम् । उरस्यन्त क्षते वायु पित्तेनानुगतो बली ॥ कुपित कुरुते कास कफ तेन सशोणितम् । पीत श्याव च शुष्क च ग्रथित कुथित बहु ॥ ष्ठीवेत् कण्ठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा । सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ॥ पर्वभेद-ज्वर-श्वास-तृष्णा-वैस्वर्य-कम्पवान् । पारावत इवाकूजन पार्श्वशूली ततोऽस्य च ॥ क्रमाद्वीर्यं रुचि- पक्तिर्बल वर्णश्च हीयते । क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्व स्याच्च पृष्ठ-कटिग्रह ॥" (अ स. नि. अ. ३)।

क्षयज कासके हेतु और लक्षण—

विषम (वहुत, अल्प या अकालमें) भोजन, असात्म्य भोजन, अति स्त्रीगमन, मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकना, अन्न खाने पर घृणा करना, धननाश-बन्धुनाश आदिका शोक करना तथा अन्य भी राजयक्ष्माक्रान्त रोगीका संसर्ग आदि कारणोंसे वातप्रधान तीनों दोष प्रकुपित होकर क्षयज कास उत्पन्न करते हैं। क्षयज कासमें सड़े हुए पूय जैसा पीले हरे या लाल रंगका (रक्त-मिश्रित) दुर्गन्धयुक्त (विस्रगन्धि) कफ निकलता है। खाँसते समय रोगीको हृदय अपने स्थानसे नीचे आ रहा (च्युत हो रहा) है ऐसा प्रतीत होता है। रोगी अकस्मात् उष्ण या शीतसे पीड़ित होता है अथवा उसको उष्ण या शीतकी इच्छा होती है। क्षयज कासवाला खाता अधिक है परन्तु दुर्बल और कृश होता जाता है। उसका चेहरा स्निग्ध और प्रसन्न (कान्तिवाला) मालूम होता है। उसके दाँत और नेत्र शोभायुक्त मालूम होते हैं। उसके हाथ-पाँवके तलवे चिकने मालूम होते है। उसको दस्त कभी पतला तो कभी बँधा हुआ आता है। उसको मिश्र लक्षण वाला ज्वर, पार्श्वमें पीड़ा, पीनस (जुकाम), अरुचि, अकारण स्वरभङ्ग ये लक्षण होते हैं। वह निरन्तर असूया (पर गुणमें दोषारोपण) और घृणा करनेवाला होता है। यह क्षयज कास क्षीणदेह-वालेके लिए असाध्य होता है। क्षयज और क्षतज कास रोगी बलवान् हो तो याप्य होते हैं। ये दोनों नये उत्पन्न हुए हों, रोगी बलवान् हो और चतुष्पाद-संपत्ति हो तो साध्य होते हैं। वातज, पित्तज और कफज कास साध्य होता है। वृद्ध पुरुषका जरा-वस्थासे उत्पन्न कास याप्य होता है। कास की उपेक्षा करने (चिकित्सा न करने) से श्वास, राजयक्ष्मा, उलटी, स्वरभङ्ग आदि रोग होते हैं, इसलिए कासकी शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए[1]।

---

१ "विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात्। घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः॥ कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्। दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम्॥ स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्। अकस्मादुष्ण-शीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः॥ स्निग्धाच्छ-मुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः। पाणि-पादतले श्लक्ष्णे सततासूयको घृणी॥ ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः। भिन्न-संहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः॥ इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः॥ नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ। स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः॥" (च. चि. अ. १८)। "शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्। तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति॥" (सु. उ. अ. ५२)। "वायुप्रधानाः कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः। कुर्वन्ति यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत् कफं ततः॥ पूति पूयोपमं पीतं निस्रं हरित-लोहितम्। लुप्येते इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च॥ अकस्मादुष्ण-शीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः। स्निग्ध-प्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शन-नेत्रता॥ ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च॥ इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। याप्यो वा बलिनां तद्वत् क्षतजोऽभिनवौ तु तौ॥ सिध्येतामपि सानाथ्याद्, साध्या दोषैः पृथक् त्रयः। मिश्रा याप्या द्वयात् सर्वे, जरसा स्थविरस्य च॥ कासाच्छ्वास-क्षय-च्छर्दि-स्वरसादादयो गदाः। भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्॥" (अ. सं. नि. अ. ३)।

उरःक्षताधिकार।

उर क्षतके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

जो मनुष्य रूक्ष-अल्प और एक रसवाला आहार करता है, धनुषसे वाण छोडनेका अति परिश्रम करता है, गुरु भार उठाता है, विषम और ऊंचे स्थानसे गिरता है, अपनेसे बलवान् पुरुषसे युद्ध (कुश्ती आदि) लडता है, जोरसे भागते हुए सांड-घोडे आदिको रोकनेका यत्न करता है, वजनदार शिला-काष्ठ आदिको जोरसे फेंकनेका यत्न करता है, शत्रुओंको जोरसे मारता है, अति उच्च स्वरसे पढता है, शीघ्र गतिसे लम्बा मार्ग काटता (सफर करता) है, वाहुसे महानदी तरता है, घोडेकी सवारीके साथ दौडता है, सहसा दूर कूदता है, शीघ्रतासे और जोरसे नाचता है, अति स्त्रीगमन करता है, छातीको जोर पड़े ऐसा कार्य अधिक करता है और इस प्रकारके अन्य भी अपने वलसे अधिक कार्य करता है उसके उर-छाती-में क्षत (घाव) होता है। उसको उर और पृष्ठमें भेदनवत् पीड़ा, अंग शरीर सूखना, शरीरका कम्प, क्रमसे (धीरे-धीरे) वीर्य-वल-वर्ण (कान्ति)-रुचि और अग्नि-पचनशक्तिका नाश होना, ज्वर, मनका अवसाद, जठराग्नि मन्द होनेसे पतले दस्त होना, खाँसीके साथ श्याववर्ण-रक्तमिश्रित-पीला दुर्गन्धयुक्त-गाढा और बहुत कफ तथा पूय आना है, खाँसते खाँसते उसको पीले-लाल-कुछ काले या कुछ लाल (अरुण) वर्णका वमन होना वक्षःस्थलमें संताप होना और अति वेदनासे कभी-कभी मूर्च्छा आना ये लक्षण होते हैं। उर क्षतवाला मनुष्य शुक्र और ओजका क्षय होनेसे क्षीण होता जाता है। उसको मूत्रमें रक्त आता है तथा पार्श्व-पृष्ठ और कमरमें दर्द होता है। उर क्षतके अव्यक्त-अस्पष्ट लक्षणोंको उसके पूर्वरूप जानना चाहिए।

---

१ "धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्। पततो विषमोच्चेभ्यो वलिभि सह युध्यत ॥ वृष हय वा धावन्त दम्य वाऽन्य निगृह्णत.। शिला-काष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नत परान्॥ अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूर वा व्रजतो द्रुतम्। महानदी वा तरतो हयैर्वा सह धावत ॥ सहसोत्पततो दूर तूर्णं चातिप्रनृत्यत । तथाऽन्यै कर्मभि क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च॥ विक्षते वक्षसि व्याधिर्वलवान् समुदीर्यते। स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्प-प्रमिताशिन ॥ उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते। प्रपीड्येते तत पार्श्वे शुष्यत्यङ्ग प्रवेपते॥ क्रमाद्वीर्य बल वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते। ज्वरो व्यथा मनोदैन्य विड्भेदोऽग्निवधादपि॥ दुष्ट श्याव सुदुर्गन्ध पीतो विग्रथितो वहु । कासमानस्य च श्लेष्मा सरक्त सम्प्रवर्तते॥ स क्षत क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसो क्षयात्। अव्यक्त लक्षण तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥ उरोरुक्-शोणितच्छर्दि कासो वैशेषिक क्षते। क्षीणे सरक्त-मूत्रत्व पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह ॥" (च चि अ ११)। "व्यायाम-भाराध्ययनैरभिघातातिमैथुनै। कर्मणा चाप्युरस्येन वक्षो यस्य विदारितम्॥ तस्योरसि क्षते रक्त पूय श्लेष्मा च गच्छति। कासमानश्छर्दयेच्च पीत-रक्तासितारुणम्॥ सततवक्षा सोऽत्यर्थं दूयनात् परिताम्यति। दुर्गन्धवदनोच्छ्वासो भिन्नवर्ण-स्वरो नर ॥" (सु उ अ ४१)। "असितम् ईषत्कृष्ण । अरुणम् ईषद्रक्तम्। दूयनात् अतिवेदनात्। परिताम्यति मोह याति।" (ड)।

राजयक्ष्माधिकार।

राजयक्ष्माके पर्याय नाम—

इस रोगके पूर्वरूपमें पीनस-श्वास आदि अनेक रोग पूर्वरूपके रूपमें होते हैं तथा यह रोग शरीरमें स्थिति करने पर अनेक रोग लक्षण और उपद्रवरूपमें होते हैं इस प्रकार यह रोग रोगोंमें राजा (बड़ा) है इसलिए इसको **राजयक्ष्मा** या **रोगराट्**, शरीरके धातुओंका क्षय करता है इसलिए **क्षय** और शरीरका शोषण करता है–शरीरको सुखाता है इसलिए इस रोगको **शोष** कहते हैं। कई आचार्य यह रोग नक्षत्रोंके और ब्राह्मणोंके राजा चन्द्रमाको आरम्भमें हुआ था इसलिए इसका नाम **राजयक्ष्मा** रखा गया ऐसा मानते हैं।[1]

राजयक्ष्माके प्रधान कारण—

साहस (सहसा अपने बलसे अधिक कार्य करना), **वेगसंधारण**, **क्षय** और **विषमाशन** ये चार क्षयके प्रधान कारण हैं। इन कारणोंसे प्रकुपित वातादि तीनों दोषोंसे राजयक्ष्मा होता है।[2]

साहसजन्य राजयक्ष्माका वर्णन—

जब पुरुष दुर्बल होकर बलवानके साथ कुश्ती आदि लड़ता है, बहुत बड़े वजनदार धनुष पर बाण चढा कर फैंकता है, बहुत बोलता (व्याख्यान देता) है, बहुत बोझा उठाता है, पानीमें दूर तक तैरता है, जोरसे मालिश करता है, पाँवसे शरीर दबवाता है, बहुत दूर तक जल्दीसे चलता है, दूसरेसे मार खाता है और इस प्रकारका अन्य भी

---

१ 'यस्मात् स राज्ञः प्रागासीत् राजयक्ष्मा ततो मतः।" (च. चि. अ. ८) विस्तरस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः। "अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। दुर्विज्ञेयो दुश्चिकित्स्यः शोषो व्याधिर्महाबलः॥ संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुः पुनर्जनाः॥" (सु. उ. अ. ४१)। "अनेकरोगानुगतो बहु-रोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः॥ नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः॥ देहौषधक्षयकृते क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः। रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात्॥" (अ. स. नि. अ. ५)। "देहमौषधं च क्षिणोतीति क्षयः, अथवा शुक्रादिक्षयात् सम्भवतीति क्षयः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। रसादयो धातवः शुष्यन्त्यनेनेति शोषः। राजवद्रोगेषु राजत इति रोगराट्" (हे.)।
२ "इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति, तद्यथा–साहसं, संधारणं, क्षयो, विषमाशनमिति।" (च. नि. अ. ६)। "क्षयाद्वेगप्रतीघातादाघाताद्विषमाशनात्। जायते कुपितैर्दोषैर्व्याप्तदेहस्य देहिनः॥" (सु. उ. अ. ४१)। "आघातात् पतनादितः, अयथाबलमारम्भादिति बोद्धव्यम्।" (ड.)। "साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसंक्षयः। अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः॥" (अ. हृ. नि. अ. ५)।

विषम और अतिमात्र व्यायाम करता है उससे अतिमात्रामें किये हुए कर्मसे उर (छाती-फेफड़े) में क्षत-जख्म होता है। उसके जख्मी हुए उरःस्थलमें वायु आकर स्वयं कफ और पित्तको भी साथ लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे गतिमें फैलता है। उसका जो अंश शरीरकी सन्धियोंमें प्रवेश करता है उससे जंभाई, अंगोंमें पीड़ा तथा ज्वर होता है; जो अंश आमाशय और गुदामें आता है उससे पतले दस्त होते हैं, जो अंश छातीमें आता है उससे छातीका शूल होता है, जो अंश जिह्वामें जाता है उससे अरोचक होता है, जो अंश कण्ठमें आता है उससे कण्ठ छिल्ला सा है और स्वर बैठ जाता है, जो अंश प्राणवह स्रोतोंमें आता है उससे श्वास और प्रतिश्याय होता है, जो अंश शिरमें आता है उससे शिरमें वेदना होती है, पीछे छाती जख्मी होनेसे-वायुके विषम गतिसे तथा कण्ठका उद्धर्ष होने (छिलने) से उसको निरन्तर खांसी चलती है, बारम्बार खांसी चलनेसे और छातीमें घाव होनेसे खांसीमें रक्त आता है। खांसीमें रक्त आनेसे दुर्बलता आती है। इस प्रकार साहसिक पुरुषको ऊपर लिखे हुए साहसजन्य उपद्रव होते हैं। शिरःशूल, कण्ठोद्धर्ष, कास, स्वरभेद, अरोचक, पार्श्वशूल, वर्चोभेद, जृम्भा, ज्वर, उरोरुजा और शोणितष्ठीवन–ये एकादश रूप साहसजन्य क्षयमें होते हैं। इसलिए मतिमान् मनुष्य अपना बल देख कर उसके अनुरूप कार्य करे। क्यों कि बलसे शरीरका धारण होता और पुरुष (पञ्चमहाभूत-शरीरि-समवाय) शरीरमूलक-शरीराधार है। मनुष्य अपने जीवनकी रक्षाके लिये साहस कर्म न करे। पुरुष यदि जीता होगा तब ही इष्ट कर्मोंका फल-सुख भोगेगा[1] (च.)।

---

१ "तत्र साहसं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्रम्, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते चातिदूरम्, उत्सादन-पदाघाते ('उच्छादन पदघातने' इति पा०) वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा, अन्यद्वा किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते। तस्योरः क्षतमुपप्लवते वायुः। स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंगृह्य, पित्तं च दूषयन्, विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। तस्य योंऽशः शरीरसन्धीनाविशति तेनास्य जृम्भाऽङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते, यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेनास्य वर्चो भिद्यते, यस्तु हृदयमभिप्रपद्यते तेन रोगा भवन्त्युरस्याः, यो रसनां तेनास्यारोचकः, यः कण्ठमभिप्रपद्यते कण्ठस्तेनोद्ध्वस्यते स्वरश्चावसीदति, यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्च जायते, यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते, ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्य चोद्ध्वंसनात् कासः सततमस्य संजायते, स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते, एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति। ततः स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य तदनुरूपाणि कर्माण्यारभेत कर्तुम्। बलसमाधानं हि शरीरं, शरीरमूलश्च पुरुष इति। भवति चात्र—साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः। जीवन् हि पुरुषस्त्विष्ट

वेगसन्धारणजन्य राजयक्ष्माका वर्णन—

वेगसन्धारण राजयक्ष्माका एक कारण है यह ऊपर कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं–जब मनुष्य राजाके समीप, अपने स्वामी-मालिकके समीप, गुरुके चरणोंमें, द्यूतसभा (जूआ खेलनेवालोंकी मंडली) में, सत्पुरुषोंकी सभामें या स्त्रीसमाजमें बैठ कर अथवा रथ-घोडे आदिकी सवारी पर बैठ कर, भय-व्याख्यानादिका प्रसग–लज्जा–घृणा आदिके कारण वात-मूत्र और मलके उत्पन्न वेगोंको रोकता है तब वेगधारणसे वायु प्रकुपित हो कर तथा पित्त और कफको भी उदीरित-प्रकुपित करके शरीरमें ऊपर-नीचे और तिरछे सर्वत्र फैलता-फिरता है तथा अंशविशेषसे ऊपर साहसजन्य राजयक्ष्माके वर्णनमें लिखे अनुसार शरीरके अवयवविशेषमें प्रवेश करके पार्श्व-छाती आदिमें शूल उत्पन्न करता है, मलको पतला करता या सुखाता है, कधोंमें मर्दन जैसी पीडा करता है, कण्ठ और छातीमें भाथीसे धोंकने जैसी आवाज उत्पन्न करता है, तथा सिरदर्द, खॉसी, श्वास, ज्वर, स्वरभंग, जुकाम, अरुचि, अगोंमें पीडा और वार-वार उलटी होना ये लक्षण उत्पन्न करता है[1]। वेगसधारण जन्य राजयक्ष्मामें प्रतिश्याय, कास, स्वरभङ्ग, अरुचि, पार्श्वशूल, शिर शूल, ज्वर, असावमर्दन, अङ्गमर्द, वमन और वर्चोभेद–ये एकादश रूप होते हैं। अन्य सब बातोंको छोडकर जिनके योगसे कल्याण हो ऐसे वेगोंको धारण न करना आदि नियमोंका पालन करना चाहिए। क्यों कि यदि शरीर न होगा तो सर्व शारीरिक भावोंका अभाव–नाश होगा।

कर्मण फलमश्नुते॥" (च नि अ ६)। "युद्धाध्ययन-भाराध्व-लङ्घन-प्लवनादिभि । पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरै ॥ अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायु प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति॥ स शिर स्थ शिर शूल करोति गलमाश्रित । कण्ठोद्ध्वंस च कास च स्वरभेदमरोचकम्॥ पार्श्वशूल च पार्श्वस्थो वर्चोभेद गुदे स्थित.। जृम्भा ज्वर च सन्धिस्थ उर स्थश्चोरसो रुजम्॥ क्षणनादुरस. कासात् कफ ष्ठीवेत् सशोणितम्। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुर शूलातिपीडित ॥ इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतै. प्रपद्यते। एकादशभिरात्मज्ञो भजेत्तस्मान्न साहसम्॥" (च. चि अ ८)।

१ "सन्धारण शोषस्यायतनमिति यदुक्त तदनुव्याख्यास्याम –यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तु समीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसभमन्य वा सता समाज स्त्रीमध्य वा समनुप्रविश्य यानैर्वाऽप्युच्चावचैरभिगच्छन् भयात् प्रसङ्गाद्ध्रीमत्त्वाद्घृणित्वाद्वा निरुणद्ध्यागतान् वात-मूत्र-पुरीषवेगान् तदा तस्य सन्धारणाद्वायु प्रकोपमापद्यते, स प्रकुपित पित्त-श्लेष्माणौ समुदीर्योर्ध्वमधस्तिर्यक् च विहरति, ततश्चाशविशेषेण पूर्ववच्छरीरावयवविशेष प्रविश्य शूलमुपजनयति, भिनत्ति पुरीषमुच्छोषयति वा, पार्श्वे चातिरुजति, असाववमृद्नाति, कण्ठमुरश्चावधमति, शिरश्चोपहन्ति, कास श्वास ज्वर स्वरभेद प्रतिश्याय चोपजनयति, तत स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुत शनै शनैरेतैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मन शारीरेष्वेव योग-क्षेमकरेषु प्रयतेत विशेषेण, शरीर ह्यस्य मूल, शरीरमूलश्च पुरुषो भवति। भवति चात्र–सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्। तदभावे हि भावाना सर्वा-

धातुक्षयजन्य राजयक्ष्माका वर्णन—

'धातुक्षय राजयक्ष्माका कारण है, ऐसा ऊपर कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं— जब मनुष्य अतिमात्र शोक-चिन्ता-ईर्ष्या-उत्कण्ठा-क्रोध-भय-त्रास आदि मानसिक भावोंसे पीड़ित हृदय-मनवाला होता है, कृश होकर रूक्ष अन्न-पानका सेवन करता है, दुर्बल प्रकृति-वाला होता हुआ उपवास करता है या अल्प आहार खाता है तब उसके हृदयस्थ रसधातुका क्षय होता है, रस धातुके क्षयसे शोप (उत्तरोत्तर रक्त-मांस आदि शुक्रान्त धातुओंका क्षय) होता है। उस अवस्थामें चिकित्सा न करनेसे राजयक्ष्मा होता है (यह अनुलोम-क्षयजन्य राजयक्ष्माका वर्णन है)। अथवा जब पुरुष अतिहर्ष(कामेच्छा)से अति प्रमाणमें स्त्रीगमन करता है तब अति मैथुन प्रसंगसे उसके शुक्रका क्षय होता है। शुक्रका क्षय होने पर भी यदि उसका मन स्त्रियोंसे निवृत्त नहीं होता है और स्त्रीगमनका संकल्प करके मैथुनमें प्रवृत्त होता है तब वीर्यका अति क्षय हो जानेके कारण शुक्रका स्राव नहीं होता है, तथा शुक्रक्षयसे प्रकुपित वायु रक्तवाहिनी धमनियोंमें प्रवेश करके शुक्रके स्थान पर शुक्रमार्गसे वातलक्षणयुक्त रक्तका स्राव करता है। तब शुक्रके क्षयसे और शुक्रके स्थानपर रक्तकी प्रवृत्ति होनेसे सन्धियां शिथिल होती हैं, शरीरमें रूक्षता उत्पन्न होती हैं, शरीरमें दुर्बलता बढ़ती है और वायुका प्रकोप होता है। वह प्रकुपित वायु खाली शरीरमें कफ और पित्तको प्रकुपित करके मांस और रक्तको सुखाता है, कफ और पित्तको खाँसीके द्वारा निकालता है, दोनों पार्श्वोंमें पीड़ा करता है, दोनों कंधोंमें मर्दन जैसी पीड़ा करता है, कण्ठको छीलता सा है, कफको बढ़ाकर सिरको कफसे भर देता है, शरीरकी सब सन्धियोंमें पीड़ा करता हुआ अङ्गमर्द-अरुचि और अविपाक (अन्न पचन न होना) ये लक्षण उत्पन्न करता है। पित्त और कफका उत्क्लेश और वायुकी प्रतिलोम गतिके कारण उसको ज्वर, खाँसी, श्वास, स्वरभेद, अंससंताप (अंसस्थान शरीरके अन्यस्थानकी अपेक्षया अधिक तप्त-गरम रहना) और प्रतिश्याय-जुकाम होता है; बार-बार खाँसी आनेसे छाती(फेफड़ों)में क्षत होनेसे खाँसीमें रक्त आने लगता है। खाँसीमें रक्त आनेसे दुर्बलता और अधिक बढ़ती है तथा रोगी धीरे-धीरे सूखता जाता है। धातुक्षयजन्य राजयक्ष्मामें प्रतिश्याय, ज्वर, कास, अङ्गमर्द, शिर शूल, श्वास, मल

भाव शरीरिणाम्॥" (च नि अ ६)। "भयादित्यादि राजसमीपादिषु यथायोग्यतया बोद्धव्यम्। योगेन ये क्षेमकरास्ते योगक्षेमकरा, ते चेह मूत्र-पुरीषाविधारणादय; किंवा योगा. शरीरस्य बल-वर्णाद्युत्कर्षयोगा, क्षेमाश्चानागताबाधप्रतिषेधा, तेषु।" (च.)। "ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वात-मूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नर.॥ तदा वेगप्रतीघातात् कफ-पित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिल॥ प्रतिश्यायं च कासं च स्वर-भेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिर.शूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥ अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥" (च चि अ ८)। "वर्चोभेदं त्रिलक्षणमिति पृथग्वातादिजनितं त्रिदोषलिङ्गयुक्तमित्यर्थं।" (च)।

पतला होना, अरुचि, पार्श्वशूल, स्वरभङ्ग और असताप–ये एकादश रूप होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष अपने शरीरकी रक्षाके लिए वीर्यकी रक्षा करे। क्योंकि हम जो आहार खाते हैं उसके अन्तिम फलके रूपमे वीर्य उत्पन्न होता है, शुक्रके क्षयसे अनेक रोग तथा मरण तक होता है[1]।

वक्तव्य–शरीरमे धातुओंका क्षय दो प्रकारसे होता है–(१) **अनुलोम क्षय** और (२) दूसरा **प्रतिलोम क्षय**। प्रथम रसधातुका क्षय होकर पीछे रस धातुसे पोपण पाने वाले रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन उत्तरोत्तर धातुओंका जो क्षय होता है उसको **अनुलोम क्षय** कहते हैं। तथा प्रथम शुक्रका क्षय होकर पीछे मज्जा, अस्थि, मेद, मास, रक्त और रस इन पूर्व-पूर्व धातुओंका जो क्षय होता है उसको **प्रतिलोम क्षय** कहते हैं। ये दोनोंप्रकारके क्षय राजयक्ष्माके कारण होते हैं।

---

१ "क्षय शोपस्यायतनमिति यदुक्त तदनुव्याख्यास्याम –यदा पुरुषोऽतिमात्र शोक-चिन्तापरिगत-हृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठा-भय-क्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्न-पानसेवी भवति, दुर्वलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रस क्षयमुपैति, स तस्योपक्षया-च्छोष प्राप्नोति, अप्रतीकाराच्चानुवध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणरूपेण। यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादति-प्रसक्तभाव स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद्रेत क्षयमेति। क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मन स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्तते तस्य चातिप्रणीतसकल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्र प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्, तथाऽस्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणित-वाहिनीस्ताभ्य शोणित प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुन शुक्रमार्गेण शोणित प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्। अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च सन्धय शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूय शरीर दौर्वल्यमाविशतीति वायु प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितो वशिक ('अरसिक' इति पाठ) शरीरमनुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्म-पित्ते परिशोषयति मास-शोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्म-पित्ते, सरुजति पार्श्वे, अवमृद्नात्यसौ, कण्ठमुद्ध्वसति, शिर श्लेष्माणमुत्क्लेश्य प्रतिपूरयति श्लेष्मणा, सन्धींश्च प्रपीड-यन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्त-श्लेष्मोत्क्लेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वर कास श्वास स्वरभेद प्रतिश्याय चोपजनयति, स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणित ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्वल्यमुपजायते, तत स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुत शनै शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मति-मानात्मन शरीरमनुरक्षञ्छुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति। भवति चात्र–आहारस्य पर धाम शुक्र तद्रक्ष्यमात्मन। क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरण वा नियच्छति॥" (च नि अ ६)। "ईर्ष्योत्कण्ठा-भय-त्रास-क्रोध-शोकातिकर्शनात्। अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते॥ तत. स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्। प्रतिश्याय ज्वर कासमङ्गमर्द शिरोरुजम्॥ श्वास विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूल स्वरक्षयम्। करोति चाससतापमेकादशगदानिमान्॥ लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्। संप्राप्तं राजयक्ष्माण क्षयात् प्राणक्षयप्रदम्।" (च. चि अ ८)।

विषमाशनजन्य राजयक्ष्माका वर्णन—

'विषमाशन राजयक्ष्माका एक कारण है' यह ऊपर कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं—जब मनुष्य प्रकृति (आहार और औषध द्रव्योंके स्वाभाविक गुरु-लघु आदि गुण), करण (पीसना-राधना आदि संस्कार), संयोग (दो या अधिक द्रव्योंका एकत्र मिलाना), राशि (आहार द्रव्योंका पृथक् या समुदायका प्रमाण), देश (द्रव्योंकी उत्पत्ति और उपयोगका स्थान), काल (द्रव्योंके उपयोगका वातादि आवस्थिक तथा हेमन्तादि ऋतुरूप काल), उपयोग के नियम (आहार जीर्ण होनेपर ही खाना आदि), उपशय (उपयोग करने वालेको क्या अनुकूल या प्रतिकूल आता है इसका विचार), इनका विस्तृत विवरण चरक-विमानस्थानके प्रथम अध्यायमें देखें)-इनके विरुद्ध आहारका उपयोग करता है तब उसके शरीरमें वात, पित्त और कफका प्रकोप होता है । इस प्रकार प्रकुपित वात, पित्त और कफ जब स्रोतोंके मुखोंका अवरोध करते हैं तब वह मनुष्य जो आहार करता है उससे मूत्र और मलकी ही अधिक उत्पत्ति होती है, अन्य रस-रक्त आदि धातुओंकी उचित प्रमाणमें उत्पत्ति नहीं होती है। वह मनुष्य मलके आधार पर अपना शरीर टिकाता है । इस लिए राजयक्ष्मावाले तथा अन्य कृश और दुर्बल मनुष्यके मलकी रक्षा करनी चाहिए (उसको विरेचन नहीं देना चाहिए) । उस मनुष्यके शरीरमें रस-रक्त आदि धातुओंकी उचित उत्पत्ति न होने पर विषमाशनसे बढे हुए दोष आगे लिखे हुए उपद्रवोंसे शरीरको और भी सुखाते हैं । उनमेसे वात शूल, अंगमर्द, कण्ठ छिलना, पार्श्वोंमें पीड़ा, कंधोंमें मर्दन जैसी पीडा, स्वरभंग, और प्रतिश्याय करता है, पित्त ज्वर, अतिसार और अन्तर्दाह करता है, तथा कफ प्रतिश्याय, सिरका भारीपन, अरुचि और खाँसी करता है। बार-बार खाँसी आनेसे छातीमें घाव (उर क्षत) होनेसे खाँसीमे रक्त आने लगता है और रक्त निकलनेसे दुर्बलता और बढ़ती है। इसके अतिरिक्त उसको प्रसेक (लालाका अतिस्राव), वमन, असामिताप, सिरका दर्द और रक्तका वमन ये लक्षण होते हैं । इस प्रकार विषमाशनसे प्रकुपित तीनों दोष राजयक्ष्मा उत्पन्न करते हैं । विषमाशनजन्य राजयक्ष्मामे प्रतिश्याय, लालास्राव, कास, उलटी, अरुचि, ज्वर, अंससंताप, रक्तका वमन, पार्श्वशूल, शिर शूल और स्वर भेद ये एकादश लक्षण होते हैं । इस लिए बुद्धिमान् पुरुष प्रकृति-करण-संयोग-राशि-आहारोपयोगके नियम और उपशयसात्म्य इनसे अविरुद्ध-अविषम आहारका उपयोग करे। बुद्धिमान् मनुष्य विषमाशनसे राजयक्ष्मा जैसे अनेक कष्टकारक रोग होते है यह जानकर हित पदार्थोंका ही भोजन करे, उचित मात्रामे ही भोजन करे, भोजनकालमे ही भोजन करे और जिह्वा आदि इन्द्रियोंको अपने वशमे रखे-उनके वश न हों[१] ।

---

१ ''विषमाशन शोषस्यायतनमिति यदुक्त तदनुव्याख्यास्याम.—यदा पुरुष. पानाशनभक्ष्य लेह्योपयोगान् प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोगसंस्थोपशयविषमानासेवते तदा तस्य तेभ्यो वात-पित्त-श्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते, ते विषमा· शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसां मुखानि

राजयक्ष्माके पूर्वरूप—

प्रतिश्याय (जुकाम), वार-वार छींकें आना, मुंहसे लालाका अधिक स्राव होना, मुँह मीठा रहना, अन्न खानेकी इच्छा न होना, अन्न खानेमें परिश्रम मालूम होना, भोजनपात्र-जल-अन्न-दाल-रोटी-उपदंश(अन्नके साथ दाँतोंसे तोड़कर खाये जाने वाले मूली-अचार आदि)-परोसनेवाले आदि भाव-विषय दोषरहित या अल्प दोषवाले होने पर भी उनमें दोष देखना, खाते समय जी मिचलाना, कभी-कभी आहारकी उलटी हो जाना, चेहरे और पाँवपर शोथ, वार-वार अपने हाथ देखते रहना, आँखें श्वेत वर्णकी (रक्ताल्पताके कारण) मालूम होना, बाहुके प्रमाण-मोटाई (और अपने शरीरके भारकी) जिज्ञासा, स्त्रीगमनकी अधिक इच्छा रहना, घृणा करने योग्य बातोंमें घृणा (नफरत) न होना, रोगीका शरीर बीभत्स दिखना; उसको स्वप्नमें जलाशयोंको निर्जल देखना, ग्राम-नगर-निगम और जनपदोंको शून्य (बिना बस्तीके) देखना, वनों(वृक्षों)को सूखे-जले हुए और भग्न (टूटे हुए) देखना, गिरगिट-मोर-बन्दर-तोता-सर्प-कौआ-उल्लू आदिका स्पर्श या आक्रमण होना, कुत्ते ऊँट-गधे-सुअर आदिकी सवारीपर चढ़ना, केशोंका ढेर-हड्डियाँ-भस्म-तुष और कोयलोंके ढेर पर चढ़ना—ये स्वप्न दिखते हैं। रोगीके अन्न-पानमें मक्खियाँ बैठना-घास-बाल आदि गिरना, खाने पर भी बल-शक्ति घटना, सिर पर वस्त्र ओढ़े रहना, नख और बालोंका अधिक बढ़ना, स्वप्नमें उसको पतंग-गिरगिट-सर्प-बंदर तथा हिंस्र पशु और पक्षी आक्रमण कर रहे हैं और नक्षत्र तथा पर्वत गिर रहे हैं ऐसा दिखना—ये लक्षण होते हैं (च.); श्वास, शरीरकी शिथिलता, तालु सूखना, उलटी, अग्निमान्द्य, मद (नशा चढ़ा सा रहना), शरीरमें फीकापन, नींद अधिक आना, मांस खानेकी इच्छा होना तथा उसको स्वप्नमें वह कौए-तोते-सेह-मोर-गीध-बंदर और गिरगिट पर सवारी कर

प्रतिमार्गमवतिष्ठन्ते तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्र-पुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं नान्यास्तथा शरीरधातुः, स पुरीषोपष्टम्भाद्वर्तयति, तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यं तथाऽन्येषामतिकृश-दुर्बलानाम्। तस्यानाप्याय्यमानस्य विषमाशनोपचिता दोषाः पृथक् पृथगुपद्रवैर्युञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोषयन्ति। तत्र वातः शूलमङ्गमर्दं कण्ठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरुजनमंसावमर्दं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति, पित्तं ज्वरमतिसारमन्तर्दाहं च, श्लेष्मा तु प्रतिश्यायं शिरसो गुरुत्वमरोचकं कासं च। स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं निष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते। एवमेते विषमाशनोपचितास्त्रयो दोषा राजयक्ष्माणमभिनिर्वर्तयन्ति। तस्मात् पुरुषो मतिमान् प्रकृति करण-संयोग-देश-कालोपयोगसंस्थोपशयादविषममाहारमाहरेत्। भवति चात्र—हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः। पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥" (च नि अ ६)। "विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः। जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः॥ स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः। रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः॥ प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम्। ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च॥ पार्श्वशूलं शिरःशूलं

रहा है, नदियाँ जलरहित हैं, वृक्ष सूखे एव जोरकी हवा-धुएं और दावाग्निसे पीडित है-ऐसे दिखना-ये लक्षण होते हैं[1] (सु.)।

राजयक्ष्माके चरकोक्त एकादश रूप—

इन पूर्वरूपोंके अनन्तर सिर कफसे भरा हुआ रहना, खाँसी, श्वास, स्वरभग, कफका वमन, वमनमें कफसे साथ रक्त आना, पार्श्वमे पीडा, कधोंमे दबने जैसी पीडा, ज्वर, अतिसार और अरुचि ये ग्यारह लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]।

---

१ "तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—प्रतिश्याय , क्षवथुरभीक्ष्ण, श्लेष्मप्रसेक , मुख-माधुर्यम्, अनन्नाभिलाष , अन्नकाले चायास., दोपदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा भाजनेषु पात्रोदकान्न-सूपापूपोपदश-परिवेषकेषु, भुक्तवतश्चास्य हृल्लास , तथोल्लेखनमप्याहारस्यान्तराऽन्तरा, मुखस्य पादयोश्च शोफ , पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थम्, अक्ष्णो श्वेतावभासता चातिमात्र, बाह्वोश्च प्रमाण-जिज्ञासा, स्त्रीकामता, निर्घृणित्व, बीभत्सदर्शनता चास्य काये, स्वप्ने चाभीक्ष्ण दर्शनमनुदका-नामुदकस्थानाना, शून्याना च ग्राम-नगर-निगम जनपदाना, शुष्क दग्ध-भग्नाना च वनाना, कृक-लास-मयूर-वानर-शुक-सर्प-काकोलूकादिभि सस्पर्शनम्, अधिरोहण यान वा श्वोष्ट्र-खर-वराहै., केशास्थि-भस्म-तुषाङ्गारराशीना चाधिरोहणमिति ।" (च नि अ ६)। "पूर्वरूप प्रतिश्यायो दौर्बल्य दोपदर्शनम् । अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांस-परिक्षय । स्त्री-मद्य-मासप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ मक्षिका-घुण केशाना तृणाना पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने केशाना नखाना चाभिवर्धनम् । पतत्रिभि. पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम् । स्वप्ने केशास्थिराशीना भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥ जलाशयाना शैलाना वनाना ज्योतिषामपि । शुष्यता क्षीयमाणाना पतता चापि दर्शनम् ॥ प्राग्रूप बहुरूपस्य तज्ज्ञेय राजयक्ष्मण ।' (च चि अ ८)। "श्वासाङ्गसाद-कफसस्रव-तालुशोष-च्छर्द्यग्निसाद-मद-पीनस-पाण्डु-निद्रा । शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तु शुक्लेक्षणो भवति मासपरो रिरसु ॥ स्वप्नेषु काक-शुक-शल्लकि-नीलकण्ठ-गृध्रा-स्तथैव कपय कृकलासकाश्च । त वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्येच्छुष्कास्तरून् पवन-धूम-दवा-र्दिताश्च ॥" (सु उ अ ४१)। "रूप भविष्यतस्तस्य प्रतिश्यायो भृश क्षव । प्रसेको मुख-माधुर्य सदन वह्नि-देहयो ॥ स्थाल्यामत्रान्न-पानादौ शुचावप्यशुचीक्षणम् । मक्षिका-तृण-केशादि-पात प्रायोऽन्न-पानयो ॥ हृल्लासश्छर्दिररुचिरश्नतोऽपि बलक्षय । पाण्योरवेक्षा पादस्य शोफो-ऽक्ष्णोरतिशुक्लता ॥ बाह्वो प्रमाणजिज्ञासा काये वैभत्स्यदर्शनम् । स्त्री-मद्य-मासप्रियताऽघृणित्व मूर्धगुण्ठनम् ॥ नख-केशातिवृद्धिश्च स्वप्ने चाभिभवो भवेत् । पतङ्ग-कृकलासाहि-कपि-श्वापद-पक्षिभि ॥ केशास्थि-तुष-भस्मादिराशौ समधिरोहणम् । शून्याना ग्राम देशाना दर्शन शुष्यतो ऽम्भस ॥ ज्योतिर्गिरीणा पतता ज्वलता च महीरुहाम् ॥" (अ स नि अ ५)। २ "अत ऊर्ध्वमेकादश रूपाणि तस्य भवन्ति, तद्यथा—शिरस परिपूर्णत्व, कास , श्वास , स्वरभेद , श्लेष्मणश्छर्दन, शोणितवमन, पार्श्वसरुजनम्, असावमर्द., ज्वर , अतिसार , अरोचकश्चेति ।" (च नि अ ६)।

धातुओंके पोषण न होनेसे राजयक्ष्मा किस प्रकार होता है, इसका वर्णन—

खाया हुआ पञ्चभूतात्मक आहार अपने पाँच भूताग्नियों द्वारा पक्व होकर पहिले रस-रूप बनता है। पीछे—अनन्तर उस रस धातुसे रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र ये छ धातु अपने-अपने धात्वग्निद्वारा पक्व हो कर अपने-अपने स्रोत-मार्ग द्वारा उत्तरोत्तर पुष्ट होते (पोषणको प्राप्त करते) हैं (क्रमपरिणाम पक्षमें रससे रक्तकी, रक्तसे मासकी, माससे मेदकी, मेदसे अस्थिकी, अस्थिसे मज्जाकी और मज्जासे शुक्रकी पुष्टि होती है)। राजयक्ष्माकारक दोषोंसे स्रोतों(रक्तादि धातुओंको वहन करनेवाले मार्गों)का अवरोध होता है तथा स्रोतोवरोधसे धातुपाचक धात्वग्नियोंका अपचय (मन्दता) होनेसे उत्तरोत्तर रक्तादि धातुओंका पोषणाभावसे क्षय होनेके कारण राजयक्ष्मा होता है। उस समय कोष्ठमें जो अन्न आता है उससे प्राय (अधिक प्रमाणमें) मल उत्पन्न होता है और रस किंचित्-अल्प प्रमाणमें उत्पन्न होता है। इस लिए विशेषत राजयक्ष्मावालेके मलकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि सर्व धातुओंके क्षयसे पीडित राजयक्ष्मावालेको विष्टाका बल ही बल (शरीरधारणका आधार) होता है (अत अतिसारसे, या विरेचन देकर अधिक मलनि-सरणसे उसके बलका अधिक क्षय हो ऐसा नहीं करना चाहिए)। अपने स्थान हृदयमें रहा हुआ रस धातु स्रोतोंके अवरोधसे विदग्ध होकर खाँसीके वेगके साथ अनेक रूपमें निकलता है। इसके अनन्तर छ या एकादश लक्षणोंके समूहरूप राजयक्ष्मा होता है[1] (च)।

क्षयवालेको पौष्टिक आहार खानेपर भी धातुक्षय कैसे होता है?

यक्ष्मारम्भक दोषोंसे जठराग्नि मन्द होने पर कफाधिक और अपक्व होनेसे स्रोतोंमें चिपकनेवाले दोषों द्वारा धातुवह स्रोतोंका मार्ग अवरुद्ध होनेसे और धात्वग्नि अल्प-मन्द होनेसे रस धातु अपने स्थान-हृदयमें विदग्ध-असम्यक् पक्व रह कर आगे लिखे जानेवाले

---

१ "यथास्वेनोष्मणा पाक शारीरा यान्ति धातव। स्रोतसा च यथास्वेन धातु पुष्यति धातुत॥ स्रोतसा सन्निरोधाच्च रक्तादीना च सक्षयात्। धातूष्मणा चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्न कोष्ठसश्रितम्। मलीभवति तत् प्राय कल्पते किंचिदोजसे॥ तस्मात् पुरीष सरक्ष्य विशेषाद्राजयक्ष्मिण। सर्वधातुक्षयार्तस्य बल तस्य हि विड्बलम्॥ रस स्रोत.सु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्व कासवेगेन बहुरूप प्रवर्तते॥ जायन्ते व्याधय-श्चात षडेकादश वा पुन। येषा सघातयोगेन राजयक्ष्मेति कथ्यते॥" (च चि अ ८)। "ऊष्मणा रसाग्न्यादिरूपेण। धातु पुष्यति धातुनेति धातुना रसेन, धातु रक्तादिरूप, किंवा क्रमपरिणामपक्षे रसेन रक्त, रक्तेन मास पुष्यतीति ज्ञेयम्। स्रोतसा सन्निरोधादिति 'यक्ष्म-कारकदोषेणावरुद्धत्वात्। रक्तादिसक्षयोऽपि स्रोतोवरोधात्तथा पोषकरसाप्राबल्याच्च ज्ञेय। × ×। ओजसे इति सारभागाय, रसायेति यावत्।" (च द)। "भुक्त आहार पञ्चभूतात्मक पञ्च-भिर्भूताग्निभि. पच्यमान. प्राग्रसरूपता याति। स चाहाररस पुन षट्सु धात्वग्निषु क्रमात् पच्यमानो रक्ताद्युत्तरोत्तरधातुरूपत्वमायाति।" (यो.)। विस्तरस्तु **चरकोपस्कारे** द्रष्टव्य।

तत्तत् उपद्रवोंको उत्पन्न करता है और मासादिको ठीक नही पहुँचता तथा ऊपरकी ओर जाकर कफके साथ या वमनके रूपमे बाहर आता है । खाया हुआ आहार जठराग्निद्वारा कोष्ठमे ही पकता है (धात्वग्नियोंद्वारा उसका परिपाक न होनेसे उत्तरोत्तर धातुओका पोषण नही होता है) अत आहारसे मलकी अधिक और रसकी अल्प उत्पत्ति होती है, इस लिए वह अल्प उत्पन्न रस उत्तर धातुओके पोषणके लिए समर्थ नही होता है। रससे ठीक प्रमाणमे रक्त भी नही बनता तो मासादि बननेकी सभावना ही कहाँ ? क्षयवाला केवल मलके आधार पर ही जीता है[1] (वृ. वा.) ।

राजयक्ष्माके विषयमें सुश्रुतका मत—

'शोष-राजयक्ष्मा पृथक् (एक-एक) दोषसे होता है' ऐसा कई आचार्य कहते हैं, परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न दोषोसे उत्पन्न ग्यारह लक्षण इस एक ही रोगमें देखनेमे आते हैं, शास्त्रमे दोषभेदसे शोषकी भिन्न-भिन्न चिकित्सा नहीं कही गई है और पूर्वरूप भी राजयक्ष्माके दोषभेदसे भिन्न-भिन्न नहीं कहे गये हैं, अत पदार्थाख्यतन्त्रयुक्तिसे राजयक्ष्मा त्रिदोषजन्य एक ही प्रकारका सिद्ध होता हैं, किन्तु किसी एक दोषकी अधिकताके कारण उसमे एक दोषके लक्षण अधिक दिखाई देते हैं[2] (सु) ।

---

१ "दोषैर्मन्दानलत्वेन सोपलेपै कफोल्बणै । स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मस्वल्पकेषु च ॥ विदह्यमान स्वस्थाने रसस्तांस्तानुपद्रवान्। कुर्वन्नगच्छन् मासादीनसृक् चोर्ध्वं प्रधावति ॥ पच्यते कोष्ठ एवान्नमन्नपक्त्रैव चास्य यत् । प्रायोऽस्मान्मलता यात नैवाल धातुपुष्टये ॥ रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु । उपष्टब्ध स शकृता केवल वर्तते क्षयी ॥" (अ स नि अ ५) । "तस्य राजयक्ष्मवतो रोगस्वभावेन मन्दानलत्वेन हेतुना दोषै. सोपलेपैरपाकाद-विशदैस्तथा कफोल्बणैश्च स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु, अत एव धातूष्मस्वल्पकेषु सत्सु रसाख्यो धातु स्वस्थान एव विदह्यमानो नापि रक्तादिधातुषु वहन् तांस्तानुपद्रवान् स्वहेतुकान् कुर्यात् । असृक् च मासादीनगच्छन्नूर्ध्वं शरीरस्य धावति । अस्य चान्नमन्नपक्त्रैव पच्यते, न तु रसादिक्रमेण स्वन्य-पाचकै , कोष्ठ एव पच्यते न धातुस्रोत सु । अत एव हेतोर्बाहुल्येन मलतामेव यातमन्न धातुपुष्टये नाल न पर्याप्त भवतीत्यर्थ । स्तोकेन सारेणाप्याय्यन्ते धातव इति प्रायोग्रहणम् ।" (इन्दु) ।

२ "स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद्वदन्ति हि । एकादशानामेकस्मिन् सान्निध्यात्तन्त्रयुक्तित ॥ क्रियाणामविभागेन प्रागेकोत्पादनेन च । एक एव मत शोष सन्निपातात्मको ह्यत ॥ उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणा निपतन्ति हि ।" (सु उ अ ४१) । "स राजयक्ष्मा व्यस्तैर्दोषैर्जायत एवेति केचित् पाराशरीयान्तेवासिनो वदन्तीति समन्वय । तथा च—"क्षया पञ्चैव विज्ञेयास्त्रिभिर्दोषै-स्त्रयश्च ते। चतुर्थ सन्निपातेन पञ्चम स्यादुर क्षतात् ॥" (शा प्र ख अ ७) इत्येत-च्छार्ङ्गधरीय पाराशरीयोपदिष्टमित्याहु प्राञ्च । तत्तु न सम्यगित्याह—एकादशानामित्यादि । ×× । एकस्मिन्नेव शोषे एकादशाना वात-पित्त-कफलक्षणत्वेन विवक्षिताना स्वरभेदादीना सान्निध्यात् स्वलक्षणत्वेन सन्निहितत्वात्, तथा क्रियाणा प्रतीकाराणामविभागेन त त वातजादिशोष प्रत्य-

कारणभेदसे राजयक्ष्माके भेद और संप्राप्ति—

धातुओंका क्षय, वेगोंको रोकना, साहसकर्मरूप व्यायाम और विषमाशन–इन चार हेतुओंके भेदसे राजयक्ष्मा चार प्रकारका होता है। इन चार कारणोंसे दोषोंका प्रकोप हो कर वे दोष जब शरीरमें व्याप्त होते हैं तब राजयक्ष्मा होता है। जब कफप्रधान दोषोंसे रसवह स्रोतोंके मार्ग अवरुद्ध होते हैं तब रसद्वारा उत्तरोत्तर धातुओंका पोषण न होनेसे अनुलोमक्षयजन्य राजयक्ष्मा होता है अथवा अति व्यवाय-मैथुनसे जब शुक्र धातुका क्षय होता है तब पूर्व-पूर्व धातुका क्षय होनेसे प्रतिलोमक्षयजन्य राजयक्ष्मा होता है[1] (सु.)।

मध्यदोषजन्य राजयक्ष्माके छ लक्षण—

भक्तद्वेष-अरोचक, ज्वर, श्वास, खाँसी, खाँसीमें रक्त आना और स्वरभङ्ग ये छ लक्षण मध्यबलदोषजन्य राजयक्ष्मामें होते हैं[2] (सु.)।

प्रबलदोषारब्ध राजयक्ष्माके एकादश लक्षण—

प्रबल दोषजन्य राजयक्ष्मामें वातकी अधिकतासे स्वरभेद, शूल तथा अंस (कंधे) और पार्श्वका सकोच, पित्तकी अधिकतासे ज्वर, दाह, अतिसार और छातीसे रक्त आना तथा कफकी अधिकतासे सिर कफसे भरा हुआ रहना, अरुचि, खाँसी और कण्ठोद्ध्वंस (कण्ठमें खुजलाहटके साथ खाँसी) ये लक्षण होते हैं[3] (सु.)।

विभज्योपदेशादित्यर्थं, प्राक् पूर्वरूपावस्थायामुत्पादनेन 'श्वासाङ्गसाद' इत्यादीना परमतो वक्ष्यमाणलिङ्गानामविशेषेणैव दोषै सजननाच्च, तन्त्रयुक्ति सन्दिग्धपदार्थनिर्णयसाधनत्वेन (उ त अ ६५) वक्ष्यमाणा पदार्थसमाख्या तन्त्रयुक्ति द्वारीकृत्य। ××। अथ शोषो हि निश्चित सन्निपातात्मक एक एव मत इत्यर्थ (हा.)। विस्तरस्तु सुश्रुतार्थसदीपनभाष्य एव द्रष्टव्य।

१ "क्षयाद्वेगप्रतीघातादाघाताद्विषमाशनात्। जायते कुपितैर्दोषैर्व्याप्तदेहस्य देहिन॥ कफप्रधानैर्दोषैर्हि रुद्धेषु रसवर्त्मसु। अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरम्॥ क्षीयन्ते धातव सर्वे तत शुष्यति मानव।" (सु उ अ ४१)। "रसवर्त्मसु रसवहधमनीष्वित्यर्थः। आयुर्वेद इदमामनन्ति–"शुक्रायत्त बल पुसा" ( ) इति, तत्र बल सामर्थ्य शक्तिरित्यनर्थान्तरम्। तस्मिंश्च क्षीणे तत्परिपोषणाय प्रवृत्तो मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणे अस्थि, इत्येवमुत्तरोत्तरमनन्तरा धातव क्षीयन्ते, यथा क्षीणे च केदारादौ तत्तत्परिपोषका कुल्यादय क्षीयन्ते तद्वदित्यत साम्प्रतमुक्त–क्षीणे रेतसीति।" (हा)। २ "भक्तद्वेषो ज्वर श्वास कास शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायन्ते षड्रूपे राजयक्ष्मणि॥" (सु उ अ ४१)। "इदानीं मध्यबलदोषारब्धस्य शोषस्य षड्रूपाणि दर्शयन्नाह–भक्तद्वेष इत्यादि।" (ड)। ३ "स्वरभेदोऽनिलाच्छूल सकोचश्चांस-पार्श्वयो। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागम॥ शिरस परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च। कास कण्ठस्य चोद्ध्वसो विज्ञेय कफकोपत॥" (सु उ अ ४१)। "षड्रूपाणि निर्दिश्य दोषभेदेनैकादशरूपाणि बलवत्समदोषारब्धस्य शोषस्य दर्शयन्नाह-स्वरभेद इत्यादि।" (ड)।

शरीरमें दोषोंकी व्याप्तिके अनुसार राजयक्ष्माके लक्षण—

राजयक्ष्मावालेके शरीरमें दोष जब ऊर्ध्वगत होते हैं तब पीनस, श्वास, अंस (कंधे) और सिरमें पीडा, स्वरभङ्ग और अरुचि, जब कोष्ठ-आमाशयमें जाते हैं तब वमन-जब नीचे पक्काशयमें आते हैं तब स्रोतोंका अवरोध हो तो मल सूखना और स्रोत खुले हों तो अतिसार, जब तिर्यग्गति करें तब पार्श्ववेदना और जब सन्धिमें जावे तब ज्वर उत्पन्न करते हैं। पीनस, श्वास, कास, असपीडा, शिरःशूल, स्वरभङ्ग, अरुचि, मल पतला या शुष्क होना, वमन, पार्श्ववेदना तथा ज्वर–इन ग्यारह लक्षणोंके समूहको **राजयक्ष्मा** कहते हैं[1] (वृ. वा.)।

एकीय मतसे शोषके भेद—

कई आचार्य अतिव्यवाय-मैथुन, अति शोक, वृद्धावस्था, अति व्यायाम, अति उपवास, व्रण और उर क्षतकी पीडा–इनसे शोष रोग होते हैं, ऐसा कहते हैं[2] (सु.)।

व्यवायशोषीके लक्षण—

जिस मनुष्यको अतिव्यवाय–स्त्रीगमनसे शोष हुआ हो वह रोगी शुक्रक्षयके लक्षणोंसे (देखें इसी ग्रन्थके पूर्वार्धमें पृ ६३–६४ पर) पीडित होता है, उसका शरीर पाण्डुवर्ण होता (फीका पड जाता) है और उसके शरीरमें पूर्व-पूर्व धातु (मज्जा–अस्थि-मेद-मांस-रक्त-रस-इस प्रकार-क्रमसे) धातुओंका प्रतिलोम क्षय होता है[3] (सु.)।

शोकशोषीके लक्षण—

धन–पुत्र आदिके नाश पर शोक करने वाले मनुष्य (शोकशोषी) को शुक्रक्षयके लक्षणोंके विना शरीर रक्ताल्पताके कारण फीका पड जाना, ध्यान–चिन्तामें मग्न रहना और शरीर शिथिल होना ये लक्षण होते हैं[4] (सु.)।

---

१ "पीनस-श्वास-कासांसमूर्धस्वररुजोऽरुचि । ऊर्ध्वं विड्भ्रंस-संशोषावधश्छर्दिस्तु कोष्ठगे ॥ तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे सन्धिगे भवति ज्वर । रूपाण्येकादशैतानि जायन्ते राजयक्ष्मिण ॥" (अ सं नि अ ५)। "तस्य च राजयक्ष्मिण ऊर्ध्वं गते दोषे पीनसादयो भवन्ति, अधोगते पुरीषस्य स्रंस शोषो वा, कोष्ठगे दोषे छर्दिर्भवति, तिर्यक्स्रोत सु स्थिते पार्श्वरुक् भवति, सन्धिगे ज्वरो भवति। तेनैतदुक्त–दोषकोपविशेषपरायत्ता शरीरे व्याप्ति, यथाव्याप्ति च रोगसंभव, सकलव्याप्तौ त्वेकादशरोगसमूह परिपूर्णो राजयक्ष्मा भवति। स्रोतसा रोधाद्विट्शोष, तेषां विवृतत्वात् स्रंस, तेन संख्यायामनयोरन्यतरस्य ग्रहण, युगपदसंभवात्। पीनस, श्वास, कास, अंसरुक्, मूर्धरुक्, स्वररुक्, अरुचि, विश स्रंस शोषो वा, छर्दि, पार्श्वरुक्, ज्वर –इत्येका-दशरोगसमूह क्षय।" (इन्दु)। २ "व्यवाय-शोक-स्थाविर्य-व्यायामाध्वोपवासत । व्रणोर क्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि ॥" (सु उ अ ४१)। ३ "व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुत । पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातव ॥" (सु उ अ ४१)। ४ "प्रध्यानशील स्रस्ताङ्ग शोकशोष्यपि तादृश.। विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरभिलक्षित ॥" (सु उ अ ४१)।

जराशोषीके लक्षण—

वृद्धावस्थाके कारण जिसको शोष हुआ है उस मनुष्य (जराशोषी) को शरीर कृश होना, वीर्य बुद्धि-बल और इन्द्रियोंकी शक्ति मन्द अल्प होना, स्वर-आवाज टूटे हुए कांस्य पात्रके समान होना, शरीरका भारीपन, बेचैनी, कफ निकालनेके लिए यत्न करने पर भी कफ न आना, शरीर कॉंपना, खाने पर रुचि न होना, मुँहसे लाला अधिक आना, नाकसे कफ आना, ऑंखोंमें कीचड होना, मल सूखना और शरीरकी कान्ति रूक्ष होना ये लक्षण होते हैं[1] (सु)।

अध्वशोषीके लक्षण—

जिसको अधिक पैदल चलनेसे शोष हुआ हो उस (अध्वशोषी) को शरीर शिथिल होना, शरीरकी कान्ति झुलसी सी और रूक्ष होना, शरीरके अवयव सुन्न से मालूम होना तथा क्लोम-गला और मुँह सूखना ये लक्षण होते हैं[2] (सु.)।

व्यायामशोषीके लक्षण—

जिसको अति व्यायाम-परिश्रम करनेसे शोष हुआ है उस (व्यायामशोषी) को बहुतसे लक्षण अध्वशोषीके समान होते है तथा क्षतके सिवाय अन्य उरःक्षतके लक्षणोंसे वह युक्त होता है[3] (सु.)।

व्रणशोषीके लक्षण—

रक्तक्षयसे, व्रणकी वेदनासे और आहारके नियन्त्रणसे व्रणवालेको जो शोष होता है वह असाध्य होता है[4] (सु.)।

उरःक्षतशोषीके लक्षण—

उरःक्षतके लक्षण इसी ग्रन्थमें पृ १३८ पर कहे गये हैं। उरःक्षतसे जो शोष (शरीरका सूखना) होता है उसको **उरःक्षतशोष** कहते है (सु.)।

उपसंहार—

कई आचार्योंके मतसे इस प्रकार कारणभेदसे सात प्रकारके शोष ऊपर कहे गये हैं।

---

१ "जराशोषी कृशो मन्दवीर्य-बुद्धि-बलेन्द्रिय । कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहत-स्वर(न) ॥ ष्ठीवति श्लेष्मणा हीन गौरवारतिपीडित । सप्रस्रुतास्य-नासाक्ष शुष्क-रूक्ष-मल-च्छवि ॥" (सु उ अ ४१) । "ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्महरणम् ।" (वि र)। २ "अध्वप्रशोषी स्रस्ताङ्ग सभृष्ट-परुषच्छवि । प्रसुप्तगात्रावयव शुष्कक्लोम-गलानन ॥" (सु उ अ ४१)। ३ "व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वित । उरःक्षतकृतैर्लिङ्गै सयुक्तश्च क्षताद्विना ॥" (सु उ अ ४१)। ४ "रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथै-वाहारयन्त्रणात् । व्रणितस्य भवेच्छोष स चासाध्यतम स्मृत ॥" (सु उ. अ ४१)।

परन्तु उनमें राजयक्ष्माके समान तीनों दोषोंके समस्त लक्षण नहीं देखनेमें आते हैं, अत उनको राजयक्ष्मा न कह कर **धातुक्षय** ही कहना चाहिए[१] (सु.)।

वक्तव्य-प्रथम उद्देश वाक्यमे उपवाससे शोष होनेका उल्लेख किया गया है, परन्तु विवरणमे उपवासशोषीका वर्णन वर्तमान संहितापाठमे नही मिलता है। **माधवकरने** उपवासजन्य शोष लिखा ही नही है[२]।

पीनसादि रोगों (रोगसमूहरूप राजयक्ष्मा) के उपद्रव—

कण्ठोध्वंस, छातीकी पीडा, जँभाई, अंगोकी पीडा, वार-वार थूकना, अग्निमान्द्य और मुँहसे दुर्गन्ध आना ये पीनसादि रोगोके (रोगसमूहरूप राजयक्ष्माके) उपद्रव हैं। राजयक्ष्मामे वातसे शिर शूल, पार्श्वशूल, असावमर्द, अङ्गमर्द, कण्ठोध्वंस और स्वरभङ्ग, पित्तसे पाद-मुख और हाथमे दाह, अतीसार, रक्तवमन, मुँहकी दुर्गन्ध, ज्वर और मद (नशा चढा सा रहना) तथा कफसे अरुचि, वमन, खाँसी, सिर और शरीरका भारीपन, लालास्राव, पीनस, श्वास, स्वरभङ्ग और अग्निमान्द्य ये उपद्रव होते हैं[३] (**वृ. वा.**)।

राजयक्ष्माके लक्षणरूपमें होनेवाले प्रतिश्यायका वर्णन—

जिस मनुष्यका सिर वायुसे आध्मात-भरा हुआ है उसके सिरमें जब घ्राण-नासिकाके मूलमें रहा हुआ कफ, रक्त या पित्त वायुके प्रति गमन करके वायुके साथ मिलते हैं तब देहको कृश करने वाला भयंकर प्रतिश्याय होता है। उस प्रतिश्यायमे सिरमे शूल-दर्द तथा भारीपन, घ्राणनाश (गन्धका ज्ञान न होना), ज्वर, खाँसी, कफ निकलना, स्वरभङ्ग, अरुचि, विना परिश्रम किये थकावट मालूम होना और इन्द्रियोंका असामर्थ्य ये लक्षण होते हैं। उसके अनन्तर राजयक्ष्मा होता है[४]।

---

१ "केषाञ्चिदेव शोषो हि कारणैर्भेदमागत । न तत्र दोषलिङ्गाना समस्ताना निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेया प्रत्येक धातुसञ्ज्ञिता ।" (सु उ अ ४१)। २ "व्यवाय-शोक-वार्धक्य-व्यायामाध्वप्रशोषितान्। व्रणोर क्षतसञ्ज्ञौ च शोषिणौ लक्षणै शृणु ॥" (मा नि अ १०)। ३ "तेषामुपद्रवान् विद्यात् कण्ठोध्वंसमुरोरुजम्। जृम्भाङ्गमर्द-निष्ठीव-वह्निसादास्य-पूतिता ॥ तत्र वाताच्छिर -पार्श्वशूलमसाङ्गमर्दनम्। कण्ठोध्वंस स्वरभ्रंश , पित्तात् पादास-पाणिषु। दाहोऽतिसारोऽसृक्छर्दिर्मुखगन्धो ज्वरो मद. ॥ कफादरोचकश्छर्दि कासो मूर्धाङ्गगौर-वम्। प्रसेक पीनस श्वास स्वरसादोऽल्पवह्निता ॥" (अ स. नि अ ५)। "तेषा पीनसादीना कण्ठोध्वंसादय उपद्रवा । रोगस्य पश्चादुत्पन्नो दु खानुबन्धी रोग उपद्रव ।" (**इन्दु**)। ४ "घ्राणमूले स्थित श्लेष्मा रुधिर पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरसो मारुत श्यायते प्रति ॥ प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्शन । तस्य रूप शिर शूल गौरव घ्राणविप्लव ॥ ज्वर कास कफोत्क्लेश स्वरभेदोऽरुचि क्लम । इन्द्रियाणामसामर्थ्य यक्ष्मा चात प्रवर्तते ॥" (च चि अ ८)। "मारुत प्रति श्याय कफादीना गमन यत्र स प्रतिश्याय । ×××। इह प्रतिश्यायो यक्ष्मणो रूपतयोच्यते। स पुन स्वतन्त्रोऽपि रोग । तथा च रोगाधिकारे "चत्वार प्रतिश्याया " (च सू अ २०) इति प्रतिपाद्य पश्चात्त्रिमर्मीयचिकित्सिते तथैव तस्य निदान-पूर्वकसम्प्राप्तिश्चिकित्सा च पृथग्वक्ष्यते। एवमिह वक्ष्यमाणा कासादयोऽपि विज्ञेया ।" (**यो.**)।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप कासका वर्णन—

राजयक्ष्माके लक्षणरूपमें जो कास होता है उसमें पिच्छिल-लुआवदार, गाढा, दुर्गन्धि तथा वर्णमे हरा-श्वेत या पीला कफयुक्त रस आता है[१]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप ज्वरका वर्णन—

अस-कंधे, पार्श्व, हाथ और पाँवका सताप-अधिक गरम रहना और सर्व शरीरमे सामान्य सताप रहना ये राजयक्ष्माके लक्षणरूपमे उत्पन्न ज्वरके लक्षण होते है[२]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप स्वरभेदका वर्णन—

वात, पित्त, कफ, रक्त, खाँसीका वेग और पीनस-जुकाम—इनसे राजयक्ष्मावालेको स्वर-भङ्ग होता है। वातसे जो स्वरभेद होता है उसमे स्वर रूक्ष, क्षीण और चल-अस्थिर, पित्तसे जो स्वरभंग होता है उसमें तालु और कण्ठमें दाह होता है और रोगी बोलना चाहता नहीं है, कफसे जो स्वरभंग होता है उससे स्वर फटा सा निकलता है और खुर-खुर आवाज आती है, रक्तसे स्वर अवसन्न-बैठा हुआ और रक्तके अवरोधसे कष्टसे स्वर आता है, कासके अतिवेगसे स्वर क्षीण हो जाता है तथा पीनससे स्वर कफ और वातके लक्षणयुक्त होता है[३]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप पार्श्वशूलका वर्णन—

राजयक्ष्मासे जो पार्श्वमें शूल होता है उसमे अनियत रूपसे कभी पार्श्व सकुचित और कभी विस्तृत होता सा मालूम होता है, कभी बॉये पार्श्वमे तो कभी दाहिने पार्श्वमे शूल होता है और कभी शूल नहीं भी होता है[४]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप शिर शूलका वर्णन—

राजयक्ष्मासे जो शिर शूल होता है उसमे सिरमे सताप और भारीपनके साथ दर्द होता है[५]।

---

१ "पिच्छिल वहल विस्र हरित श्वेत-पीतकम्। कासमानो रस यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम्॥" (च चि अ ८)। २ "अस-पार्श्वाभितापश्च सताप कर-पादयो। ज्वर सर्वाङ्गगश्चेति लक्षण राजयक्ष्मण॥" (च चि अ ८)। ३ "वातात् पित्तात् कफाद्रक्तात् कासवेगात् सपीनसात्। स्वरभेदो भवेद्वाताद्रूक्ष क्षामश्चल स्वर॥ तालु-कण्ठपरिप्लोष पित्ताद्वक्तुमसूयते। कफाद्भेदो विनद्धश्च स्वर खुर-खुरायते॥ सन्नो रक्तविबद्धत्वात् स्वर कृच्छ्रात् प्रवर्तते। कासातिवेगात् करुण पीनसात् कफ-वातिक॥" (च चि अ ८)। "पित्तात् स्वरभेदे तालुन कण्ठस्य च परिप्लोष दाह। वक्तुमसूयते नेच्छति। ××। करुणः क्षीणः। कफवातिक कफ-वातलिङ्गयुक्त।" (यो)। ४ "पार्श्वशूल त्वनियत सैंकोचायाम-लक्षणम्।" (च चि अ ८)। ५ "शिर शूल ससताप यक्ष्मिण स्यात् सगौरवम्।" (च चि. अ. ८)।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप कण्ठसे कफ और रक्त आनेका वर्णन—

राजयक्ष्मावालेको विषमाशनसे शरीर अति खिन्न होने पर रक्त तथा सञ्चित और उत्क्लिष्ट कफ कण्ठसे वाहर आता है। स्रोतोंके अवरोधके कारण रक्त मांसादिका पोषण नहीं करता है, किन्तु आमाशयसे उत्क्लिष्ट होकर (ऊपर आकर) कण्ठमें आता है (और कण्ठसे खाँसी या उलटीके रूपमें वाहर आता है)[१]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप श्वासका वर्णन—

छातीमें कफके द्वारा वायु अवरुद्ध होनेके कारण राजयक्ष्मावालेको श्वास होता है[२]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप अतिसारका वर्णन—

वातादि दोषोंद्वारा जठराग्नि उपहत-मन्द होने पर राजयक्ष्मावालेको पिच्छा-आँवयुक्त पतले दस्त होते हैं[३]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप अरुचिका वर्णन—

जिह्वा और हृदयमें रहे हुए दोषोंसे राजयक्ष्मावालेको पृथक्-एक-एक दोष, सन्निपात और मनको अप्रिय ऐसे विषयोंसे आहार पर अरुचि उत्पन्न होती है। मुँहका स्वाद वातिक अरुचिमें कषाय, पैत्तिकमें तिक्त और श्लैष्मिकमें मधुर होता है तथा मानसिक अरुचिमें रोगीको स्वादिष्ट अन्नमें भी दोष दिखते हैं[४]।

राजयक्ष्माके लक्षणरूप छर्दिका वर्णन—

अरुचि, खाँसीका वेग, कफादि दोषोंका उत्क्लेश और भयसे राजयक्ष्मामें तथा अन्य रोगोंमें भी लक्षण या उपद्रवरूप छर्दि-उलटी होती है[५]।

राजयक्ष्माके साध्यासाध्यताके लक्षण—

जिस राजयक्ष्मावालेका वल (शरीरसामर्थ्य और रोगप्रतिवन्धक शक्ति)-मांस और रक्त क्षीण नहीं हुआ हो, जो स्वाभाविक वलयुक्त हो तथा अरिष्ट (नियत मरणसूचक) लक्षण उत्पन्न न हुए हों तो वह मनुष्य सव (एकादश) शोष लक्षणोंसे युक्त होने पर भी साध्य होता है। जो मनुष्य वलवान् और उपचित (भरे हुए शरीर और धातुओं-

---

१ "अतिखिन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्। कण्ठात् प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्ट-सञ्चितः॥ रक्तं विवद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नोपपद्यते। आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं वहुत्वात् कण्ठमेति च॥" (च चि अ ८)। २ "वातश्लेष्मविवद्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति।" (च चि अ ८)। ३ "दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते।" (च चि. अ ८)। ४ "पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वा-हृदयसंश्रितैः। जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसैः॥ कषाय-तिक्त-मधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात्। वाताद्यैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात्॥" (च चि अ ८) ५ "अरोचकात् कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि। छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः॥ सर्वलिङ्गोपजो यक्ष्मा दोषाणां तु वलावलम्। परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत्॥" (च चि. अ ८)।

वाला) हो वह व्याधि और औषधके बलको सहन कर सकता है, अत बहुत लक्षणो-वाला हो तो भी उसको अल्प लक्षणवालेके समान साध्य मानना चाहिए। जो राजयक्ष्मा वाला दुर्बल और अति क्षीण बल-मास और रक्तवाला हो वह अल्प लक्षणवाला और अनुत्पन्न अरिष्ट लक्षणवाला होने पर भी उसको बहु लक्षणवाले और उत्पन्न अरिष्ट लक्षणवालेके समान असाध्य जानना चाहिए, क्यो कि वह व्याधि और औषधके बलको सहन नहीं कर सकता है। ऐसे रोगीको असाध्य मानकर उसकी चिकित्सा नही करनी चाहिए। क्योंकि विना विशेष कारणके क्षणमे ही अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जाते है। सपूर्ण लक्षणवाले राजयक्ष्मामे खॉसी, असताप (शरीरके अन्य अगोकी अपेक्षया अस-कंधे और बगल-का अधिक गरम रहना), स्वर (आवाज) विकृत होना, ज्वर, पार्श्वशूल, शिर शूल, कफ और रक्तका वमन होना, श्वास, अतिसार और अरुचि ये ग्यारह लक्षण होते है, अर्धलक्षणवाले राजयक्ष्मामे कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वरभङ्ग, अति-सार और अरुचि ये छ लक्षण होते हैं, और अल्प लक्षणवाले राजयक्ष्मामे खासी, श्वास और खॉसीमे कफके साथ रक्त आना ये तीन लक्षण होते हैं। यदि रोगीके मास और बलका क्षय हुआ हो तो ग्यारह, छ या तीन लक्षणयुक्त राजयक्ष्मावाला असाध्य होता है, परन्तु यदि रोगीका बल और मास क्षीण नही हुआ हो तो सर्व (एकादश) लक्षणयुक्त भी साध्य होता है। जो राजयक्ष्मावाला बहुत खाने पर भी क्षीण होता (सूखता) जाता हो, अतिसार, अण्डकोश और पेट पर शोथ, रक्ताल्पताके कारण नेत्र सफेद पड जाना, अन्नद्वेष-अरुचि, ऊर्ध्वश्वास तथा कष्टसे और अधिक मल आना इन लक्षणोसे पीडित हो वह असाध्य होता है। जो राजयक्ष्मावाला अल्प लक्षणवाला, प्रदीप्त जठराग्नि-वाला और बलवान् हो तथा रोग नया उत्पन्न हुआ हो तो वह साध्य होता है। एक वर्षके ऊपरका क्षय याप्य होता है। सर्व लक्षणयुक्त क्षय असाध्य होता है[1]।

---

१ "तत्रापरिक्षीणबल-मास-शोणितो बलवानजातारिष्ट सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुत साध्यो ज्ञेय, बलवानुपचितो हि सहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य काम सुबहुलिङ्गोऽपि स्वल्पलिङ्ग एव मन्तव्य। दुर्बल त्वतिक्षीण-बल-मास-शोणितमल्पलिङ्गमजारिताष्टमपि बहुलिङ्ग जातारिष्ट च विद्यात्, असहत्वा-द्व्याध्यौषधबलस्य, त परिवर्जयेत्। क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति।" (च नि अ ६)। "अपरिक्षीणबलाभिधानेऽपि बलवानिति पद सहजबलयुक्तत्वोप-दर्शनार्थ, सहजबलो ह्युपक्षीणबलोऽप्यक्षीणबलवद्भवतीति भाव। सहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्येति यस्मा-द्बलवान् व्याधिबल तथौषधबल च सहते, तेन न ताभ्यामभिभूयत इत्यर्थ। अल्पलिङ्ग एवेति अल्पलिङ्ग इव सुखसाध्य इत्यर्थ।" (च द)। "कासोऽसतापो वैस्वर्य ज्वर पार्श्व-शिरोरुजा। छर्दन रक्त-कफयो श्वास-वर्चोगदोऽरुचि॥ रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मण षडिमानि वा। कासो ज्वर पार्श्वशूल स्वर वर्चोगदोऽरुचि॥ सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांस-बलक्षये। युक्तो वर्ज्य-श्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा।" (च चि अ ८)। "स्वरभेदोऽनिलाच्छूल सकोचश्चास-पार्श्वयो। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागम॥ शिरस परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।

हृद्रोगाधिकार ।

हृद्रोगके सामान्य हेतु और सप्राप्ति—

व्यायाम (अधिक परिश्रम), तीक्ष्ण तथा अति प्रमाणमें लिये हुए विरेचन और वस्ति, चिन्ता, भय, त्रास, अन्य रोगोंका सम्यक् उपचार न होना, वमन, आमदोष, मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकना, शरीरको क्लेश करनेवाले लङ्घनादि, उष्ण और रूक्ष अन्नका अतिमात्र सेवन, सयोग-मात्रा आदिसे परस्पर विरुद्ध पदार्थोंका सेवन, अध्यशन, अजीर्ण, असात्म्य-कषाय और तिक्त अन्न, अति उष्ण और गुरु पदार्थोंका सेवन तथा अभिघात-इन हेतुओंसे प्रकुपित दोष रस धातुको प्रदूषित कर तथा हृदयमें प्राप्त होकर हृदयमें बाधा-पीडा उत्पन्न करते हैं, उसको **हृद्रोग** कहते हैं। हृद्रोग पाँच प्रकारका होता है। गुल्मके जो कारण कहे गये हैं (देखें इसी ग्रन्थमें पृ ७४) उनके सेवनसे हृद्रोग होता है[1] (**वृ. वा.**)।

वातिक हृद्रोगके हेतु और लक्षण—

शोक, उपवास, व्यायाम तथा रूक्ष-शुष्क और अल्प भोजन-इन कारणोंसे वायु प्रकुपित तथा हृदयमें प्राप्त होकर हृद्रोग करता है। वातिक हृद्रोगमें कम्प, हृदयमें वेष्टन-रस्सी आदिसे लपेटने जैसी पीडा, स्तब्धता, मूर्च्छा, हृदय शून्य सा मालूम होना, हृदयमें धड़कन, भेदन जैसी पीडा, शोषण जैसी पीडा, खींचने जैसी पीड़ा, सूई चुभने जैसी पीडा, डंडेसे मथने जैसी पीडा, हृदयके दो टुकड़े करने सी पीडा, फोड़ने जैसी पीडा,

---

क्षत कण्ठस्य चोद्ध्वसो विज्ञेय कफकोपत ॥ एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् । कासातीसार-पार्श्वार्ति-स्वरभेदारुचि-ज्वरै । त्रिभिर्वा पीडित लिङ्गैर्ज्वर-कासासृगामयै । जह्याच्छोषार्दित जन्तुमिच्छन् सुविपुल यश ॥" (सु उ अ ४१)। "जह्यादिति त्यजेत्, पर वह्नौ मन्दे बल-मांसक्षये च सतीति वोद्धव्यम् ।" (ड) । "शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् । कृच्छ्रेण बहु मेहन्त यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥" (सु सू अ ३३)। "महाशन क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् । शूनमुष्कोदर चैव यक्ष्मिण परिवर्जयेत् ॥" (मा नि अ १०)। "अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्ने साध्यो बलवतो नव । परिसवत्सरो याप्य सर्वलिङ्ग तु वर्जयेत् ॥" (मा नि अ १०)।

१ "व्यायाम तीक्ष्णातिविरकवस्ति-चिन्ता-भय-त्रास-गदातिचारा । छर्द्यामसधारण-कर्शनानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघात ।" (च चि अ २६) । "वेगाघातोष्णरूक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितै । विरुद्धाध्यशनाजीर्णरसात्म्यैश्चापि भोजनै ॥ दूषयित्वा रस दोषा विगुणा हृदय गता । कुर्वन्ति हृदये बाधा हृद्रोग त प्रचक्षते ॥" (सु उ अ ४३)। "अत्युष्णगुर्वन्न-कषाय-तिक्त-श्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गै । सचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामय पञ्चविध प्रदिष्ट ॥" (मा नि अ २९)। "स्मृता पञ्च हृदामया । तेषा गुल्मनिदानोक्तै समुत्थानैश्च सभव ।" (अ स. नि अ. ५)।

कुल्हाड़ीसे मारने जैसी पीडा तथा अकस्मात् दीनता-ग्लानि, शोक, भय, शब्द सहन न होना, श्वास रुकना और नींद कम आना ये लक्षण होते हैं[१]।

पैत्तिक हृद्रोगके हेतु और लक्षण—

उष्ण-अम्ल-लवण क्षार-चरपरे और अध कचे-पके पदार्थोंका भोजन, मद्य, क्रोध और धूप–इन कारणोंसे हृदयमें पित्तका प्रकोप होकर हृद्रोग उत्पन्न होता है। पैत्तिक हृद्रोगमे हृदयमे जलन, मुँह कडुआ-तीता रहना, तीता और खट्टा वमन होना, विना परिश्रमके थकावट, आँखोंके सामने अंधेरा दिखना, भीतरसे दाह, मूर्च्छा, त्रास, उष्णता, ज्वर, मूत्र-मल-नेत्र-चेहरा और त्वचाका पीलापन, तृषा, हृदयमें चूसने सी वेदना, हृदयकी थकावट, हृदयसे धुआ उठता हो ऐसी प्रतीति, पसीना आना, मुँह सूखना, चक्कर आना, खट्टी डकारें आना और खट्टे पित्तका वमन होना ये लक्षण होते हैं[२]।

श्लैष्मिक हृद्रोगके हेतु और लक्षण—

अति भोजन, गुरु और स्निग्ध पदार्थोंका भोजन, चिन्ता न करना, चेष्टा (परिश्रम) न करना और अधिक नींद लेना ये कफहृद्रोगके कारण है। कफहृद्रोगमे हृदय सुप्त-सुन्न सा, जकडा सा, भारी तथा छातीके ऊपर पत्थर रखा हो ऐसा प्रतीत होता है, रोगीको तन्द्रा, अरुचि, मुँहसे लालास्राव, ज्वर, खाँसी, अग्निमान्द्य, मुँह मीठा रहना, नींद अधिक आना और आलस्य रहना ये लक्षण होते हैं[३]।

---

१ "शोकोपवास-व्यायाम-रूक्षशुष्काल्पभोजनै । वायुराविश्य हृदय जनयत्युत्तमा रुजम् ॥ वेपथुर्वेष्टन स्तम्भ. प्रमोह शून्यता द्रव । हृदि वातातुरे रूप जीर्णे चात्यर्थवेदना ॥" (च सू, अ १७) । "द्रव. द्रुतत्वम् ।" (यो.)। "हृच्छून्यभाव-द्रव-शोष-भेद स्तम्भा समोहा पवनाद्विशेष ।" (च चि अ २६)। "आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा । निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥" (सु उ अ ४३) । "आयम्यते दीर्घीक्रियत इव । तुद्यते प्रतोदेन व्यथ्यत इव । दीर्यते आरयेव । पाट्यते द्विधा क्रियत इव ।" (ड) । "वातेन शूल्यतेऽत्यर्थं तुद्यते स्फुटतीव च । भिद्यते शुष्यति स्तब्ध हृदय शून्यता द्रव ॥ अकस्माद्दीनता शोको भय शब्दासहिष्णुता । वेपथुर्वेष्टन मोह श्वासरोधोऽल्पनिद्रता ॥" (अ स नि अ. ५)।

२ "उष्णाम्ल लवण-क्षार-कटुकाजीर्णभोजनै । मद्य क्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्त प्रकुप्यति ॥ हृद्दाह-स्तिक्तता वक्त्रे तिक्ताम्लोद्गिरण क्लम ॥ तृष्णा मूर्च्छा भ्रम स्वेद पित्तहृद्रोगलक्षणम् ॥" (च सू अ १७)। पित्तात्तमो-दूयन दाह-मोहा॰ सत्रास-ताप-ज्वर-पीनभावा ।" (च चि अ २६)। "तृष्णोषा-दाह-चोषा. स्यु पैत्तिके हृदयक्लम॰ । धूमायन च मूर्च्छा च स्वेद. शोषो मुखस्य च ॥" (सु उ अ ४३)। "पित्तात्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा दाह स्वेदोऽम्लक. क्लम । छर्दन चाम्लपित्तस्य धूमक पीतता ज्वर. ॥" (अ स नि अ ५)।

३ "अत्यादान गुरु-स्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम् । निद्रासुख चाप्यधिक कफहृद्रोगकारणम् ॥ हृदय कफहृद्रोगे सुप्त स्तिमित-भारिकम् । तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृत यथा ॥" (च सू अ १७)। "स्तब्ध

त्रिदोषज हृद्रोगके लक्षण—

ऊपर लिखे हुए तीनों दोषोंके हेतुओंका सेवन और तीनो दोषोंके लक्षण एकत्र देख कर सान्निपातिक हृद्रोग जानना चाहिए[1]।

कृमिज हृद्रोगके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

त्रिदोषज हृद्रोगमें जो दुरात्मा-अजितेन्द्रिय मनुष्य तिल-दूध-गुड आदि कृमिकर पदार्थ खाता है उसके मर्म (हृदय) के एक देशमें ग्रन्थि उत्पन्न होता है और वहाँ रस धातुका सक्लेद-सडना होता है तथा सक्लेदसे वहाँ क्रिमि उत्पन्न होते हैं। हृदयके एक देशमें उत्पन्न क्रिमि हृदयमें फैलते हुए हृदयको भक्षण करते हैं। कृमिज हृद्रोगवाला मनुष्य हृदयमें सूई चुभती हो, हृदयको कोई काटता हो और हृदयमें खुजली-कण्डू चलती हो ऐसी वेदनाका अनुभव करता है (च.)। कृमिज हृद्रोगमें नेत्र श्याव वर्णके होना, खाँसी, अरुचि, अग्निमान्द्य, नींद अधिक आना, आलस्य, ज्वर, अंधेरेमें प्रवेश करता हो ऐसा मालूम होना तथा रोगीको जी मिचलाना, हृदय सूखता सा मालूम होना, मुँहसे लालाका स्राव होना और हृदयको करौतसे कोई काटता हो ऐसी वेदनाका अनुभव होना ये लक्षण होते हैं[2]।

हृद्रोगके उपद्रव—

हृद्रोगमें चक्कर आना, विना परिश्रमके थकावट, अंगोंकी शिथिलता तथा मुँह सूखना ये उपद्रव होते हैं। कृमिज हृद्रोगमें श्लैष्मिक कृमि रोगमें जो उपद्रव होते हैं वे होते हैं[3]।

उरोगतरोगविज्ञानीयाध्याय-तृतीय समाप्त ॥

गुरु स्यात् स्तिमित च मर्म कफात् प्रसेक-ज्वर-कास-तन्द्रा ।" (च चि अ २६)। "गौरव कफसंस्रावोऽरुचि स्तम्भोऽग्निमार्दवम्। माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥" (सु उ अ ४३)। "श्लेष्मणा हृदय स्तब्ध भारिक साश्मगर्भवत्। कासाग्निसाद-निष्ठीव-निद्रालस्यारुचि-ज्वरा ॥" (अ स नि अ ४)।

१ "हेतु-लक्षणससर्गादुच्यते सान्निपातिक ।" (च सू अ १७)। "विद्यात्त्रिदोष त्वपि सर्वलिङ्गम्" (च चि अ २६)। २ "त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिल-क्षीर-गुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे सक्लेद रसश्चास्योपगच्छति। सक्लेदात् कृमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मन ॥ मर्मैकदेशे ते जाता सर्पन्तो भक्षयन्ति च। तुद्यमान स हृदय सूचीभिरिव मन्यते ॥ छिद्यमान यथा शस्त्रैर्जातकण्डू महारुजम्। हृद्रोग क्रिमिज त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम् ॥ त्वरेत जेतु त विद्वान् विकार शीघ्रकारिणम् ॥" (च सू अ १७)। "तीव्रार्तितोद कृमिज सकण्डूम्।" (च चि अ २६)। "उत्क्लेश ष्ठीवन तोद शूलो हृल्लासकस्तम । अरुचि. श्यावनेत्रत्व शोपश्च कृमिजे भवेत्।" (सु. उ अ ४३)। "कृमिभि श्यावनेत्रता। कासाग्निसाद-निष्ठीव-निद्रालस्यारुचि-ज्वरा ॥" (अ स नि अ ५)। ३ "भ्रम-क्लमौ साद-शोषौ ज्ञेयास्तेषामुपद्रवा । कृमिजे कृमिजातीना श्लैष्मिकाणा च ये मता ॥" (सु उ त अ ४३)।

रक्तपित्तनिदानाध्याय—चतुर्थ।

रक्तपित्तके हेतु और संप्राप्ति—

जब मनुष्य यवक (व्रीहिधान्यविशेष)-कोदों और जगली कोदों प्राय अन्न तथा अति उष्ण (स्पर्शवाला) और राई आदिके योगसे अति तीक्ष्ण ऐसे अन्न सेमके बीज-उडद और कुलथीकी क्षारयुक्त दालके साथ, अथवा दही-दहीका मंड (पानी)-छाछ-खट्टी छाछ और खट्टी काजीके साथ, अथवा सुअर-भैस-भेड-मछली और गायके मासके साथ अथवा खली-पिण्डालु और सूखे शाकके खाता है, अथवा मूली-सरसोंकी पत्ती-लहसुन-करज-कडुआ सहिंजना-मीठा सहिजना-भूस्तृण ( ) सुमुख-तुलसी-कुठेरक ( ) गण्डीर ( )-कालमालक ( )-पर्णास ( ) क्षवक ( ) और फणिज्झक ( ) इनके उपदंश (अन्नके साथ दॉतोंसे तोडकर जो हरितक वर्गके मूली आदि शाक खाये जाते हैं उनको **उपदंश** कहते हैं) के साथ खाता है, अथवा मॅदेसे बने हुए पदार्थ अधिक खाकर ऊपरसे सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मधूलक-शुक्त-और वदराम्ल-इनका अनुपान करता है, अथवा गरमीसे तप्त होकर अति पात्रामें या वार-वार कच्चा दूध पीता है, दूधके साथ रोहिणी (कुटकी)का शाक खाता है, सरसोंका तेल और क्षारके साथ पकाया हुआ जगली कपोतका मास खाता है, अथवा गरमीसे तप्त होकर कुलथी उड़द-खली-जामुन-बड़हल या शुक्त(सिरके)से वनाये हुए अचार आदिके साथ दूध पीता है, धूपसे सतप्त होता है, तथा अन्नका विदाह होता है तब इन कारणोंसे उसके शरीरमें पित्तका प्रकोप होता है और रक्त शीघ्र अपने प्रमाणसे वढता (जोश खाता-उमडता) है। उस वढे हुए रक्तके साथ पूर्वोक्त कारणोंसे प्रकुपित पित्त शरीरमें फैलता (रक्तके साथ सचार करता) हुआ जब यकृत् और प्लीहासे उत्पन्न और रक्तके अभिष्यन्दसे गुरु ऐसे रक्तवह स्रोतोंके मुखमें आता है तब रक्तको दूपित करके रक्तयोनि (रक्त जिसका कारण है ऐसा—रक्तका मलरूप) होनेसे रक्तको वढाता है तथा पित्तके उष्मा गरमीसे मासादि धातु भी खिन्न होनेसे उनका द्रवाश उनसे वाहर आकर रक्तको और भी वटाता है। इस प्रकार वढे हुए रक्तसे मिला हुआ पित्त शरीरके छिद्रों द्वारा वाहर आता है। इस व्याधिको **रक्तपित्त** कहते हैं (च.)। क्रोध-शोक-भय-परिश्रम-विरुद्ध आहार-धूप-अग्निसताप तथा चरपरे-अम्ल-लवण-क्षार-तीक्ष्ण पदार्थ-उष्ण द्रव्य और विदाहि पदार्थ-इनका नित्य अभ्यास-सेवन करनेसे रस धातु दुष्ट होकर पित्तका प्रकोप (वृद्धि) करता है। अनन्तर वह विदग्ध-वढा हुआ पित्त अपने उष्ण-तीक्ष्ण-सर आदि गुणोंसे रक्तको भी विदग्ध करता-वढाता है। इस प्रकार विदग्ध (जोश खाया-उमड़ा हुआ) रक्तमिश्रित पित्त ऊपर-नीचे या दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त होता-वाहर आता है (सु.)। अति उष्ण-तीक्ष्ण-चरपरे-अम्ल-लवण आदि विदाही पदार्थोंसे युक्त कोदों-जगली कोदों तथा अन्य पित्तकारक पदार्थोंके अतिसेवनसे वढ़े हुए द्रव पित्त और रक्त मिल कर-एकरूप

होकर समग्र शरीरमें व्याप्त होते हैं और प्रमाणमें वढे होनेके कारण शरीरके मुख-नासा-आदि छिद्रो द्वारा वाहर आते हैं (वृ. वा.)।

रक्तपित्तके पूर्वरूप—

अन्न खानेकी इच्छा न होना (अरुचि), खाये हुए अन्नका विदाह (अम्ल पाक) होना, शुक्त-सिरकेके समान अम्ल रस और गन्धवाली डकारे आना, वार-वार उलटी होना, उलटी होने पर रोगी वीभत्स दिखना, स्वरभंग, अवयवोंकी शिथिलता, जलन, मुँह और

---

१ "पित्त यथाभूत लोहितपित्तमिति सज्ञा लभते तद् व्याख्यास्याम —यदा जन्तुर्यवकोद्दालक-कोरदूषप्रायाण्यन्नानि भुक्ते, भृशोष्ण-तीक्ष्णमपि चान्यदन्नजात निष्पाव-माष-कुलत्थसूप-क्षारोप-सहित, दधि-दधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकोपहित वा, वाराह-माहिषाविक-मात्स्य-गव्यपिशित-पिण्याक-पिण्डालु-शुष्कशाकोपहित, मूलक-सर्षप-लशुन-करञ्ज-शिग्रु-मधुशिग्रु-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेरक-गण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्झकोपदश, सुरा-सौवीर-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मधू-लक-शुक्त-कुवलवदराम्लप्रायानुपान वा पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठम्, उष्णाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेल वाऽऽम पय पिवति, पयसा समश्नाति रोहिणीशाक, काणकपोत वा सर्षपतैल-क्षारसिद्ध, कुलत्थ-पिण्याक-जाम्बव-लकुचपक्वै शौक्तिकैर्वा सह क्षीर पिवत्युष्णाभितप्त.; तस्यैवमाचरत. पित्त प्रकोपमापद्यते, लोहित चाशु प्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्त प्रकुपित शरीरमनु-सर्पदेव यकृत्प्लीहप्रभवाना लोहितवहाना स्रोतसा लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रति-पद्यते तदेव लोहित दूषयति, तल्लोहितसंसर्गाल्लोहितगन्ध-वर्णानुविधानाच्च पित्त लोहितपित्तमित्या-चक्षते।" (च नि अ २)। "तस्योष्ण तीक्ष्णमम्ल च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदा-हश्च हेतु पूर्वं निदर्शित ॥ तैर्हेतुभि. समुत्क्लिष्ट पित्त रक्त प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्न च वर्धते तत् प्रदूषयत् ॥ तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातो. प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन सवृद्धिं भूयस्तदधि-गच्छति ॥ सयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्ध-वर्णयो.। रक्तस्य पित्तमाख्यात रक्तपित्त मनीषिभि॰ ॥ प्लीहान च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतासि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥" (च चि अ ४)। "तद्योनित्वादिति तद्रक्त योनि उत्पत्तौ कारण यस्य पित्तस्य तत् तद्योनि; तथा च—असृज पित्तमिति" (च चि अ १५)। × × ×। तस्य पित्तस्य ऊष्मणा स्विद्यत स्विन्नीभवत धातो धातो॰ प्रतिधातु मासादिभ्यो धातुभ्यो द्रवो धातु द्रवरूपोऽश. प्रसिच्यते क्षरति। तत् पित्त रक्तससर्गात् प्रवृद्ध पुन तेन धातुभ्य. क्षरता द्रवाशेन भूयोऽधिकतर सवृद्धिमधिगच्छति प्राप्नोति ॥" (यो.)। "क्रोध-शोक-भयायास-विरुद्धान्नातपा-नलात्। कट्वम्ल-लवण-क्षार-तीक्ष्णोष्णातिविदाहिन. ॥ नित्यमभ्यसतो दुष्टो रस पित्त प्रकोपयेत्। विदग्ध स्वगुणै पित्त विदहत्याशु शोणितम् ॥ तत. प्रवर्तते रक्तमूर्ध्व चाधो द्विधाऽपि वा।" (सु उ अ ४५)। "भृशोष्ण-तीक्ष्ण-कट्वम्ल-लवणातिविदाहिभि। कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्त-द्युक्तैरतिसेवितै ॥ कुपित पित्तलै॰ पित्त द्रव रक्त च मूर्च्छते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम् ॥" (अ स. नि अ ३)।

कण्ठमे धुआँ उठता हो ऐसा मालूम होना, मुँहसे लोहा-रक्त और आम (कच्चे मास) और मच्छीके समान गन्ध आना, निःश्वासमे लोहेके समान गन्ध आना, शरीरके अवयव-मल-मूत्र-पसीना-लाला-नाकसे आनेवाला कफ (मल)-मुँहका मैल-कानका मैल-नेत्रका मैल-और फुन्सियाँ-इनका रग लाल-हरा या हल्दी सा होना, शरीरमे पीडा, शीतकी इच्छा रहना, स्वप्नमे लाल-काले-पीले-श्याव वर्णके-जलतेसे और दुष्ट रूपोका देखना, सिरका भारीपन, खाँसी, श्वास, चक्कर आना तथा विना परिश्रमके थकावट मालूम होना ये रक्तपित्तके पूर्वरूप हैं[1]।

इस रोगको रक्तपित्त नाम देनेका हेतु—

इन रोगमे पित्त रक्तके साथ सयुक्त होता है, रक्तको दूषित करता है तथा पित्तका वर्ण और गन्ध रक्तके समान हो जाता है, इस लिए इस व्याधिको **रक्तपित्त** कहते हैं[2]।

रक्तपित्तका उत्पत्तिस्थान—

शरीरमे यकृत् और प्लीहा ये दोनो रक्तकी उत्पत्तिके स्थान हैं और रक्तवाही स्रोतोके मूल हैं, अत यकृत् और प्लीहाको आश्रय करके वहाँसे रक्तपित्तकी प्रवृत्ति होती है (च.)। ऊर्ध्वग रक्तपित्तकी प्रवृत्ति आमाशयसे होती है, अधोग रक्तपित्तकी प्रवृत्ति पित्ताशयसे होती है तथा उभयग (द्विमार्गप्रवृत्त) रक्तपित्तकी प्रवृत्ति आमाशय और पक्काशय दोनोंमे होती है। कई आचार्य (अग्निवेशादि) कहते है कि-यकृत् और प्लीहासे रक्तपित्तकी प्रवृत्ति होती हैं[3] (सु.)।

---

१ "तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—अनन्नाभिलाष, भुक्तस्य विदाह, शुक्ताम्लगन्ध-रस उद्गार, छर्देरभीक्ष्णमागमन, छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेद, गात्राणा सदन, परिदाह, मुखाद्धूमागम इव, लोह-लोहित-मत्स्यामगन्धित्वमिव चास्यस्य, रक्त-हरित-हारिद्रत्वमङ्गावयव-शकृन्मूत्र-स्वेद-लाला-सिंघाणकास्य-कर्णमल-पिचडिका-पिडकानाम्, अङ्गवेदना, लोहित-नील-पीत-श्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणा स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति।" (च नि अ. २)। "सदन शीतकामित्व कण्ठधूमायन वमि। लोहगन्धिश्च नि श्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति॥" (सु उ अ ४५)। "शिरोगुरुत्वमरुचि शीतेच्छा धूमकोऽम्लक। छर्दिश्छर्दितवैभत्स्य कास श्वासो भ्रम क्लम॥ लोह-लोहित-मत्स्यामगन्धास्यत्व स्वरक्षय। रक्त हारिद्र-हरितवर्णता नयनादिषु॥ नील-लोहित-पीताना वर्णनामविवेचनम्। स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्व भवत्यस्मिन् भविष्यति॥" (अ स. नि. अ. ३)। २ "सयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्ध-वर्णयो.। रक्तस्य पित्तमाख्यात रक्तपित्त मनीषिभि॥" (च चि अ ४)। "तल्लोहितसयोगाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्ध-वर्णानुविधानाच्च पित्त लोहितपित्तमित्याचक्षते।" (च नि अ २)। "रक्तसयुक्त, रक्तदूषित, रक्तगन्धि, रक्तवर्णं वा पित्त रक्तपित्तमिति शाकपार्थिवादिवत् समास।" (यो)। ३ "प्लीहान च यकृच्चैव तदधिष्ठाय जायते। स्रोतासि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्॥" (च चि अ ४)। "आमाशयाद्व्रजेदूर्ध्वमध पक्काशयाद्व्रजेत्। विदग्धयोर्द्वयोश्चापि द्विधामार्गं प्रवर्तते॥ केचित् सयकृत-प्लीह्न प्रवदन्त्यसृजो गतिम्।" (सु उ, अ ४५)।

दोषभेदसे रक्तपित्तके लक्षण—

जो रक्तपित्त गाढ़ा, कुछ पाण्डुवर्ण (फीके लाल रंगका), कुछ स्निग्ध और पिच्छिल (लुआवदार) हो उसको **श्लैष्मिक**; जो श्याव या अरुण वर्णका, फेनयुक्त, पतला और रूक्ष (स्नेहरहित) हो उसको **वातिक**; तथा वड आदिकी छालके काढेके रंगका, काला, गोमूत्रसमान वर्णका, पालिश किये हुए कृष्ण मणिके रंगका, गृहधूमके रंगका या काले सुरमेके रंगका हो उसको **पैत्तिक** जानना चाहिए। जिस रक्तपित्तमें दो-दो दोषोंके मिले हुए लक्षण पाये जायें उसको **द्वन्द्वज** और जिसमें तीनों दोषोके लक्षण एकत्र मिलें उसको **सान्निपातिक** जानना चाहिए[1]।

रक्तपित्तकी प्रवृत्तिके मार्ग—

रक्तपित्तकी प्रवृत्तिके दो मार्ग हैं—**ऊर्ध्वमार्ग** और **अधोमार्ग**। रक्तपित्त कफकी अधिकतावाले शरीरमे कफके सवन्धसे उपरकी ओर गति करके दो कान, दो नासिकाएँ, दो नेत्र और मुँह इस प्रकार सात द्वारोंसे प्रवृत्त होता है, तथा वातकी अधिकता वाले शरीरमें वातके ससर्गसे नीचेकी ओर गति करके मूत्रमार्ग-शिश्नसे (तथा स्त्रियोंके शरीरमे योनिमार्गसे) और मलमार्ग (गुदा) से प्रवृत्त होता है। कफ और वात दोनोकी अधिकता वाले शरीरमे दोनों मार्गोंकी ओर गति करके ऊपर कहे हुए सब छिद्रो द्वारा प्रवृत्त होता है। जब रक्तपित्त अति प्रकुपित होता है तब ऊपर कहे हुए सर्व (नौ) छिद्रोंसे तथा रोमकूपोंसे रक्तपित्तकी प्रवृत्ति होती है, तब उसको **असंख्येय** गति कहते हैं। असख्येय गति असाध्य होती है[2]।

---

१ "सान्द्र सपाण्डु सस्नेह पिच्छिल च कफान्वितम्। श्यावारुण सफेन च तनु रूक्ष च वातिकम्॥ रक्तपित्त कषायाभ कृष्ण गोमूत्रसनिभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभ च पैत्तिकम्॥ ससृष्टलिङ्ग ससर्गात्त्रिलिङ्ग सान्निपातिकम्।" (च चि अ ४)। "ननु पित्तमेव रक्तपित्तमित्युक्त, तत् कथ श्लैष्मिक भवति? उच्यते—सामान्यसप्राप्तौ पित्तमेव रक्तपित्तनिर्वर्तक, यथा सर्वगुल्मेषु वायु, यथा सर्वज्वरेषु पित्तमारम्भक, तदेव यदोल्वणेन कफेन स्वलक्षणकारिणा युक्त रक्तपित्तकर भवति, तदा सामान्यसप्राप्तिसप्राप्त पित्तमुत्सृज्य श्लेष्मणैव सान्द्रत्वादिस्वलक्षणकारिणा व्यपदिश्यते—श्लैष्मिक रक्तपित्तमिति।" (च द)। २ "मार्गौ पुनरस्य द्वौ—ऊर्ध्व, चाधश्च। तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मससर्गादूर्ध्व प्रतिपद्यमान कर्ण-नासिका-नेत्रास्येभ्य प्रच्यवते, बहुवाते तु शरीरे वातससर्गादध· प्रतिपद्यमान मूत्र-पुरीषमार्गाभ्या प्रच्यवते, बहुश्लेष्म-वाते तु शरीरे श्लेष्मवातससर्गाद्द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते, तौ मार्गौ प्रतिपद्यमान सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्य खेभ्य प्रच्यवते शरीरस्य।" (च नि अ २)। "गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गति॥ सप्त च्छिद्राणि शिरसि द्वे चाध ×××। यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसख्येया गतिं तस्याहुरान्तिकीम्॥" (च चि अ ४)। "ऊर्ध्वं नासाक्षि-कर्णास्यैमेढ्र-योनि-गुदैरध। कुपित रोमकूपैश्च समस्तैस्तत् प्रवर्तते॥" (अ स नि अ ३)।

मार्गभेदसे रक्तपित्तका साध्यासाध्यत्व—

ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य है, क्योंकि रक्तपित्तमे प्रतिलोम गतिसे दोपके निर्हरणका विधान है, अत ऊर्ध्वग रक्तपित्तमे दोपनिर्हरणके लिए विरेचन दिया जाता है, जो पित्त निर्हरणके लिए प्रधान है और कफका भी निर्हरण करता है, कफ शुद्ध होने पर कपाय-तिक्त और मधुर रसवाले द्रव्य उसको लाभ पहुंचाते हैं, अत वह बह्वौषध-बहुत औषध जिसमे लाभ पहुँचा सके ऐसा होता है, अत ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य है। अधोग रक्तपित्त याप्य है, क्यो कि—उसमे वमन कराना होता है, जो पित्तनिर्हरणके लिए प्रधान नही है और अनुबन्धरूप वातके लिए भी हितकारक नही है। अधोग रक्तपित्तमे केवल कषाय और मधुर रसवाले द्रव्य ही हितकारक होते हैं अन्य रसवाले (कषाय और तिक्त रस वाले) नही, अत वह अल्पौषध (थोडे औषध जिसमे लाभ पहुँचा सके ऐसा) होता है, अत अधोग रक्तपित्त याप्य है। जो रक्तपित्त दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त (उभयमार्गग) होता है, वह असाध्य होता है, क्योंकि यह दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त होता है, इसलिए इसमे वमन या विरेचन किसीसे लाभ नही पहुँचता और इसके लिए कोई औषध भी नही होता है, क्योंकि जब सर्व-तीनों दोषोंका प्रकोप होता है तब सर्वदोषप्रशमन औषध देना होता है, जो शक्य नहीं है[1]।

---

१ "तत्र यदूर्ध्वभाग तत् साध्य, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद्बह्वोपधत्वाच्च, यदधोभाग तद्याप्य, वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौपधत्वाच्च, यदुभयभाग तदसाध्य, वमन-विरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्च।" (च नि अ २)। "साध्यमूर्ध्वगम्। याप्य त्वधोग, मार्गौ तु द्वावसाध्य प्रपद्यते॥" (च चि अ ४)। "साध्य लोहितपित्त तद्यदूर्ध्व प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योगित्वाद्बहुत्वाद्भेपजस्य च॥ विरेचन तु पित्तस्य जयार्थे परमौषधम्। यश्च तत्रानुग श्लेष्मा तस्य चानधम स्मृतम्॥ भवेद्योगावह तत्र कषाय तिक्तमेव च ('मधुर चैव भेषजम्' इति पा०)। तस्मात् साध्य मत रक्त यदूर्ध्व प्रतिपद्यते॥ रक्त तु यदधोभाग तद्याप्यमिति निश्चितम्। वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद्भेषजस्य च॥ वमन हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते। यश्च तत्रान्वयो वायुस्तच्छान्तौ चावर स्मृतम्॥ तच्चायोगावह तत्र कषाय तिक्तकानि च। तस्माद्याप्य समाख्यात यद्रक्तमनुलोमगम्॥ रक्तपित्त तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते। असाध्यमिति तज्ज्ञेय पूर्वोक्तादेव कारणात्॥ नहि सशोधन किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम्। प्रतिमार्ग च हरण रक्तपित्ते विधीयते॥ एवमेवोपशमन सर्वशो नास्य विद्यते। ससृष्टेपु हि दोपेपु सर्वजिच्छमन हितम्॥ इत्युक्त त्रिविधोदर्क रक्त मार्गविशेषत।" (च नि अ २)॥ "ऊर्ध्व साध्यमधो याप्यमसाध्य युगपद्गतम्।" (सु उ अ. ४५)। "ऊर्ध्व साध्य कफाद्यस्मात्तद्विरेचनसाधनम्। बह्वौषध च पित्तस्य विरेको हि वरौषधम्॥ अनुबन्धी कफो यश्च तत्र तस्यापि शुद्धिकृत्। कपाया स्वादवोऽप्यस्य विशुद्धश्लेष्मणो हिता॥ किमु तिक्ता कपाया वा ये निसर्गात् कफापहा। अधो याप्य चलाद्यस्मात्तत्प्रच्छर्दनसाधनम्॥ स्वल्पौपध च, पित्तस्य वमन न वरौषधम्। अनुबन्धी चलो यश्च शान्तयेऽपि न तस्य तत्॥ कपायाश्च हितास्तस्य मधुरा एव केवलम्। कफ मारुतससृष्टमसाध्यमुभयायनम्॥

रक्तपित्तके असाध्य लक्षण—

जो रक्तपित्त काले रंगका-नीलवर्ण (गहरे आसमानी रंगका)-इंद्रधनुषके समान अनेक वर्णका–हरे-हल्दीके या ताँवेके समान रंगका हो, कपडेमें पडा हुआ जिसका दाग पानीसे धोने पर भी निकले नहीं ऐसा, अति दुर्गन्धि, प्रमाणमें वहुत, दौर्वल्य आदि सर्व उपद्रवोंसे युक्त, मासके धोवन-कीचड मिले हुए जल-मेद (चरवी)-पूय (मवाद)-हड्डी यकृत् और पके जामुनके सदृश, उवलता सा, जिससे रोगीका वल और मास क्षीण हो जाय, जिससे पीड़ित मनुष्य सव दृश्य पदार्थोंको और आकाशको भी रक्त वर्णका देखे, जो रक्तपित्त ऊपर और नीचे दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त हो, शवके समान दुर्गन्धि हो, कण्ठमें रुके और जिसके साथ खाँसी आती हो वह असाध्य होता है। जो रक्तपित्त दो मार्गोंसे प्रवृत्त हो या एक मार्ग छोड कर दूसरे मार्गसे प्रवृत्त होने लग जाय वह याप्य होता है[१]।

साध्य रक्तपित्तका लक्षण—

जो रक्तपित्त एक मार्गसे प्रवृत्त हो, वलवान् मनुष्यको हुआ हो, नवीन हो तथा हेमन्त या शिशिर ऋतुमें उत्पन्न हुआ हो वह साध्य होता है[२]।

रक्तपित्तके उपद्रव—

दुर्वलता, अरुचि, अन्न पचन न होना, श्वास, खाँसी, ज्वर, अतिसार, शोथ, राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग, वमन, मद (नशा चढ़ा सा रहना), तन्द्रा, दाह, मूर्च्छा, खाये हुए

अशक्यप्रातिलोम्यत्वादभावादौषधस्य च । न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिलोमगम् ॥ शोधनं प्रतिलोमं च रक्तपित्ते भिषग्जितम् । एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ॥ संसृष्टेषु हि दोषेषु सर्वजिच्छमनं हितम् ।" (अ. सं. नि. अ. ३)।

१ "यत् कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् । रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रञ्जनं च यत् ॥ भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववच्च यत् । वल-मासक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥ येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः । पश्येद्दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यं न संशयः ॥" (च. नि. अ. २)। "यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते । तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥ संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत् । यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥ हारिद्र-नील-हरित-ताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम् । क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥ यद्द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं भूयः प्रवर्तते । मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥" (च. चि. अ. ४)। "मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा मेदः-पूयास्थिकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ॥ यत् कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारास्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥" (सु. उ. अ. ४५)। "लोहितं छर्दयेद्यस्तु वहुशो लोहितेक्षणः । रक्तानां च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥" (सु. सू. अ. ३३)। २ "एकमार्गं वलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् । रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥" (च. चि. अ. ४)। "सुखे काले इति हेमन्ते शिशिरे च ।" (च. द.)।

अन्नका विदाह (अम्लपाक), धैर्य कम हो जाना, हृदयमें असह्य पीडा, तृष्णा, स्वरभग, सिरमें जलन-सिर तपना, दुर्गन्धि थूक आना और बेचैनी रहना ये रक्तपित्तके उपद्रव हैं[१]।

पाण्डुरोगनिदानाध्याय-पञ्चम।

पाण्डुरोगके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और **मृद्भक्षणज**-इन भेदोंसे पाण्डुरोग पाँच प्रकारका होता है। सुश्रुतने मृद्भक्षणज पाण्डुरोगका सन्निपातजमें अवरोध (अन्तर्भाव) मान कर पाण्डुरोगके चार ही भेद लिखे हैं। दोपभेदसे पाण्डुरोगमे कृष्ण-पीत-हारिद्र-हरित आदि वर्ण भी पाये जाते हैं, तथापि सब भेदोंमें पाण्डुता अधिक और अवश्य पाई जाती है, अत इस व्याधिको **पाण्डुरोग** कहा जाता है। सामान्यत जिन व्याधियोंमे रक्तके स्वाभाविक वर्णमे परिवर्तन होता है, विशेषत रक्ताल्पताके कारण रक्तमे पाण्डुता आ जाती है उनको **पाण्डुरोग** कहा जाता है[२]।

अवस्थाविशेषसे पाण्डुरोगके भेद—

अवस्थाविशेपसे पाण्डुरोगके **कामला, अपानकी, कुम्भकामला** और **लाघव(र)क** या **अलस** (तथा **हलीमक**) ये भेद होते हैं[३]।

---

१ "उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाक-श्वास-कास-ज्वरातीसार-शोथ-शोष-पाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च।" (च. नि अ २)। "दौर्बल्य-श्वास कास-ज्वर-वमथु मदास्तन्द्रिता-दाह-मूर्च्छा भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा। तृष्णा कण्ठस्य भेद शिरसि च तपन पूतिनिष्ठीवन च द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गा ॥" (सु उ. अ ४५)। २ "पञ्च पाण्डुरोगा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-मृद्भक्षणजा।" (च सू. अ १९)। "पाण्डुरोगा स्मृता पञ्च वात-पित्त-कफैस्त्रय। चतुर्थ सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृद ॥" (च चि अ १६)। "पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविध प्रदिष्ट पृथक्-समस्तैर्युगपच्च दोषै। सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽत खलु पाण्डुरोग ॥" (सु उ अ ४४)। "युगपदिति पद दोषत्रयस्यैककालप्रकोपसूचनार्थम्। यद्यपि तन्त्रान्तरे मृज्ज पाण्डुरोग पञ्चम कथित, तथाऽप्यत्र मृजस्त्रिदोषज एवान्तर्भूत, वक्ष्यमाणाश्च कामलादय पाण्डुरोगस्यैव पर्याया, अतोऽत्र चत्वार एव। केचित् 'पाण्ड्वामयस्त्वष्टविध' इति पठन्ति। तन्मते पृथग्दोषैस्त्रय, समस्तैरेक, मृद्भक्षणादेक, द्वे कामले, एको हलीमक, एव पाण्डुरोगोऽष्टविध। यद्यपि वातादिभेदेन कृष्णादिवर्णत्वमभिधास्यति, तथाऽप्यस्य विकारस्य पाण्डुवर्णाधिक्यात् **'पाण्डुरोग'**व्यपदेश इति दर्शयन्नाह-सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभाव इत्यादि।" (ड)। ३ "स कामलाऽपानकिपाण्डुरोग कुम्भाह्वयो लाघरकोऽलसाख्य। विभाष्यते" (सु उ अ ४४१)।

पाण्डुरोगके हेतु और संप्राप्ति—

क्षार-अम्ल-लवण-अति उष्ण-विरुद्ध-असात्म्य और तीक्ष्ण पदार्थ तथा सेमके वीज-उडद-खली-तिलतैल और मिट्टी-इनके तथा अन्य भी पित्तकारक पदार्थोंके सेवनसे, अन्नके विदाह समयमें दिनमें सोना-व्यायाम करना या मैथुन–इनसे, अति मद्य पीनेसे, वमनादि पञ्चकर्मोंके विषम आचरणसे, ऋतुओंके वैषम्यसे, मल-मूत्र आदिके वेगोंको रोकनेसे तथा काम-चिन्ता-भय-क्रोध और शोक-इनका मन पर आघात पहुँचनेसे पित्त (पित्तप्रधान तीनों दोष) प्रकुपित होकर तथा हृदयमें आकर और समान वायुसे प्रेरित होकर धमनियोंद्वारा समग्र शरीरमें व्याप्त और त्वचा तथा मासमें आश्रित होकर कफ-वात-रक्त-त्वचा और मास-इनको दूषित करके त्वचामें पाण्डु-हारिद्र (हलदीके समान पीला) और हरा-इस प्रकार नाना प्रकारका वर्ण उत्पन्न करते हैं। इस व्याधिमें पाण्डुत्व (रक्ताल्पताके कारण फीकापन) अधिक होता है, इसलिए इस रोगको **पाण्डुरोग** कहते हैं[1]।

पाण्डुरोगके पूर्वरूप—

हृदयका स्पन्दन (धडकन), त्वचामें रूक्षता, त्वचाका फटना, पसीना न आना, श्रम-थकावट, अरुचि, पेशाव और मल पीला होना, अग्निमान्द्य, थूक अधिक आना, अवसाद, मिट्टी खानेकी इच्छा होना, अक्षिकूटका शोथ-तथा अन्न पचन न होना–ये पाण्डुरोगके पूर्वरूप हैं[2]।

पाण्डुरोगकी सप्राप्ति—

जव पित्तप्रधान–पित्ताधिक दोष प्रकुपित होकर रक्तादि धातुओंका आश्रय करते हैं तव दोषोंद्वारा रक्तादि धातु दूषित होनेके कारण रोगीके शरीरमें शैथिल्य और धातुओंका

---

१ "व्यवायमम्ल लवणानि मद्य मृद दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्। निषेवमाणस्य विदूष्य रक्त कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्॥" (सु उ अ. ४४)। "क्षाराम्ल-लवणात्युष्ण-विरुद्धासात्म्यभोजनात्। निष्पाव-माष-पिण्याक-तिलतैलनिषेवणात्॥ विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद्व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगाना च विधारणात्॥ कामचिन्ता-भय-क्रोध-शोकोपहतचेतस.। समुदीर्णं यदा पित्त हृदये समवस्थितम्। वायुना वलिना क्षिप्त सप्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्न केवल देह त्वङ्मासान्तरमाश्रितम्॥ प्रदूष्य कफ-वातासृक्त्वङ्मासानि करोति तत्। पाण्डु-हारिद्र-हरितान् वर्णान् वहुविधास्त्वचि॥ स पाण्डुरोग इत्युक्त" (च चि अ १६)। "पित्त-प्रधाना कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मला। तत्रानिलेन वलिना क्षिप्त पित्त हृदि स्थितम्॥ धमनीर्दश सप्राप्य व्याप्नुवत् सकल वपु। श्लेष्म-त्वग्रक्त-मासानि प्रदूष्यान्तरमाश्रितम्। त्वङ्मासयोस्तत् कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान्। पाण्डु-हारिद्र-हरितान् पाण्डुत्व तेषु चाधिकम्॥ यतोऽत पाण्डुरित्युक्त स रोग" (अ स नि अ १३)। २ "तस्य लिङ्ग भविष्यत। हृदयस्पन्दन रौक्ष्य स्वेदाभाव श्रमस्तथा॥" (च चि अ १६)। "त्वक्स्फोटन ष्ठीवन-गात्रसादौ मृद्भक्षण प्रेक्षणकूटशोथ। विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुर सराणि।" (सु. उ अ. ४४)।

गौरव (अपनी क्रियाओंमें असामर्थ्य) होता है तथा ओज-रक्तके वर्ण-बल-स्नेह आदि गुण क्षीण होते हैं, जिससे रोगी अल्प रक्त और मेद वाला, नि सार (आठ प्रकारके सारोंसे हीन-सारोंका वर्णन इसी ग्रन्थके पूर्वार्धमें पृ ८६–८८ पर देखें) और शिथिलेन्द्रिय होता है, उसके शरीरका वर्ण विकृत (पाण्डु-हारिद्र-हरित आदि) होता है[1]।

पाण्डुरोगके सामान्य लक्षण—

कानमें आवाज आना, अग्निमान्द्य, दुर्बलता, अवसाद, अन्नद्वेष, थकावट, चक्कर आना, शरीरमे पीडा-दर्द, ज्वर, श्वास, शरीरका भारीपन, अरुचि, शरीरमें मर्दन-पीडन (दबाना) और मथने जैसी पीडा, अक्षिकूटका शोथ, शरीरमे हरापन, रोएँ झड़ना, शरीर कान्तिहीन होना, स्वभाव क्रोधी होना, शीतका द्वेष (शीत अच्छा न लगना), नींद अधिक आना, बार-बार थूकना, कम बोलना, चलने-चढने तथा परिश्रम करनेसे पिण्डियों-कमर-जाँघ और पाँवमें पीड़ा तथा अवसाद (शैथिल्य), हृदयका स्पन्दन अधिक होना तथा श्वास ये पाण्डुरोगके सामान्य लक्षण होते हैं[2] (च.)

वातिक पाण्डुरोगके लक्षण—

वातप्रकोपक आहार–विहारोंसे वायु प्रकुपित होकर जो पाण्डुरोग उत्पन्न करता है उसमें शरीर कालापन-हरापन और अरुणता लिए हुए पाण्डु वर्णका होना, शरीरमे रूक्षता, अगोंमे पीडा, सूई चुभने सी वेदना, कम्प, पार्श्व और सिरमें वेदना, मल सूखना, मुँहका स्वाद विरस होना (बिगडना), शोथ, आनाह, बलक्षय, नेत्र-सिराएँ-विष्ठा-मूत्र-नख और चेहरा काला होना तथा अन्य वातजन्य लक्षण होते हैं[3]।

---

१ "दोषा पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु। शैथिल्य तस्य धातूना गौरव चोपजायते ॥ ततो वर्ण-बलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणा । व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोष-दूष्यप्रदूषणात् ॥ सोऽल्प-रक्तोऽल्पमेदस्को नि सार शिथिलेन्द्रिय । वैवर्ण्यं भजते, तस्य हेतु शृणु सलक्षणम् ॥" (च. चि अ १६)। २ "सभूतेऽस्मिन् भवेत् सर्व कर्णक्ष्वेडी हतानल । दुर्बल सदनोऽन्नद्विट् श्रम-भ्रमनिपीडित ॥ गात्रशूल-ज्वर-श्वास-गौरवारुचिमान्नर । मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥ शूनाक्षिकूटो हरित शीर्णलोमा हतप्रभ । कोपन शिशिरद्वेषी निद्रालु ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥ पिण्डिकोद्वेष्ट-कट्यूरुपादरुक्सदनानि च । स्युरध्वारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥" (च चि अ १६)। "तेन गारवम् । धातूना स्याच्च शैथिल्यमोजसश्च गुणक्षय ॥ ततोऽल्परक्त-मेदस्को नि सार स्याच्छ्लथेन्द्रिय । मृद्यमानैरिवाङ्गैर्ना द्रवता हृदयेन च ॥ शूनाक्षिकूट सदन कोपन ष्ठीवनोऽल्पवाक् । अन्नद्विट् शिशिरद्वेषी शीर्णरोमा हतानल ॥ सन्नसक्थिर्ज्वरी श्वासी कर्णक्ष्वेडी श्रमी भ्रमी ।" (अ स नि अ १३)। ३ "आहारैरुपचारैश्च वातलै कुपितोऽनिल । जनयेत् कृष्णपाण्डुत्व तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥ अङ्गमर्द रुज तोद कम्प पार्श्व-शिरोरुजम् । वर्च शोषास्यवैरस्य-शोफानाह-बलक्षयान् ॥" (च चि अ १६)। "कृष्णेक्षण कृष्णसिरावनद्ध तद्वर्णविण्मूत्र-नखानन च । वातेन पाण्डु मनुज व्यवस्येत् युक्त तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥" (सु उ. अ ४४)। "अनिलात्तत्र गात्ररुक्-तोद-कम्पनम् । शोफानाहास्यवैरस्य-विट्शोषा पार्श्व मूर्धरुक् ॥" (अ स नि १३)।

पैत्तिक पाण्डुरोगके लक्षण—

जब पित्तप्रकृति वाला मनुष्य पित्तकारक आहार–विहारोंका सेवन करता है तब उसके शरीरमें पित्त प्रकुपित तथा रक्तादि धातुओंको दूषित करके पाण्डुरोग उत्पन्न करता है। उस पाण्डुरोगमे शरीर पीला या हरे रगका होना, ज्वर, दाह, वमन, मूर्च्छा, प्यास, मल-मूत्र-नेत्र सिराएँ और चेहरा पीला होना, पसीना आना, शीत-ठण्ढकी इच्छा रहना, अन्न खानेकी इच्छा न होना, मुँह कडुआ-तीता रहना, उष्ण और अम्ल पदार्थ अनुकूल न आना, खट्टी डकारें आना, अन्नके विदाहकाल (पच्यमानावस्था) में मुँहसे दुर्गन्ध आना, मल पतला होना, दुर्वलता, अँधेरा दिखना तथा अन्य भी पैत्तिक लक्षण होते हैं[१]।

श्लैष्मिक पाण्डुरोगके लक्षण—

कफकारक आहार–विहारोंके सेवनसे कफ प्रकुपित होकर पूर्वोक्त सप्राप्तिके अनुसार पाण्डुरोग उत्पन्न करता है। श्लैष्मिक पाण्डुरोगमे शरीरका भारीपन, तन्द्रा, वमन, शरीरका वर्ण श्वेताभ होना, लालाका अधिक स्राव, रोएँ खडे होना, अवसाद, मूर्च्छा, चक्कर आना, विना परिश्रमके थकावट मालूम होना, श्वास, खाँसी, आलस्य, अरुचि, वाणी और स्वरकी रुकावट, मूत्र-नेत्र-नख-चेहरा और मल श्वेतवर्ण होना, कटु-रूक्ष और उष्ण पदार्थ खानेकी इच्छा रहना, सूजन, मुँह मीठा और लवण (नमकीन) रहना तथा अन्य भी कफजन्य लक्षण होते हैं[२]।

त्रिदोषज पाण्डुरोगके हेतु और लक्षण—

वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक पाण्डुरोगके हेतुरूप जो आहार-विहार कहे गये है उनके एक साथ सेवन करनेसे त्रिदोपज पाण्डुरोग उत्पन्न होता है। उसमे तीनों दोषोंके

---

१ "पित्तलस्याचित पित्त यथोक्तै स्वै प्रकोपणै । दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥ स पीतो हरिताभो वा ज्वर-दाह-समन्वित । छर्दि-मूर्च्छा-पिपासार्त पीतमूत्र-शकृन्नर ॥ स्वेदन शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति। कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥ उद्गारोऽम्लो विदाहश्च, विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते । दौर्गन्ध्य, भिन्नवर्चस्त्व दौर्बल्य तम एव च ॥" (च चि अ. १६)। "पीतेक्षण पीतसिरावनद्ध तद्वर्णविण्मूत्र-नखानन च । पित्तेन पाण्डु मनुज व्यवस्येद् युक्त तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥" (सु उ अ ४४)। "पित्ताद्धरित-पीताभसिरादित्व ज्वरस्तम तृट्-स्वेद मूर्च्छा- शीतेच्छा दौर्गन्ध्य कटुवक्त्रता ॥ वर्चोभेदोऽम्लको दाह " (अ स नि अ १३)।
२ "विवृद्ध श्लेष्मल श्लेष्मा पाण्डुरोग स पूर्ववत् । करोति गौरव तन्द्रा छर्दि श्वेतावभासताम् ॥ प्रसेक लोमहर्ष च साद मूर्च्छा भ्रम क्लमम् । श्वास कास तथाऽऽलस्यमरुचि वाक्स्वरग्रहम् ॥ शुक्लमूत्राक्षि-वर्चस्त्व कटु-रूक्षोष्णकामताम् । श्वयथु मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामय कफात् ॥" (च चि अ १६)। "शुक्लेक्षण शुक्लसिरावनद्ध तद्वर्णविण्मूत्र-नखानन च । कफेन पाण्डु मनुज व्यवस्येद् युक्त तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥" (सु उ अ ४४)। "कफाच्छुक्लसिरादिता तन्द्रा लवणवक्त्रत्व रोमहर्ष स्वरक्षय ॥ कासश्छर्दिश्च" (अ स नि अ १३)।

उत्पन्न पाण्डुरोगके जो अलग-अलग लक्षण ऊपर कहे गये हैं वे एक साथ देखनेमे आते हैं। त्रिदोषज पाण्डुरोग दु सह-अति कष्ट देने वाला होता है[१]।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोगके लक्षण—

जो मनुष्य मृत्तिकाका भक्षण करता (मिट्टी खाता) है उसके शरीरमे वातादिमेंसे किसी भी एक दोषका प्रकोप होता है। कषाय रसवाली मृत्तिका वायुका, क्षार (लवण रस) वाली मृत्तिका पित्तका और मधुर रसवाली मृत्तिका कफका प्रकोप करती है तथा अपने रूक्ष गुणसे रसादि धातुओंमे और खाये हुए अन्नमे रूक्षता उत्पन्न करके तथा स्वयं अपक्व रहनेसे रसादि धातुओंके स्रोतोंका अवरोध करके पूर्वोक्त सम्प्राप्तिके अनुसार पाण्डुरोग उत्पन्न करती है। मृज्ज पाण्डुरोगमे इन्द्रियोंका बल-तेज(शरीरकी कान्ति)-वीर्य-ओज-शरीरका वर्ण और जठराग्नि–इनका क्षय, गाल-अक्षिकूट-भौंह-पाँव-नाभि-उपस्थ और चेहरा–इनका शोथ, पेटमे कृमि उत्पन्न होना तथा कृमि-रक्त और कफ (आँव) के साथ मिश्रित पतले दस्त आना ये लक्षण होते हैं[२]।

पाण्डुरोगके उपद्रव—

अरुचि, तृषा, वमन, ज्वर, सिरका दर्द, अग्निमान्द्य, कण्ठमें शोथ, दुर्बलता, मूर्च्छा, विना परिश्रमके थकावट और हृदयकी पीडा ये पाण्डुरोगके उपद्रव हैं[३] (सु.)।

पाण्डुरोगके असाध्य लक्षण—

जो पाण्डुरोग चिरकालसे उत्पन्न हुआ हो और उससे शरीरके सब धातुओंमें रूक्षता आई हो वह असाध्य होता है। पाण्डुरोग चिरकाल चलनेसे जिसके शरीरमे शोथ आया हो और जो सब वस्तुओंको पीले रंगकी देखता हो वह असाध्य होता है। जिस पाण्डुरोगवालेको कफयुक्त होने पर भी बद्ध-अल्प और हरे रंगका मल बार-बार आता हो वह असाध्य होता है। जो मनुष्य हर्षरहित तथा वमन-मूर्च्छा और तृषासे पीडित हो और जिसका शरीर श्वेत वर्णसे लिप्त सा प्रतीत होता हो वह पाण्डुरोगी

---

१ "सर्वान्नसेविन सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् ॥ त्रिदोषलिङ्ग कुर्वन्ति पाण्डुरोग सुदु - सहम् ॥" (च चि अ १६)। "सर्वात्मके सर्वमिद व्यवस्येत् ।" (सु उ अ ४४)। "निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदु सह ॥" (अ स. नि. अ १३)। २ "मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्य-न्यतमो मल.। कषाया मारुत, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् ॥ कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्त विरूक्ष्य च। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतासि निरुणद्धि च ॥ इन्द्रियाणा बल हत्वा तेजो वीर्योजसी तथा। पाण्डु-रोग करोत्याशु बल-वर्णाग्निनाशनम् ॥ शूनगण्डाक्षिकूट-भ्रू शूनपान्नाभि-मेहन। क्रिमिकोष्ठो-ऽसार्येत मल सासृक्कफान्वितम् ॥" (च चि अ १६) "मृत् कषायाऽनिल, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्। दूषयित्वा रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्त विरूक्ष्य च। स्रोतास्यपक्वैवापूर्य कुर्याद्रुद्ध्वा च पूर्ववत्। पाण्डुरोग तत. शूननाभि-पादास्य-मेहन। पुरीष कृमिवन्मुञ्चेद्भिन्न सासृक्कफ नर ॥" (अ नि अ २३)। ३ "उपद्रवास्तेष्वरुचि पिपासा छर्दिर्ज्वरो मूर्धरुजाऽग्निसाद। शोथस्तथा कण्ठ-गतोऽबलत्व मूर्च्छा क्लमो हृदयपीडन च ॥" (सु उ अ ४४)।

असाध्य होता है । जिस पाण्डुरोगीका शरीर अत्यधिक रक्त क्षयके कारण पाण्डु मात्र न रह कर सफेद पड गया हो वह असाध्य होता है । जिसके दाँत नख तथा नेत्र पाण्डु-वर्णके हो गये हों तथा जो रोगी सब पदार्थोंको पाण्डु वर्णके ही देखता हो वह असाध्य होता है । जिस पाण्डुरोगीके हाथ-पैर और सिरमे सूजन हो तथा मध्य शरीर क्षीण हो या उसके विपरीत मध्य भागमे शोथ हो और हाथ-पॉव तथा सिर पतले-कृश हो गये हों उसको असाध्य जानना चाहिए । जिस पाण्डुरोगीको गुदा-उपस्थ और अण्डकोशमें सूजन हो गई हो तथा रोगी मूर्च्छित और मृतप्राय सा प्रतीत होता हो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । जो पाण्डुरोगी ज्वर और अतिसारसे पीडित हो वह असाध्य होता है[१] ।

पाण्डुरोगके अवस्थाविशेष कामलाके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

जो पाण्डुरोगवाला अति पित्तकारक पदार्थोंका सेवन करता है उसके शरीरमे पित्त प्रकुपित तथा रक्त और मासको दूषित करके कामला रोग उत्पन्न करता है । कामलामें नेत्र-त्वचा-नख और चेहरा हलदीके समान वर्णका, मल और मूत्र लाल तथा पीले रगका, शरीरका वर्ण मेडक जैसा, इन्द्रियोंकी शक्तिका ह्रास, दाह, अन्न न पचना, दुर्वलता, अवसाद और अरुचि ये लक्षण होते हैं । इस कामलामे पित्तकी अधिकता होती है तथा यह कामला कोष्ठ और शाखा (रक्तादि धातु तथा त्वचा) दोनोंका आश्रय करके उत्पन्न होती है[२] ।

---

१ "पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्न खरीभूतो न सिध्यति । कालप्रकर्षाच्छूनो ना यश्च पीतानि पश्यति ॥ बद्धाल्पविट् सकफ हरित योऽतिसार्यते । दीन. श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दि-मूर्च्छा-तृषार्दित ॥ स नास्त्यसृक्क्षयाचश्च पाण्डु श्वेतत्वमाप्नुयात् ।" (च चि अ १६) । "अन्तेषु शून परिहीनमध्य म्लान तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् । गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शून प्रताम्यन्त-मसझकल्पम् ॥ विवर्जयेत् पाण्डुकिन यशोऽर्थी तथाऽतिसार-ज्वरपीडित च ॥" (सु उ ४४)। "पाण्डुदन्त नखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानव । पाण्डुसघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥" (सु सू अ ३३) । २ "पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते । तस्य पित्तमसृङ्मास दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ हारिद्रनेत्र स भृश हारिद्रत्वङ्नखानन । रक्त-पीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रिय । दाहाविपाक-दौर्वल्य-सदनारुचिकर्षित । कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥" (च चि अ १६) । "पाण्डुरोगीत्यादिना कामलामाह । पाण्डुरोगीति वचनात् पाण्डुरोगस्यैव हेतुविशेषेण कामलादिरूपाऽवस्था उत्पद्यते, अत एव च हारीते कामलादीनामपि पाण्डुरोगत्व मेवोक्तम् । वचन हि—"वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोष-मृद्भक्षणसभवे च । द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैव खलु पाण्डुरोग ॥" इति, अन्या तु सुश्रुतोक्ता कामला भिन्ना भवति, "यो ह्यामयान्ते सहसाऽम्लमन्नमद्यादपथ्यान्यपि तस्य पित्तम् । करोति पाण्डु वदन विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रि-बलक्षयौ च" (सु उ अ ४४) इत्यादिना पृथक्कामलाहेतुरुक्त , वाग्भटेऽपि—"भवेत् पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च ।" (वा नि अ १३) इति, इह तु पाण्डु-

शाखाश्रित कामलाके लक्षण—

रूक्ष-शीत-गुरु और मधुर पदार्थोंका सेवन, व्यायाम और वेगोंको रोकना-इन कारणोंसे कफसे अवरुद्ध वायु कोष्ठमें जानेवाले पित्तका अवरोध करके उसको शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा) में फेंकता है, तब उस कामलावाले मनुष्यके नेत्र-मूत्र और त्वचा हलदीके समान रंगके तथा मल तिलकल्कके समान श्वेत वर्णका होता है। जब पित्त शाखाश्रित और (कोष्ठ-शाखाश्रित कामलाकी अपेक्षया) अल्प होता है तब यह कामला होती है। इस कामलामें आटोप (पेटमें गुड्गुडाहट), विष्टम्भ (मलावरोध), हृदय-छातीमें गौरव, दौर्बल्य, अग्निमान्द्य, पार्श्वमें पीडा, हिक्का, श्वास, अरुचि और ज्वर ये लक्षण होते हैं[1] (च.)।

कुम्भकामलाके लक्षण—

कामला ही जब अधिक समय चलने-रहनेसे दृढ-बद्धमूल और कृच्छ्रसाध्य हो जाय तब उसको **कुम्भकामला** कहते हैं। कुम्भकामलामें मल काला, मूत्र पीला और शरीर पर अधिक सूजन होती है[2] (च.)।

रोगेऽपि भवेत् पाण्डुरोगाद्विनाऽपि भवेत्, यथा प्रमेहाश्रिता पिडिका प्रमेहेषु भवन्ति विना प्रमेहमपि भवन्ति; तथा पाण्डुरोगिणोऽप्युक्ता कामला पृथगपि भवति। कोष्ठशाखाश्रया बहुपित्ता पाण्डुरोगपूर्विका भवति, या तु केवल शाखाश्रया अल्पपित्ता च वक्तव्या सा स्वतन्त्राऽपि भवतीति केचित्, अत एव तस्या रूक्षशीतेत्यादिना पृथगेव हेतु लिङ्ग चाध्यायशेषे वक्ष्यति। बहुपित्तेत्यनेन केवल शाखाश्रयाया अल्पपित्तत्व सूचयति, अम्ल-कटु-तीक्ष्णोपयोग शाखाश्रयिपित्तस्य कोष्ठानयनार्थं वक्ष्यति। खरीभूतेति कठोरतामुपगता। कुम्भकामलेति अवस्थाभेदेन कोष्ठगतकामलाया सञ्ज्ञा, कुम्भ. कोष्ठ, तदाश्रया कामला कुम्भकामला। अस्या च शोथोऽपि लक्षण भवति। उक्त हि **सुश्रुते**—"भेदस्तु तस्या खलु कुम्भसाह्व शोथो महास्तत्र च पर्वभेद।" (सु उ अ ४४) इति (च द)

१ "तिलपिष्टनिभ यस्तु वर्चं सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्ग तत् पित्त कफहरैर्जयेत्॥ रूक्ष-शीत-गुरु स्वादु-व्यायामैर्वेगनिग्रहै। कफसमूर्च्छितो वायु स्थानात् पित्त क्षिपेद्बली॥ हारिद्रनेत्र-मूत्र-त्वक् श्वेतवर्चास्तदा नर। भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च॥ दौर्बल्याल्पाग्नि-पार्श्वार्ति-हिक्का-श्वासारुचि-ज्वरै। क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते॥" (च चि अ १६)। "तिलपिष्टनिभमित्यादिना शाखाश्रयकामलाचिकित्सित लक्षणपूर्वकमाह। श्लेष्मणा रुद्धमार्गमिति कोष्ठस्थेन श्लेष्मणा शाखाश्रयि पित्त कामलाजनक रुद्धमार्गं कोष्ठगमनार्थं निषिद्धमार्गमित्यर्थ। ×। श्वेतवर्चा इति कोष्ठस्थपित्तस्य मलरञ्जकस्य वहिर्निर्गमाद्रुद्धेन श्लेष्मणा श्वेतवर्चा भवति। ×। अल्पे पित्ते शाखाश्रिते इति सवन्ध।" (च द) २ "कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। कृष्ण-पीतशकृन्मूत्रो भृश शूनश्च मानव॥" (च. चि अ. १६)।

हलीमकके लक्षण—

जब वायु और पित्तके प्रकोपसे पाण्डुरोगवालेका वर्ण हरा-श्याव और पीला हो जाय तथा बल और उत्साहका ह्रास, तन्द्रा, अग्निमान्द्य, हल्का ज्वर, स्त्रीगमनकी अनिच्छा, अंगोंमें पीडा, श्वास, तृषा, अरुचि तथा चक्कर आना—ये लक्षण हों तब उसको **हलीमक** जानना चाहिए (च.)[1]।

सुश्रुतके मतसे अवस्थाविशेषसे पाण्डुरोगके भेद और उनके लक्षण—

इस रोगको अवस्थाविशेष (अवस्थाभेद) से **कामला, पानकी** (**अपानकी** हा.), **पाण्डुरोग, कुम्भाह्वय-कुम्भसाह्वय** (**कुम्भकामला**), **लाघर (व)क** और **अलस** ये नाम दिये जाते हैं। इनमें पाण्डुरोगके लक्षण ऊपर कहे गये हैं, अब अन्य भेदोंके लक्षण कहे जाते हैं। जो मनुष्य पाण्डुरोगकी या अन्य किसी रोगकी निवृत्ति होने पर (और पूर्ण स्वस्थ होनेके पहिले ही) सहसा अम्ल पदार्थोंका या अन्य अपथ्य पदार्थोंका सेवन करता है उसके शरीरमें पित्त प्रकुपित होकर समग्र शरीरको विशेषतः चेहरेको पीले रंगका कर। देता है तथा तन्द्रा और बलका क्षय करता है, इस अवस्थाको **कामला** कहते हैं। इस कामलामें यदि अत्यधिक शोथ और पर्व-अस्थिसन्धियोंमें भेदवत् पीडा हो जाय तो उसको **कुम्भकामला** कहते हैं। यदि पाण्डुरोगमें ज्वर, अङ्गमर्द, चक्कर आना, अवसाद, तन्द्रा और धातुओंका क्षय ये लक्षण हों तो उस (अवस्थाविशेष) को **लाघर(व)क** (**लोढरक वृ. वा**) और **अलसक** कहते हैं। यदि पाण्डुरोगमें वात और पित्तकी अधिकतासे शरीरका वर्ण हरा-पीला या नीले-काले रंगका हो जाय तो उसको **हलीमक** कहते हैं[2] (सु.)।

---

१ "यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्याव-पीतकः । बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः । हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥" (च. चि. अ. १६)। "तं वातपित्ताद्धरि-पीत-नीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ।" (सु. उ. अ. ४४)। "हरितं श्याव-पीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत् । वात-पित्ताद्भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वरः ॥ तन्द्रा बलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम् । अलसं चेति शंसन्ति" (अ. सं. नि. अ. १३)।
२ "स कामला-पानकि-पाण्डुरोग कुम्भाह्वयो लाघर (व) कोऽलसाख्यः । विभाष्यते लक्षण-मस्य कृत्स्नं निबोध वक्ष्याम्यनुपूर्वशस्तम् ॥"। "वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः । यो ह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्लमथादपथ्यानि च तस्य पित्तम् ॥ करोति पीतं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रि-बलक्षयौ च ॥ भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः । ज्वराङ्गमर्द-भ्रम-साद-तन्द्रा-क्षयान्वितो लाघर(व)कोऽलसाख्यः । तं वातपित्ताद्धरि-पीत-नीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ।" (सु. उ. अ. ४४)। "तस्यैव पाण्डुरोगस्य पर्यायानाह—स इत्यादि । स रोगः कामलादिभिः संज्ञाभिर्विभाष्यते विविधं भाष्यते । अस्येति कामलादिपर्यायैर्निर्दिष्टस्य रोगस्य । × × × । इदानीं पाण्डुरोगपर्यायभूताया अपि कामलाया लक्षणमाह—वक्ष्यामीत्यादि । ननु,

कामलाके असाध्य लक्षण—

जिस कामलावालेके मूत्र-मल और नेत्र कृष्ण वर्णके हों, शरीर पर अति शोथ हो, जिसके नेत्र-चेहरा-वमनमें निकला हुआ पदार्थ–विष्ठा और मूत्र रक्त वर्णके हों, जिसको मूर्च्छा-दाह-अरुचि-तृषा-आनाह-तन्द्रा-इन्द्रियोंका मोह और अग्निमान्द्य ये लक्षण हों वह कामलावाला असाध्य होता है[१]।

यदि पाण्डुरोगस्य पर्याय. कामला, तत् कथ तस्य (पृथक्) लक्षणान्युक्तानि ? सत्य, यथा पाण्डुरोगाणा वातादिजाना प्रतिस्व भेदो विद्यते तथाऽस्यापीति न दोष, एतेन कामलादीना सज्ञाना विशिष्टावस्थाविषयत्वाद्विशिष्टत्व, पर्यायत्व पाण्डुरोगत्वापरित्यागात् । ×× । आमयान्ते पाण्डुरोगान्ते, अन्यरोगान्ते च । ×× । कुम्भसाह्व तन्त्रान्तरे कुम्भकामलेति कथ्यते । ×× । स एव कुम्भसाह्वो ज्वरादियुक्तो लाघर(व)कोऽलसाख्यः स्यादिति पिण्डार्थं । लाघर(व)क कथ्यते, अलसकश्च कथ्यत इत्यर्थ । ×× । अस्यैव अवस्थाभेद पानकीति तन्त्रान्तरीया पठन्ति, तद्यथा–"सन्तापो भिन्नवर्चस्त्व बहिरन्तश्च पीतता । पाण्डुता नेत्ररागश्च पानकीलक्षण वदेत् ॥" इति । इदानीं हलीमकलक्षणमाह–तमित्यादि । त पाण्डुरोगम् । कुम्भसाह्वो यदा हरित-पीत-नील स्यात् तदा तज्ज्ञा × हलीमक नाम वदन्ति । हरि हरित, नील श्यावम् ।" (ड)। "यथैको देवदत्त स्वगतविशेषापेक्षया मनुष्यो ब्राह्मणोऽवदात, स्वगतावस्थापेक्षया बालो युवा स्थविर, स्वगतक्रियापेक्षया पाचको गायक, परापेक्षया च पिता पुत्रो भ्राता जामाते-त्याद्यनेकशब्दप्रत्ययभाक् भवति, तथैव पाण्डुरोगोऽपि त तमवस्थाविशेष, त त दोषविशेष, त त कर्मविशेष चासाद्य सज्ञान्तराण्याप्नोतीति साप्रतमुक्त–स इत्यादि । स पाण्डुरोगो नाम्ना कामले-त्यादिरपि विभाष्यत इत्यन्वय । अत्र कामलेति 'काम'शब्दोऽयं साधारणशब्दविशेषत्वात् स्वल्पे कामाद्यभिलापे प्रवर्तते, त लातीति कामला । दुष्टत्वेन कुत्सितोऽपानोऽपानक, सोऽस्यास्तीति अपानकी । कामलाख्योऽपानकिपाण्डुरोगो कामलापानकिपाण्डुरोग, कुम्भकामलाख्यो-ऽपानकिपाण्डुरोगस्त्वत्र कुम्भाह्वय उच्यते, भीमो भीमसेन इतिवत् । रोगस्यास्य कुम्भकामलेति सज्ञा तन्त्रान्तर उपदिश्यते–"कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला ।" इति । स एव पुनर्ज्वरादिभिर्लाघव करोति, सत्यपि सामर्थ्ये कर्मस्वनुत्साह च जनयतीत्यलसाख्योऽपानकि-पाण्डुरोगस्तु लाघवक उच्यते । × । नहि तावन्नाममात्रेणोपदिष्टो व्याधि कथमपि भिषजा प्रत्ययाय भवतीति कृत्वा कामलादीना लिङ्गानि वेदयितु प्रतिजानीते–वक्ष्यामीत्यादि । अत्र लिङ्गत कुम्भसाह्वस्य लाघवकस्य च विवक्षितत्वे सत्यपि कामलाया इत्येकवचन नानुपपन्न, तयोरपि तद्वि-शेषत्वेनोपदेशात् ।" (हा)। "य पाण्डुरोगी सेवेत पित्तल तस्य कामलाम् । कोष्ठशाखाश्रया पित्त दग्ध्वाऽसृङ्मासमावहेत् ॥ हारिद्रनेत्र-मूत्र-त्वङ्नख वक्त्र शकृत्तथा ॥ दाहाविपाक-तृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रिय ॥ भवेत् पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च । उपेक्षया च शोथाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला ॥ हरित-श्याव-पीतत्व पाण्डुरोगे यदा भवेत् । वात पित्ताद्भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वर ॥ तन्द्रा बलानलभ्रशो लोढर त हलीमकम् । अलस चेति शसन्ति" (अ स नि. अ १३)।

शोथनिदानाध्याय–षष्ठ ।

वक्तव्य—सूजनके लिए **शोथ, शोफ** और **श्वयथु** इन तीन शब्दोंका प्रयोग होता है। अर्थात् **शोथ, शोफ** और **श्वयथु** ये तीन पर्याय–एकार्थवाचक शब्द हैं। **उत्सेध उन्नतत्व** (उभाड-उभार) यह शोथका प्रत्यात्म (खास-अव्यभिचारी) लक्षण है। सुश्रुतने शोथके **एकदेशोत्थित** (शरीरके किसी एकदेशमें होनेवाला या **व्रणशोथ** (जिसमें व्रण होनेकी सभावना हो) और **सर्वसर** (जिसमें सारे शरीरमे फैल जानेकी सभावना हो) इस प्रकार शोथके दो प्रधान भेद बताये हैं। चरकने इस प्रकारके भेद नहीं किये हैं।

शोथके भेद—

शोथके मुख्य दो भेद हैं–**निज** (शारीर दोष वात, पित्त और कफसे होनेवाला) और **आगन्तुज** (आगन्तु-बाह्य कारणोंसे होनेवाला)। निज शोथके **वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक** तथा **सान्निपातिक** ये सात प्रकार होते हैं तथा आगन्तुज शोथके **अभिघातज** और **विषज** ये दो भेद होते हैं (वृ वा.)। सुश्रुतने **अवयवसमुत्थ** (एकदेशोत्थित-व्रणशोथ)के **वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज** और **आगन्तुज** ये छ तथा **सर्वसर** शोथके **वातज, पित्तज, श्लेष्मज, सन्निपातज** और **विषज** ये पॉच भेद माने हैं। चरकने शोथके **निज** और **आगन्तु** दो प्रधान भेद तथा निजके ऊपर लिखे हुए सात भेद और आगन्तुके कारणभेदसे–कारणानुसार अनेक भेद बताये हैं। चरकने निजके **सर्वशरीराश्रित, अर्धशरीराश्रित** और **अवयवाश्रित** ये तीन भेद लिखे हैं[१]।

निज (सर्वसर) शोथके सामान्य कारण—

स्नेहन-स्वेदन वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन और शिरोविरेचन-इनका अयथावत (हीन-मिथ्या या अति) प्रयोग, स्नेह-स्वेदादिके अनन्तर किये जाने वाले अन्नससर्जन-क्रमका असम्यक् आचरण, वमन–अलसक (अजीर्णभेद)–विसूचिका-श्वास-कास-अतिसार-राजयक्ष्मा-पाण्डुरोग-उदर-ज्वर प्रदर-भगन्दर–विसर्प और अर्श–इन विकारोंका दीर्घ काल

---

१ "त्रय शोथा भवन्ति-वात-पित्त-श्लेष्मनिमित्ता.। ते पुनर्द्विविधा·–निजागन्तुभेदेन। ××। प्रकृतिभिस्ताभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, सप्तविध, अष्टविधश्च शोथ उपलभ्यते; पुनश्चेक एव, उत्सेधसामान्यात्।" (च सू अ १८)। "प्रकृतिभिरिति कारणैः। उत्सेध उन्नतत्वम्।" (च द)। "त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात्।" (च चि अ १२)। "स षड्विधो वात-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपातागन्तुनिमित्त।" (सु सू अ. १७)। स इति व्रणशोथ। "षड्विधोऽवयवसमुत्थ शोथोऽभिहित ×। सर्वसरस्तु पञ्चविध; तद्यथा-वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपात-विषनिमित्त।" (सु चि अ. २३)। "सर्वं (देह) सरतीति सर्वसर, गतिमत्त्वात् वात सर्वसरे सरणयोग्य।" (ड) । "हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम्। दोषै पृथग्द्वयै सर्वैरभिघाताद्विषादपि।" (अ स नि १३)।

चलना और उनसे शरीरका अति कर्शन होना या उनका मिथ्या उपचार, कुष्ठ-कण्डू-पिडका आदि रोग, उलटी-छींक-डकार वीर्य-अधोवात-मूत्र और मलके वेगोंको रोकना, कर्म (व्यायाम)-रोग-उपवास और मार्गगमनसे कृश हुए मनुष्यका सहसा अति गुरु-अम्ल-लवण-मैदेसे बने हुए पदार्थ-फल-शाक-राग(रायता)-दही-हरितक वर्गके शाक मद्य-कच्चा दही-अकुरित धान्य-नये शूक और शिम्बी धान्य-ग्राम्य और आनूप प्राणियोंका मास-सूखा मास-इनका अति भक्षण, मिट्टी-कीचड-भूनी हुई मिट्टी और चूनेके पत्थरका भक्षण, लवण अति खाना, गर्भका दवाव, कच्चा-अधूरा गर्भ गिरना, प्रसवके अनन्तर मिथ्या उपचार होना, वमन-विरेचन आदि सशोधन-ज्वरादि रोग-पर्याप्त आहार न मिलना-इन कारणोंसे जो कृश और दुर्वल हुए हैं ऐसे मनुष्योंका क्षार-अम्ल-तीक्ष्ण-उष्ण और गुरु पदार्थोंका सेवन करना, परस्पर विरोधी पदार्थ-वर्षा ऋतुका नया जल आदि दोषकारक पदार्थ-गर (कृत्रिम विष)-युक्त अन्नका सेवन, अर्श, व्यायाम परिश्रम न करना, देह सशोधन न करना, मर्मस्थानमे आघात पहुचना, विषम प्रसूति-प्रसव होना, लघन-वमनादि सशोधन-रूक्ष-आहार आदिसे कर्शित होनेपर अति पैदल चलना, हरितक वर्गके या अन्य शाक और लवण आदिका अति मात्रामे खाना, क्षीण पुरुषका अतिमात्रामे अम्ल पदार्थ खाना, अजीर्ण होनेपर मैथुन करना, अति जल पीना, दिनमे सोना, रात्रीमे जागना तथा हाथीघोडा-ऊँट और रथकी क्षोभकारक सवारी करना-इन कारणोंसे वातादि दोष प्रकुपित हो कर तथा रस-रक्तादि धातुओंको दूषित करके समग्र शरीरमे सर्वसर शोथ उत्पन्न करते हैं[1]।

---

१ "निजा पुन स्नेह-स्वेद-वमन-विरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत् प्रयोगात्, मिथ्यासंसर्जनाद्वा, छर्द्यलसक-विसूचिका-श्वास-कासातिसार-शोष-पाण्डुरोगोदर-ज्वर-प्रदर-भगन्दरा-र्शोविकारातिकर्शनैर्वा, कुष्ठ-कण्डू-पिडकादिभिर्वा, छर्दि-क्षवथूद्गार-शुक्र वात-मूत्र पुरीषवेगधारणै-र्वा, कर्म-रोगोपवासाध्वकर्शितस्य वा सहसाऽतिगुर्वम्ल-लवण-पिष्टान्न-फल-शाक-राग-दधि-हरितक-मद्य-मन्दक-विरूढ-नवशूकशमीधान्यानूपौदकपिशितोपयोगात्, मृत्पङ्क-लोष्टभक्षणात्, लवणाति-भक्षणात्, गर्भसंपीडनात्, आमगर्भप्रपतनात्, प्रजाताना च मिथ्योपचारात्, उदीर्णदोषत्वाच्च शोथा प्रादुर्भवन्ति, इत्युक्त सामान्यो हेतु ।" (च सू अ १८)। "शुद्ध्यामयाभक्त-कृशावलाना क्षाराम्ल-तीक्ष्णोष्ण-गुरूपसेवा। दध्याम-मृच्छाक-विरोधि-दुष्ट-गरोपसृष्टान्ननिषेवण च ॥ अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूति । मिथ्योपचार प्रतिकर्मणा च निजस्य हेतु श्वयथो. प्रदिष्ट ॥" (च चि अ १२)। "तत्रातितर्पितस्याध्वगमनात्, अतिमात्रमभ्यव-हरतो वा पिष्टान्न-हरितक-शाक लवणानि, क्षीणस्य वाऽतिमात्रमम्लमुपसेवमानस्य, मृत्पङ्कलोष्ट-कटशर्करानूपौदकमाससेवनात्, अजीर्णिनो वा ग्राम्यधर्मसेवनाद्विरुद्धाहारसेवनाद्वा, हस्त्य श्वोष्ट्र-रथ-पदातिसक्षोभणाद्दोषा धातून् प्रदूष्य श्वयथुमापादयन्त्यखिले शरीरे ।" (सु चि. अ २३)। "सामान्यहेतु शोथाना दोषजाना विशेषत । व्याधि-कर्मोपवासादिक्षीणस्य भजतो द्रुतम्॥ अतिमात्रमथान्यस्य गुर्वम्ल-स्निग्ध-शीतलम्। लवण-क्षार-तीक्ष्णोष्ण-शाकाम्बु-स्वप्न-जागरम्॥ मृद्ग्राम्यमास-वल्लूरमजीर्ण-श्रम-मैथुनम् । श्वास-कासातिसारार्शो-जठर-प्रदर-ज्वरा ॥ विसूच्य-लसक-च्छर्दि-गर्भ-वीसर्प पाण्डव । अन्ये च मिथ्योपक्रान्ता" (अ स नि. अ १३)।

शोथकी संप्राप्ति—

जब ऊपर लिखे हुए कारणोंसे प्रकुपित वायु रक्त-पित्त और कफको दूषित कर तथा उनको बाह्य-उत्तान सिराओंमें ले जाकर, उनसे अवरुद्धगति होकर त्वचा और मांसके बीचमें आश्रित रक्तसहित तीनों दोषोंके समूहसे उत्सेध-उभार उत्पन्न करता है, उसे **शोथ** कहते हैं। दोष जब कफस्थान-आमाशय और उरमें स्थित होते हैं तब शरीरके ऊपरके भागमें, जब वातके स्थान-पक्वाशय और बस्ति (गुद) में स्थित होते हैं तब शरीरके नीचेके प्रदेशमें, जब शरीरके मध्यभाग पित्तके स्थान-पच्यमानाशयमें स्थित होते हैं तब शरीरके मध्यप्रदेशमें, जब ऊपरके तीनों स्थानोंमें स्थित होते हैं तब समग्र शरीरमें और जब शरीरके किसी एक देश (कण्ठ तालु आदि) में आश्रित होते तब उस प्रदेशके (कण्ठशोथ-तालुशोथ आदि) नामवाले शोथको उत्पन्न करते हैं। सभी प्रकारके शोथ त्रिदोषज होते हैं। एक-एक दोषकी अधिकतासे शोथको **वातशोथ, पित्तशोथ** आदि नाम दिये जाते हैं[1]।

शोथके पूर्वरूप—

अंगोंका स्पर्श उष्ण मालूम होना, भीतरसे दाह, सिराओंका प्रसरण-फैलना और अंगोंमें गौरव ये शोथके पूर्वरूप हैं[2]।

शोथके सामान्य लक्षण—

शरीरमें (या शोथस्थानमें) गौरव-भारीपन, एक स्थानमें स्थिर न रहना (वात शोथमें), ऊँचाई-उभार, उष्णता, सिराओंका पतलापन, रोएं खड़े होना और शरीरका स्वाभाविक वर्ण बदलना ये शोथके सामान्य लक्षण हैं[3]।

---

१ "बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि संदूषयतीह वायुः। तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ऊर्ध्वं स्थितैरूर्ध्वमधस्तु वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैस्तु मध्ये। सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित् स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥ सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तच्छब्दमभ्येति भिषग्जितं च।" (च. चि. अ १२)। "दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः। पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः ॥ कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा।" (सु चि. अ १३)। "तैर्दोषा वक्षसि स्थिताः। ऊर्ध्वं शोथमधो बस्तौ, मध्ये कुर्वन्ति मध्यगाः ॥ सर्वाङ्गगाः सर्वगतं, प्रत्यङ्गेषु तदाश्रयाः।" (अ स नि. अ. १३)। "रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः। नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥ उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः।" (मा नि २६)। २ "ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम्।" (च चि अ १२)। "तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम्।" (अ स नि अ १३)। ३ "सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्। सरोमहर्षोऽङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥" (च. चि. अ १२)।

वातशोथके कारण और लक्षण—

शीत-रूक्ष-लघु-और विशद पदार्थोंका सेवन, श्रम, उपवास, अतिकर्शन, अतिसंशोधन-इन कारणोंसे प्रकुपित वायु त्वचा-मास-रक्त आदिको दूषित करके वातशोथ उत्पन्न करता है। वातशोथ शीघ्र उत्पन्न और शान्त होता है, उसका वर्ण-रंग श्याव-अरुण या स्वाभाविक होता है, वह चल (अस्थिर-फैलनेवाला) और फड़कनेवाला होता है, उसमे रोएँ और त्वचा खर (कर्कश)-परुष (कठिन) और फटे हुए होते हैं, उसमे कोई काटता हो—भेदन करता हो-सूई चुभाता हो-दबाता हो-अन्दर च्यूँटिया चलती हों-सरसोंके कल्क लगनेके समान चिमचिमाहट तथा वह कभी संकुचित और कभी विस्तृत होता हो ऐसी प्रतीति होना, त्वचा पतली होना, सुन्नता, रोएँ खड़े होना, दबानेसे खड्डा पड़ना और छोड़नेसे उभड आना, दिनमे सूजन बढ़ना और रात्रिमे घटना, तोदादि वेदनाएँ कभी होना और कभी न होना—बंद पड़ जाना तथा स्निग्ध और उष्ण पदार्थोंके मर्दनसे शान्त होना ये लक्षण होते हैं[1]।

पित्तशोथके कारण और लक्षण—

उष्ण-तीक्ष्ण-कटु (चरपरे)-क्षार-लवण और अम्ल पदार्थोंका सेवन, अजीर्णमे भोजन करना तथा अग्नि और धूपका सेवन करना—इन कारणोंसे प्रकुपित पित्त त्वचा—मास-रक्त आदिको दूषित करके पित्तशोथ उत्पन्न करता है। पित्तशोथ शीघ्र उत्पन्न तथा शान्त होता है, वह काले-पीले-नील (गहरे आसमानी) या तॉबेके समान रंगका होता है, उसमे पार्श्वमे आग रखी हो ऐसी जलन-दाह, भीतरसे धुऑ उठता हो ऐसी प्रतीति, उष्ण स्पर्श, पसीना आना, गीला रहना, उष्ण स्पर्श सहन न होना, स्पर्शमे मृदुता, विस्र (कच्चे मासके समान) गन्ध, चक्कर आना, ज्वर रहना, तृषा, मद (नशा चढा सा रहना), स्पर्श

---

१ "अथ त्वत्र विशेष.—शीत-रूक्ष-लघु-विशद-श्रमोपवासातिकर्शन क्षपणादिभिर्वायु प्रकुपित-स्त्वङ्मास-शोणितादीन्यभिभूय शोथ जनयति, स क्षिप्रोत्थान-प्रशमो भवति, तथा श्यावारुण-वर्ण प्रकृतिवर्णो वा, चल, स्पन्दन, खर-परुष-भिन्नत्वग्रोमा, छिद्यत इव, भिद्यत इव, पीड्यत इव, सूचीभिरिव तुद्यते, पिपीलिकाभिरिव ससृप्यते, सर्षपकल्कावलिप्त इव चिमिचिमायते, सकुच्यत, आयम्यत इवेति वातशोथ.। शूयन्ते यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च। पीडितान्युन्नमन्त्याशु वातशोथ तमादिशेत्॥ यश्चाप्यरुणवर्णाभ शोथो नक्त प्रणश्यति। स्नेहोष्ण-मर्दनाभ्या च प्रणश्येत् स च वातिक ॥" (च. सू. अ. १८)। "चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसित प्रसुप्ति-हर्षार्ति-युतोऽनिमित्तत। प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथु समीरणात्॥" (च. चि. अ १२)। "तत्र वातश्वयथुररुण कृष्णो मृदुरनवस्थिताश्चात्र तोदादयो वेदनाविशेषा।" (सु. चि अ. २३)। "वाताच्छोथश्चलो रूक्ष खररोमाऽरुणासित। सकोच-स्पन्द-हर्षार्तितोद-भेदप्रसुप्तिमान्॥ क्षिप्रोत्थान-शम शीघ्रमुन्नमेत् पीडितस्तनु। स्निग्धोष्ण-मर्दनै शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा महान्॥ त्वक् च सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमिचिमायते।" (अ. स. नि अ. १३)।

करनेसे पीडा मालूम होना, आँखें लाल रहना, अति दाह होना, पकना, शीघ्र फैलना, पहिले शरीरके मध्य-भागसे सूजन आरम्भ होना, शीतकी इच्छा रहना, स्पर्श सहन न होना और पतले दस्त आना ये लक्षण होते हैं[१] ।

कफशोथके कारण और लक्षण—

गुरु-मधुर-शीत और स्निग्ध पदार्थोंका अति सेवन, अधिक सोना, व्यायाम न करना आदि कारणोंसे प्रकुपित कफ त्वचा-मांस-रक्त आदिको दूषित करके कफशोथको उत्पन्न करता है। वह शोथ कष्टसे (धीरे-धीरे) बढने और घटने वाला, पाण्डु या श्वेत वर्णका, गुरु, कठिन, स्निग्ध, स्पर्शमें श्लक्ष्ण-चिकना, गाढा-स्थूल, शुक्ल वर्णके रोमके अग्रभागवाला, स्पर्श और उष्णता सहन करनेवाला, स्पर्शमें शीतल, धीरे-धीरे देरीसे फैलनेवाला, कण्डूयुक्त, दवाने पर वैठ कर तुरन्त न उभडने वाला, जिसको शस्त्र या कुश-दर्भसे काटने पर उसमेंसे रक्त न निकल कर कष्टसे थोडा लुआवदार पदार्थ निकले ऐसा, न फैलनेवाला-स्थिर, होता है, इस शोथमें अरुचि, लालास्राव, नींद अधिक आना, अग्निमान्द्य, रात्रिमें शोथ बढना, खुजली आना और उलटी आना ये लक्षण होते हैं[२] ।

---

१ "उष्ण-तीक्ष्ण-कटुक-क्षार-लवणाम्लाजीर्णभोजनैरग्न्यातपप्रतापैश्च पित्त प्रकुपित त्वङ्मास-शोणितादीन्यभिभूय शोथ जनयति । स क्षिप्रोत्थान-प्रशमो भवति, कृष्ण-पीत-नील-ताम्रावभास , उष्णो, मृदु , कपिल-ताम्ररोमा, उष्यते, दूयते, धूप्यते, ऊष्मायते, स्विद्यते, क्लिद्यते, न च स्पर्श-मुष्ण च मृष्यत इति पित्तशोथ. । य पिपासाज्वरार्तस्य दूयनेऽथ विदह्यते । स्विद्यति क्लिद्यते गन्धी स पैत्त श्वयथु स्मृत ॥ य पीतनेत्र-वक्त्र-त्वक् पूर्व मध्यात् प्रशूयते । तनुत्वक् चाति-सारी च पित्तशोथ स उच्यते ॥" (च सू. अ. १८)। "मृदु. सगन्धोऽसित-पीतरागवान् भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृषा मदान्वित. । य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाह-पाक-वान् ॥" (च चि अ १२)। "पित्तश्वयथु पीतो रक्तो वा शीघ्रानुसार्योष-चोषादयश्चात्र वेदनाविशेषा ।" (सु चि अ. २३)। "पीत-रक्तासिताभास पित्तादाताम्ररोमवान् । शीघ्रा-नुसार-प्रशमो मध्ये प्राग्जायते तनु ॥ सतृड्-दाह-ज्वर-स्वेद-दव-क्लेद-मद-भ्रम. । शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदु. ॥" (अ स नि अ १३)। २ "गुरु-मधुर-शीत-स्निग्धैरतिस्वप्नाव्यायामादिभिश्च श्लेष्मा प्रकुपितस्त्वङ्मास शोणितादीन्यभिभूय शोथ जनयति, स कृच्छ्रोत्थान-प्रशमो भवति, पाण्डु श्वेतावभासो, गुरु , स्निग्ध , श्लक्ष्ण , स्थिर , स्त्यानः, शुक्लाग्ररोमा, स्पर्शोष्णसहश्चेति श्लेष्मशोथ । शीत सक्तगतिर्यस्तु कण्डूमान् पाण्डुरेव च । निपीडितो नोन्नमति श्वयथु. स कफात्मक ॥ यस्य शस्त्र-कुशच्छिन्नाच्छोणित न प्रवर्तते । कृच्छ्रेण पिच्छा स्रवति स चापि कफसभव. ॥" (च सू. अ १८)। "गुरु. स्थिर पाण्डुररोचकान्वित प्रसेक-निद्रा-वमि-वह्निमान्द्यकृत् । स कृच्छ्रजन्म-प्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिवली कफात्मक ॥" (च. चि अ १२) "श्लेष्मश्वयथु पाण्डु शुक्लो वा, स्निग्ध., कठिन., शीतो, मन्दानुसारी, कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषा ।" (सु चि अ २३) ।

द्विदोषज और त्रिदोषज शोथके लक्षण—

दो-दो दोषोंके कारण और लक्षण मिले हुए देखकर **वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक** और **पित्तश्लैष्मिक** ये तीन द्वन्द्वज तथा तीनो दोषोंके कारण और लक्षण एकत्र मिले हुए देख कर **सन्निपातिक** शोथ जानना चाहिए। इस प्रकार निज शोथ सात प्रकारका होता है[1]।

आगन्तु शोथके हेतु और लक्षण—

छेदन (शस्त्रसे दो टुकडे करना-काट डालना), भेदन (आशयविदारण), क्षणन, क्षत, भञ्जन (किसी अगका चूरा सा कर डालना), पिच्छन (प्रहार और पीडनसे हड्डीको चौडा कर देना), उत्पेषण (लोढे बट्टे आदिसे पिसना), वेष्टन (सर्प आदिसे ग्रन्थि जैसा बन्धन), लाठी आदिका प्रहार(मार-चौट), आघात, रस्सी आदिसे बॉधना, सूक्ष्म मुखवाले शस्त्रसे वींधना, पीड़न (हाथ आदिसे दबाना)-इत्यादि कारणोसे, अथवा भिलावेका रस-कवॉचकी फली-सेमके सूक्ष्म कॉटे (शूक)-किमियोंके शूक-विछुआ बूटी आदि अहित पत्र-लता-गुल्म-आदिका स्पर्श-इनसे अथवा जहरीले प्राणियोंका स्वेद (पसीना)-शरीर पर फिर जाना-पेशाब करना-इनसे अथवा सविष या निर्विष प्राणियोंके दाढ-दॉत नख और सीग लगना, समुद्रकी हवा तथा जहरीली वनस्पतियोंकी हवा लगना तथा हिम-वर्फ या अग्निका स्पर्श-इन कारणोंसे **आगन्तु** शोथ होता है। आगन्तु शोथमे प्रारम्भमे कारणके अनुसार लक्षण होते हैं और पीछे वातादि दोषोंका सबन्ध होनेसे उनके लक्षण भी होते हे **(च.)**। इस शोथमे फैलना, उष्णता अधिक होना, शोथका रग ललाई लिये होना और पैत्तिक शोथके लक्षण होते हैं[2] **(वृ. वा.)**।

"कण्डूमान् पाण्डुरोम-त्वक्कठिन शीतलो गुरु । स्निग्ध श्लक्ष्ण· स्थिर स्त्यानो निद्राच्छर्द्यतिसारकृत् ॥ आक्रान्तो नोन्नमेत् कृच्छ्रशम-जन्मा निशाबल । स्रवेन्नासृक् चिरात् पिच्छा कुश शस्त्रादिविक्षत । स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफात्" (अ स नि. अ १३)।

१ "यथास्वकारणाकृतिससर्गाद्द्वन्द्वजास्त्रय शोथा भवन्ति, यथास्वकारणाकृतिसन्निपाताद् सान्निपातिक एक । निदानाकृतिससर्गाच्छ्वयथु स्याद्द्विदोषज । सर्वाकृति सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रहेतुज ॥" (च सू अ १८)। "सन्निपातश्वयथु· सर्ववर्ण-वेदन ।" (सु चि. अ २३)। "यथास्व द्वन्द्वजास्त्रय· । सकराद्धेतुलिङ्गाना, निचयान्निचयात्मक ॥" (अ स. नि अ १३)। २ "तत्रागन्तवश्छेदन-भेदन-क्षणन-भञ्जन पिच्छनोत्पेषण-वेष्टन-प्रहार-वध-वन्ध-व्यधन-पीडनादिभिर्वा, भल्लातकपुष्प-फलरसात्मगुप्ताशूक-क्रिमिशूकाहितपत्र लता-गुल्मसस्पर्शैर्वा, स्वेदन-परिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणा, सविषप्राणिदंष्ट्रा-दन्त-विषाण नखनिपातैर्वा, सागरविषवात-हिम-दहनस्पर्शैर्वा शोथा समुपजायन्ते। ते पुनर्यथास्व हेतुजैर्व्यञ्जनैरादावुपलभ्यन्ते निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतै ।" (च सू अ १८)। "निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैरिति निजानां वातादि-

विषज शोथके लक्षण—

कृत्रिम विषका बाह्य या आभ्यन्तर उपयोग, दूषित जलका सेवन, सडी हुई वनस्पति आदि युक्त जलसे स्नान (अवगाहन) करना, सविष प्राणियोंके चूर्णका शरीर पर छिडकना, सविष प्राणियोंके मूत्र-मल-शुक्र आदिका स्पर्श जिनको हुआ है ऐसे घास-काष्ठ आदिका स्पर्श, सविष प्राणियोंका शरीर पर स्पर्श होना-पेशाब लगना डाढ-दाँत या नख लगना, अविष प्राणियोंका भी डाढ-दाँत या नख लगना, विष्ठा-मूत्र-शुक्र और अन्य शारीरिक मलयुक्त वस्त्रका धारण करना-इन कारणोंसे विषज शोथ उत्पन्न होता है। विषज शोथ स्पर्शमे मृदु, चल-अस्थिर या अचल-स्थिर, लटकता सा (अवलम्बी), शीघ्र दाह और पीडा करने वाला, शीघ्र उत्पन्न होने वाला, लाल रगका और प्राय पकनेवाला होता है[१]।

शोथके उपद्रव—

उलटी, श्वास, अरुचि, तृषा, ज्वर, अतिसार और दुर्बलता ये शोथके उपद्रव हैं[२]।

साध्य शोथके लक्षण—

जो शोथ नया, उपद्रवरहित तथा एक दोषसे उत्पन्न हुआ हो, रोगी बलसपन्न हो और रोगीका मास क्षीण न हुआ हो तो वह साध्य होता है[३]।

शोथके असाध्य लक्षण—

जो शोथ पुरुषमे पाँवसे प्रारम्भ होकर सारे शरीरमे फैल जाय, स्त्रियोंके शरीरमे मुखसे आरम्भ होकर सारे शरीरमे फैल जाय, पुरुष या स्त्रीमे गुह्यस्थानमे उत्पन्न हुआ

नन्याना यानि व्यञ्जनानि लिङ्गानि तेभ्य एकदेशे पौर्वापर्यलक्षणे विपरीते, महारोगाध्याये च वक्ष्यति—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्व समुत्पन्नो जघन्य वात-पित्त-श्लेष्मणा वैषम्यमापादयति, निजे तु वात-पित्त-श्लेष्माण पूर्व वैषम्यमापद्यन्ते जघन्य व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति।" (च सू अ २०) इति (यो.)। "अभिघातेन शस्त्रादिच्छेद-भेद-क्षतादिभि। हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लात-कपिकच्छुजै॥ रसै शूकैश्च सस्पर्शाच्छ्वयथु स्याद्विसर्पवान्। भृशोष्मा लोहिताभास प्रायश पित्तलक्षण॥" (अ. स. नि. अ १३)।

१ "विषनिमित्तस्तु गरोपयोगाद्दुष्टतोयसेवनात् प्रकुथितोदकावगाहनात् सविषसत्त्वदिग्ध-चूर्णेनावचूर्णनाद्वा सविषमूत्र-पुरीष-शुक्रस्पृष्टाना तृण-काष्ठादीना सस्पर्शनात्, स तु मृदु क्षिप्रोत्थानोऽवलम्बी चलोऽचलो वा दाह-पाक-रागप्रायश्च भवति।" (सु चि अ. २३)। "विषज सविषप्राणिपरिसर्पण-मूत्रणात्। दंष्ट्रा-दन्त-नखापातादविषप्राणिनामपि॥ विण्मूत्र-शुक्रो-पहतमलवद्वस्त्रसकरात्। विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात्॥ मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाह-रुजाकर.।" (अ. स नि अ. १३)। २ "छर्दि श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च। सप्तकोऽय सदौर्बल्य शोथोपद्रवसग्रह॥" (च. सू अ १८)। ३ "अहीनमासस्य य एकदोषजो नवो बलस्थस्य सुख स साधने।" (च. चि अ १२)। "नवोऽनुपद्रव शोफ. साध्य" (अ स नि अ. १३)।

हो, जिस शोथमें ऊपर लिखे हुए वमन आदि उपद्रव देखनेमें आवे, जो शोथ कृश या अन्य रोगोंसे दुर्बल पुरुषको उत्पन्न हुआ हो, जो मर्मस्थानमें उत्पन्न हुआ हो, जिसमें नाना वर्णकी रेखाएँ दिखती हों, जिससे नाना वर्णका स्राव होता हो, जो दुर्बलको सारे शरीरमें फैल गया हो (च.); जिस शोथमें श्वास-तृषा-दुर्बलता-ज्वर-वमन-अरुचि-हिक्का-अतिसार और खाँसी ये उपद्रव हों, जो शरीरके मध्य देशमें हो (सिर और पाँवमें न हो), जो शरीरके आधे (ऊर्ध्व या अध अथवा वाम या दक्षिण) भागमें हो (सु.), जो कुक्षि-उदर गला या मर्मस्थानमें हुआ हो, जो स्थूल और खरस्पर्श वाला हो तथा जो बालक-वृद्ध या दुर्बलको हुआ हो (मा. नि.) वह असाध्य होता है[१]।

व्रणशोथका सामान्य लक्षण—

शोथके समान कारणोंसे उत्पन्न तथा शोथके समान विविध आकृतिवाले ग्रन्थि-विद्रधि-अलजी आदि जो रोग शास्त्रमें कहे गये हैं उनसे विलक्षण, पृथु (चौडा)-ग्रथित (गाँठ वा)-सम या विषम आकृतिका, त्वचा और मांसका आश्रय करके उत्पन्न होनेवाला शरीरके एक देशमें जो दोषोंका संघात-उभार उत्पन्न हो उसको **व्रणशोथ** कहते हैं। इस शोथमें चिकित्सासे शोथ अच्छा न हो जाय तो शोथ पक कर व्रण होता है, इस लिए इसको **व्रणशोथ** कहते हैं[२]।

व्रणशोथके भेद—

वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात और आगन्तु-इन कारणोंके भेदसे व्रणशोथ छः प्रकारका होता है।

---

१ "यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत्। जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः ॥ यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा। स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥" (च. सू. अ. १८)। "कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैश्च युतः। स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान् परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः ॥" (च. चि. अ. १२)। "श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः। अर्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥ श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः। हिक्कातीसार-कासाश्च शूनं संक्षपयन्ति हि ॥" (सु. चि. अ. २३)। "विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च। स्थूलः खरश्चापि विवर्जनीयो यश्चापि बाल-स्थविरा[ब]लानाम् ॥" (मा. नि. अ. ३६)। २ "शोथसमुत्थाना ग्रन्थि-विद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोथ इत्युच्यते। स षड्विधो भवति—वात-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपातागन्तुनिमित्तः ॥" (सु. सू. अ. १७)। "एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्। षड्विधः स्यात् पृथक्-सर्व-रक्तागन्तुनिमित्तजः ॥" (मा. नि. अ. ४१)।

कारणभेदसे व्रणशोथके लक्षण—

वातज व्रणशोथ काले या अरुण वर्णका, खर स्पर्शवाला तथा (दवानेसे) मृदु-कोमल होता है। उसमें तोद-भेद आदि वात वेदनाएँ अनियत (कभी हों कभी न हों इस प्रकारकी) होती हैं। पित्तज व्रणशोथ पीले रंगका, दवानेमें मृदु, किंचित् रक्तवर्णका तथा शीघ्र फैलनेवाला होता है। उसमें पार्श्वमें अग्नि रखा हो (ओष)-कोई चूसता हो (चोष) आदि पित्तवेदनाएँ होती हैं। कफजन्य व्रणशोथ पाण्डु वर्णका, कठिन, स्निग्ध, शीत और धीरे-धीरे फैलनेवाला होता हैं। उसमें कण्डू-गौरव आदि कफवेदनाएँ होती हैं। सन्निपातज व्रणशोथमें ऊपर लिखे हुए तीनों प्रकारके दोषज व्रणशोथोंके लक्षण, वर्ण और वेदनाएँ होती हैं। रक्तज व्रणशोथ अति कृष्ण वर्णका होता है और उसमें पैत्तिक व्रणशोथके समान लक्षण होते हैं। आगन्तुज व्रणशोथ पित्तज और रक्तज शोथके समान लक्षणवाला तथा लाल रंगका होता है[1]।

आम, पच्यमान और पक्व व्रणशोथके लक्षण—

व्रणशोथ जब बाह्य (प्रलेप, उपनाह-पुलटिस आदि) तथा आभ्यन्तर (विरेचन-रक्त-मोक्षण आदि) क्रियाओं-उपचारोंसे शान्त नहीं होता है या विपरीत चिकित्सा की जाती है अथवा दोष अधिक-प्रबल हो तब पाकाभिमुख होता (पकने लगता) है। उसकी आम (कच्चे), पच्यमान (पकते हुए) और पक्व (पक्के हुए) अवस्थाओंके लक्षण कहे जाते हैं। यदि व्रणशोथमें उष्णता कम मालूम हो, शोथका वर्ण त्वचाके स्वाभाविक वर्णके समान हो, शोथका स्पर्श शीत हो (गरम न हो), शोथ स्थिर हो (शीघ्र फैलता न हो), वेदना मंद-कम हो और शोथ अल्प हो-उभड़ा हुआ न हो तो उसको **आम-कच्चा** जानना चाहिए। जब व्रणशोथमें सूई चुभने सी, च्यूँटियाँ काटने और चलनेकी सी, शस्त्रसे काटने जैसी, शक्ति (शस्त्रविशेष) से भेदन करनेकी सी, दण्ड-लाठीसे मारने की सी, हाथसे दवानेकी सी, अंगुलीसे मसलनेकी सी, आगसे जलनेकी सी, क्षारसे पकनेकी सी, पार्श्वमें आग रखी होनेकी सी और चूसनेकी सी वेदना होती हो, उस मनुष्यको विच्छू काटे हुएके समान खडे रहने-बैठने और सोनेमें शांति नहीं मिलती हो, शोथ पानीसे भरी हुई मशकके समान तना सा मालूम होता हो तथा त्वचाका वर्ण बदलना-सूजन बढना-ज्वर-दाह-प्यास अधिक लगना और अन्न पर अरुचि होना ये लक्षण हों तो उसको **पच्यमान** जानना चाहिए। वेदनाओंकी शांति,

---

१ "तस्य दोषरूप-व्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः। तत्र वातश्वयथुः कृष्णोऽरुणो वा परुषो मृदुरनवस्थिताश्चात्र तोदादयो वेदनाविशेषा भवन्ति, पित्तश्वयथुः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति, श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः कठिनः स्निग्धः शीतो मन्दानुसारी कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति, सर्ववर्ण-वेदनः सन्निपातश्वयथुः; पित्तवच्छोणितजोऽति कृष्णश्च, पित्त-रक्तलक्षण आगन्तुर्लोहितावभासश्च।" (सु. सू. अ. १७)। "विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम्। कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः॥" (मा. नि. व ४१)।

शोथका वर्ण पाण्डु होना, शोथ कम हो जाना, शोथमें वलियाँ पड़ना, त्वचा फटना, अंगुलीसे दबाने पर खड्डा पड़ कर फिर ऊपर उठ आना, शोथके एक सिरेको दबाने पर मशकमें भरे हुए जलके सदृश पूयका दूसरे सिरे पर चला जाना, रह-रह कर टीस चलना, शोथमें कण्डू आना, पूय एक स्थानमें इकट्ठा होकर मध्यमें उभड आना, उपद्रव शान्त होना और खाने पर रुचि होना ये पक्व व्रणशोथके लक्षण हैं। कफज व्रणशोथमें अथवा कई अभिघातज शोथोंमें (शोथ अन्दर दूरीपर होनेके कारण) सपूर्ण पक्वलक्षण देखनेमें नहीं आते और त्वचा स्वाभाविक वर्णवाली, शोथके स्पर्शमें उष्णताका अभाव, शोथमें स्थिरता तथा पत्थरके समान कठिनता देखनेमें आती है; वहाँ वैद्यको वह शोथ ठीक पका है कि नहीं यह मोह हो सकता है, वहाँ यदि ऊपर कहे हुए अन्य पक्व लक्षण उपलब्ध हों तो इस शोथको पक्व ही जानना चाहिए। जो भिषक्-चिकित्सक आम, पच्यमान और पक्व व्रणशोथके लक्षणोंको जानता है वही वैद्य (विद्वान् चिकित्सक) है, अन्य तो प्राण और धनको हरनेवाले चोर जैसे हैं[1]।

---

[1] "न यत्र बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न शक्यते प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययाद्बहुत्वाद्वा दोषाणां तत्र पाकाभिमुखो भवति। तत्रामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्र मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणानि, सूचीभिरिव निस्तुद्यते, दश्यत इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसर्प्यत इव, छिद्यत इव शस्त्रेण, भिद्यत इव शक्तिभिः, ताड्यत इव दण्डेन, पीड्यत इव पाणिना, घट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्नि-क्षाराभ्यां, ओषचोष-परिदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोथो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं, शोफाभिवृद्धिः, ज्वर-दाह-पिपासा-भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गं, वेदनोपशान्तिः, पाण्डुताऽल्पशोफता, वलीप्रादुर्भावः, त्वक्परिपुटनं, निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते चावपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः, कण्डूः, उन्नतता व्याधेः, उपद्रवशान्तिः, भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्। कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मत्वा भिषङ्मोहमभ्युपैति, तत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यमरुग्भवद्घनता च, न तत्र मोहमुपेयात्। आमं विपच्यमानं च सम्यक्पक्वं च यो भिषक्। जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥" (सु. सू. अ. १७)। "मन्दोष्मताऽल्पशोफत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता। मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम्॥ दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते। पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा॥ भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते। पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते॥ सोषा-चोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते। आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत्॥ न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत्। ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम्॥ वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः। प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः॥ उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम्। बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते॥ भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम्।" (मा. नि. अ. ४१)।

पाककालमें तीनों दोष मिलकर व्रणशोथको पकाते हैं—

वातके विना पीडा नहीं होती, पित्तके विना पाक नहीं होता और कफके विना पूय नहीं होता, अत पाककालमें तीनों दोष मिल कर सब प्रकारके व्रणशोथोंको पकाते हैं। कई विद्वान् कहते हैं कि—पाककालमें पित्त प्रबल-प्रकुपित होकर तथा वात और कफको दबा कर रक्तका पाक करके पूय उत्पन्न करता है[1]।

पक्व शोथकी उपेक्षासे हानि—

जैसे अग्नि तृण-काष्ठ आदिके सचयका आश्रय करके तथा वायु-हवासे प्रेरित होकर सब-तृणादि सचयको जला देता है इस प्रकार पूय भी यदि बाहर निकलने न पावे या निकाला न जाय तो मास-सिरा और स्नायुको खाता है—उनको भी पूयरूप बना देता है। अत पक्व शोथ यदि स्वयं विदीर्ण न हो तो शस्त्रकर्म करके पूयको निकाल देना चाहिए। जो वैद्य कच्चे शोथमें शस्त्रकर्म करता है या पक्व शोथकी उपेक्षा करता है—उसमें शस्त्रकर्म करके पूय नहीं निकाल देता है-इन दोनो अनिश्चितकारी वैद्योंको चंडालके समान जानना साहिए[2]।

व्रणनिदानाध्याय--सप्तम।

वक्तव्य—व्रणशोथ पक्व कर फूटने पर व्रण होता है, अत व्रणशोथके अनन्तर व्रणनिदान लिखा जाता है।

कारणभेदसे व्रणके भेद—

व्रणके दो भेद होते हैं—**शारीर-निज** और **आगन्तु**। शारीर व्रण वात, पित्त, कफ, रक्त और सन्निपात—इनके प्रकोपसे होता है। आगन्तु व्रण मनुष्य-पशु-पक्षि-व्याघ्रादि हिंस्र प्राणि-सर्प आदिके दन्त-नख आदिसे तथा ऊँचेसे गिरना, दबना, प्रहार, अग्नि, क्षार, विष, तीक्ष्ण औषध, लकडीका टुकडा-घडे आदिका टुकडा-सींग-तथा चक्र-बाण-परशु-कुन्त-शक्ति आदि आयुधोंका अभिघात-इन कारणोंसे होता है[3]।

---

१ "नर्तेऽनिलाद्रुङ् विना च पित्त पाक कफ चापि विना न पूय । तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोफास्त्रय एव दोषा ॥ कालान्तरेणाभ्युदित तु पित्त कृत्वा वशे वात-कफौ प्रसह्य । पचत्यत शोणितमेष पाको मतोऽपरेषा विदुषा द्वितीय ।॥ (सु सू अ १७)। २ "कक्ष समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरित सदहति प्रसह्य । तथैव पूयोऽप्यविनि सृतो हि मास सिरा स्नायु च खादतीह ॥ आम विदह्यमान च सम्यक्पक्व च यो भिषक् । जानीयात् स भवेद्वैद्य. शेषास्तस्करवृत्तय ॥ यश्छिनत्त्याममज्ञानात् यश्च पक्वमुपेक्षते । श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥" (सु सू अ १७)। ३ "द्वौ व्रणौ भवत —शारीर, आगन्तुश्च । तयो. शारीर पवन-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपातनिमित्त. । आगन्तुरपि पुरुष-पशु-पक्षि-व्याल-सरीसृप-प्रपतन-पीडन-प्रहाराग्नि-क्षार-विष-तीक्ष्णौषध शकल-कपाल शृङ्ग-चक्रेषु-परशु-शक्ति-कुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्त. ।" (सु चि. अ. १)।

'व्रण'शब्दकी निरुक्ति—

व्रण-जखम घाव भरने पर भी जन्म भर शरीरमें उसका चिह्न रह जाता है, इस प्रकार यह शरीरका (व्रणस्थानका) आवरण करता है इस लिए इस व्याधिको **व्रण** कहते हैं। 'व्रण' गात्रविचूर्णने-शरीरको हानि पहुँचाना–विकृत वर्ण करना इस धातुसे **व्रण** शब्द बनता है[1]।

व्रणके आश्रयस्थान—

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थिसन्धि, अस्थि, कोष्ठ और मर्मस्थान ये आठ व्रणके आश्रय (व्रणवस्तु-व्रणवास्तु) हैं, इन स्थानोंमें व्रण होता है। उत्तरोत्तर स्थानमें होनेवाले व्रण पूर्व पूर्व स्थानमें हुए व्रणकी अपेक्षया दुःसाध्य–कष्टसाध्य होते हैं[2]।

निज व्रणोंकी सम्प्राप्ति—

अपने-अपने प्रकोपक कारणोंसे दुष्ट वात-पित्त और कफ बहिर्भाग (त्वचा और मांस) का आश्रय करके निज-दोषज व्रणोंको उत्पन्न करते हैं[3]।

वातज व्रणके लक्षण—

जो व्रण स्तब्ध-निश्चेष्ट सा-कठिन स्पर्शवाला-अल्प स्राववाला-बहुत पीड़ायुक्त तथा श्याम या अरुण वर्णका हो, जिसमें सूई चुभने सी वेदना और स्फुरण (फड़कन) हो, जो पतला हो, स्पर्शमें शीत हो, रूक्ष हो, जिसमें चटचटाहट और तनाव और भेदनवत् पीड़ा हो, जो मांसरहित (जिसमें बाहरसे मांस न दिखता हो), जिससे दहीके मण्ड–मांसके धोवन और रूखी घास भिगोये जल जैसा अल्प स्राव होता हो उसको

---

१ "वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति। आदेहधारणात्तस्माद्व्रण इत्युच्यते बुधैः॥" (सु. सू. अ. २१)। "वृणोति छादयति, उत्पन्नो व्रण आदेहधारणं वृणोति, कथं वृणोतीत्याह–यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु व्रणकिणमादेहधारणान्न नश्यति, तेन व्रणकार्येण किणेन धारणप्रकर्षाद्व्रणसंज्ञा फलति।" (च. द.)। "व्रण गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः।" (सु. चि. अ. १)। "व्रणशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह–'व्रण गात्रविचूर्णने' इत्येव धातुः, गात्रविवर्णनमित्यस्यार्थः। व्रणयति गात्रवैवर्ण्यं करोतीत्यर्थः।" (ड.)। २ "त्वङ्मांस-सिरा-स्नाय्वस्थि-सन्धि कोष्ठ-मर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः।" (सु. सू. अ. २२)। "व्रणवस्तूनि व्रणाधिष्ठानानि। व्रणसन्निवेशो व्रणसंस्थानम्।" (ड.)। "यदपि रक्त-मेदो-मज्जादि व्रणेऽवदृश्यते, तदपि सिरा स्नाय्वाश्रयत्वेनैव भवति, न तु तदधिकरक्ताद्याश्रयत्वेन इत्येके, अन्ये तु 'सिरया रुधिरं, स्नायुसम्बन्धेन मेदः, अस्थ्ना च तात्स्थ्यान्मज्जा गृह्यते' इति वदन्ति।" (च. द.)। "त्वक्-सिरा-मांस-मेदोऽस्थि-स्नायु-मर्मान्तराश्रयाः। व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे॥" (च. चि. अ. २५)। "त्वगामिष-सिरा स्नायु-सन्ध्यस्थीनि व्रणाशयाः। कोष्ठो मर्म च तान्यष्टौ दुःसाध्यान्युत्तरोत्तरम्॥" (अ. हृ. उ. अ. २५)। ३ "यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वात-पित्त-कफा नृणाम्। बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान्॥" (च. चि. अ. २५)।

वातिक व्रण जानना चाहिए[1] ।

पित्तज व्रणके लक्षण—

जो व्रण तृषा, मोह (मूर्च्छा), ज्वर, आर्द्रता, दाह, त्वचाका फटना, दुर्गन्ध, दुर्गन्धी स्राव, शीघ्र उत्पन्न होना, पीला-लाल-कपिल (तामडा) या गहरा आसमानी-टेसूके फूलोंका क्वाथ-मूत्र-राख मिलाया हुआ जल या तैल सदृश वहुत और उष्ण स्राव होना, पाक, पीतवर्णकी पिडकाएँ, क्षारके क्षतके समान व्यथा और उष्णता इन लक्षणों-से युक्त हो उसको **पैत्तिक** जानना चाहिए[2] ।

कफज व्रणके लक्षण—

जो व्रण वहुत पिच्छा (लुआव) युक्त, गुरु, स्निग्ध, जकड़ा सा, मन्द वेदनावाला, पाण्डु वर्णका, किंचित् आर्द्र, देरीसे होनेवाला, निरन्तर अधिक कण्डूयुक्त, स्थूल ओष्ठवाला, स्तब्ध-सिरा और स्नायुके जालसे व्याप्त, कठिन, शीत-गाढ़े और पिच्छिल स्राववाला हो उसको **कफज** जानना चाहिए[3] ।

रक्तज व्रणके लक्षण—

जो व्रण प्रवालसदृश वर्णका, काले फोडे और फुन्सियोंके जालसे व्याप्त, घोडे बाँधनेके स्थानके सदृश गन्धवाला, वेदनायुक्त, जिससे धुआँ सा उठता हो ऐसा, रक्तवर्ण पूयके स्रावयुक्त तथा पैत्तिक व्रणके लक्षणोंसे युक्त हो उसको **रक्तज** जानना चाहिए[4] ।

---

१ "स्तब्ध. कठिनसस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसभव ॥" (च चि अ २५)। "श्यावारुणाभस्तनु शीत पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशील: स्फुरणायाम-तोद-भेद-वेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्।" (सु चि. अ १)। "तत्र मारुतात् । श्याव कृष्णोऽरुणो भस्म-कपोतास्थिनिभोऽपि वा ॥ भस्ममास-पुलाकाम्बुतुल्य-तन्वल्पसस्रुति । निर्मांसस्तोद-भेदाढ्यो रूक्षश्चटचटायते ॥" (अ हृ उ अ. २५)। २ "तृष्णा-मोह-ज्वर-क्लेद-दाह-दुष्ट्यवदारणै । व्रण पित्तकृत विद्याद्गन्धै. स्रावैश्च पूतिकै ॥" (च चि अ २५)। "क्षिप्रज पीत-नीलाभ किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाक रागविकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति पित्तात् ॥" (सु चि. अ १)। "पित्तेन क्षिप्रज पीतो नील कपिल-पिङ्गल. । मूत्र-किंशुक-भस्माम्बु-तैलाभोष्ण-बहुस्रुति । क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्म-पाकवान् ॥" (अ हृ उ. अ. २५)। ३ "बहुपिच्छो गुरु स्निग्ध स्तिमितो मन्दवेदन. । पाण्डुवर्णोऽल्पसक्लेदश्चिरकारी कफव्रण ॥" (च चि अ २५)। "प्रततचण्डकण्डूबहुल स्थूलौष्ठ स्तब्धसिरा-स्नायुजालावतत कठिन. पाण्ड्ववभासो मन्दवेदन शुक्ल-शीत-सान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति कफात् ।" (सु चि अ. १)। "कफेन पाण्डु कण्डूमान् बहु श्वेत-घनस्रुति । स्थूलौष्ठ कठिन स्नायु-सिराजालततो-ऽल्परुक् ॥" (अ हृ उ अ २५)। ४ "प्रवालदलनिचयप्रकाश कृष्णस्फोट-पिडका-जालोपचितस्तुरगस्थानगन्धि. सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात् ।" (सु. चि. अ. १)। "प्रवालरक्तो रक्तेन सरक्त पूयमुद्गिरेत् । वाजिस्थानसमो गन्धे युक्तो लिङ्गैश्च पैत्तिकै ॥" (अ. हृ उ. अ २५)।

द्वन्द्वज और सान्निपातिक व्रणोंके लक्षण—

जो व्रण सूई चुभने सी वेदना, दाह, धुआँ उठता हुआ सा प्रतीत होना, पीत और अरुण वर्णका तथा पीत और अरुण वर्णके स्राववाला हो उसको **वात-पित्तज** जानना चाहिए। जो व्रण कण्डू और सूई चुभने सी वेदनायुक्त, रूक्ष, गुरु तथा कठिन हो और जिससे शीत-पिच्छिल तथा अल्प स्राव होता हो उसको **वातश्लैष्मिक** जानना चाहिए। जो व्रण गुरु, दाहयुक्त, उष्ण और पीले तथा पाण्डु वर्णके स्राववाला हो उसको **पित्तश्लैष्मिक** जानना चाहिए। जो व्रण रूक्ष, पतला, सुई चुभने सी वेदनायुक्त, सुन्न सा, रक्त और अरुण वर्णका तथा रक्त और अरुण वर्णके स्राव वाला हो उसको **वात-रक्तज** जानना चाहिए। जो व्रण घृतमण्ड जैसा, मछली धोये हुए जलके समान गन्ध-वाला, मृदु, फैलनेवाला तथा उष्ण और काले रंगके स्राववाला हो उसको **पित्त-शोणितज** जानना चाहिए। जो व्रण रक्तवर्ण, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, कण्डूयुक्त, स्थिर (न फैलनेवाला) तथा कुछ लाल और पाण्डुवर्णके स्राववाला हो उसको **श्लेष्मशोणितज** जानना चाहिए। जो व्रण फड़कता सा, सूई चुभता सा और धुआँ उठता सा प्रतीत होता हो तथा जिससे पीला-पतला और रक्त वर्णका स्राव होता हो उसको **वात-पित्त-शोणितज** जानना चाहिए। जो व्रण कण्डू-स्फुरण-चिम-चिमाहटयुक्त हो तथा जिससे पाण्डु वर्णके और गाढे रक्तका स्राव होता हो उसको **वात-पित्त-शोणितज** जानना चाहिए। जो व्रण दाह-पाक-ललाई और कण्डूवाला हो तथा जिससे पाण्डुवर्ण और गाढे रक्तका स्राव होता हो उसको **पित्त-श्लेष्म-शोणितज** जानना चाहिए। जो व्रण ऊपर लिखे हुए एकदोषज तीनों प्रकारके व्रणोंके वर्ण-वेदना और स्रावोंसे युक्त हो उसको **पवन-पित्त-कफज (त्रिदोषज)** जानना चाहिए। जो व्रण विशेष जलन, मन्थन (मथानीसे मथना), फड़कना, तोद, दाह, पाक, ललाई, कण्डू और सुन्नतायुक्त हो तथा नाना प्रकारके वर्ण-वेदना और स्रावयुक्त हो उसको **पवन-पित्त-कफ-शोणितज** जानना चाहिए[1] (सु.)।

---

१ "तोद-दाह-धूमायनप्राय पीतारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्यां, कण्डूयनशील स-निस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहु शीत-पिच्छिलस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्या, गुरु सदाह उष्ण पीत-पाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्या, रूक्षस्तनुस्तोदबहुल सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातशोणिताभ्या, घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिर्मृदुर्विसर्प्युष्ण-कृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्या, रक्तो गुरु स्निग्ध पिच्छिल कण्डूप्राय स्थिरो सरक्त-पाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्या, स्फुरण-तोद-दाह-धूमायनप्राय पीत तनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्य , कण्डू-स्फुरण-चुमचुमायन-प्राय पाण्डु-घनरक्तास्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्य , दाह-पाक-राग-कण्डूप्राय पाण्डु-घन-रक्तास्रावी चेति पित्तश्लेष्मशोणितेभ्य , त्रिविधवर्ण-वेदना-स्रावविशेषोपेत पवनपित्तकफेभ्य , नि-र्दहन-निर्मथन-स्फुरण-तोद-दाह-पाक-राग-कण्डू-स्वापबहुलो नानावर्ण-वेदना-स्रावविशेषोपेत. पवन-पित्तकफशोणितेभ्य ।" (सु चि अ १)।

शुद्ध व्रणके लक्षण—

जो व्रण जिह्वाके तल जैसा, मृदु-कोमल, स्निग्ध स्पर्शवाला, चिकना, वेदनारहित, सुव्यवस्थित (कहीं ऊँचाई-कहीं नीचाई आदिसे रहित), स्रावरहित, श्याव वर्णके ओष्ठ-वाला, पिडकारहित, समतल या बीचमें कुछ उभरा हुआ हो उसको शुद्ध जानना चाहिए[1] ।

निज व्रणकी आकृतियाँ—

संक्षेपमें दोषज-निज व्रणोंकी ये चार स्वाभाविक आकृतियाँ होती हैं—आयत (दीर्घ लंबा), चतुरस्र चतुष्कोण (चौकोन), वृत्त (गोल) और त्रिपुटक (त्रिकोण) । इनके सिवायकी अर्धचन्द्र-स्वस्तिक आदि विकृत आकृतियाँ कहलाती हैं; जो दु साध्य होती हैं । आगन्तु व्रणोंकी आकृतियाँ अभिघातानुसार अनेक प्रकारकी होती हैं[2] ।

दुष्ट व्रणके लक्षण—

जो अति संवृत (अति संकुचित मुखवाला), अति विवृत (अति चौड़े मुखवाला), अति कठिन, अति मृदु, अवसन्न (नीचा-मांसरहित), अति शीत, अति उष्ण, कृष्ण-पीत-शुक्ल या रक्त-इन वर्णोंमेंसे किसी एक वर्णवाला, भयानक (भैरव), सड़े हुए (दुर्गन्धी) पूय-मांस-स्नायु-सिरा आदिसे पूर्ण (भरा हुआ), सड़े हुए-दुर्गन्धी पूयके स्राववाला, उन्मार्गी (टेढा), उत्सगी (कोटर-पोलवाला), अमनोज्ञ (मनको अप्रिय) दिखाव और गन्धवाला, अत्यन्त वेदनावाला, दाह-पाक-राग (ललाई) कण्डू-शोथ और पिडकाओंसे उपद्रुत, अति दुष्ट रक्तस्राववाला, दीर्घकालसे उत्पन्न हुआ (दीर्घकालानुबन्धी) (सु), अवसन्नवर्त्मा (संकुचित मार्गवाला), स्थूलवर्त्मा (चौड़े मार्गवाला), भूरापन लिए लाल-नील या श्याव वर्णका, रोप्य (बाहरसे शुद्ध दिखनेवाला परन्तु भीतरसे दोषयुक्त और बार-बार भरने पर फिर फूटने वाला) और कुम्भीफलके सदृश मुखवाला हो (च.) उनको दुष्ट व्रण जानने चाहिए[3] ।

---

१ जिह्वातलाभो मृदु स्निग्ध श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥" (सु चि अ १) । २ "तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमास , शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति ।" (सु सू अ २२) । "शेषा इति उक्तेभ्योऽन्या अर्धचन्द्र-स्वस्तिकाद्या व्रणाकृतयो विकृता इत्यर्थं ।" (ड) । ३ "तत्रातिसंवृतो-ऽतिविवृतो-ऽतिकठिनो-ऽतिमृदुरुत्सन्नो-ऽवसन्नो-ऽतिशीतो-ऽत्युष्ण कृष्ण-रक्त-पीत-शुक्लादीना वर्णानामन्यतमवर्णो भैरव पूतिपूय-मांस सिरा स्नायुप्रभृतिभि. पूर्ण पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञ-दर्शन-गन्धो-ऽत्यर्थं वेदनावान् दाह-पाक-राग-कण्डू-शोफ-पिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिङ्गानि ।" (सु सू अ २२) । "श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूल-वर्त्माऽतिपिञ्जर· । नील. श्यावोऽतिपिडको रक्त कृष्णोऽतिपूतिक ॥ रोप्य कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणा ॥" (च चि अ २५) । "रोप्यलक्षण तन्त्रान्तरादवगन्तव्य, तथा हि भोज.—"रूढा रूढा प्रकुप्यन्ति सान्तर्दोषा पुन पुन । बहि शुद्धा इवाभान्ति रोप्यास्ते सम्प्रकीर्तिता ॥" इति (च. द.) ।

व्रणोंके स्रावोंका वर्णन—

लसीका, जल, पूय, रक्त, हारिद्र (हलदी जैसा), अरुण, पिंजर (भूरापन लिए लाल), कषाय (काढे जैसे रंगका), नील, स्निग्ध, रूक्ष, श्वेत और काला-इस प्रकार स्वरूपभेदसे व्रणके स्राव चौदह प्रकारके होते हैं (च.)। त्वचा घृष्ट होने (घिस जाने) या कटने पर, फोडा स्वयं फूटने पर या उसको शस्त्रद्वारा फोडनेपर त्वचासे जो स्राव होता है वह पानी जैसा, कुछ दुर्गन्धी और पीली झलकवाला होता है। मांसगत व्रणमें जो स्राव होता है वह घी जैसा, गाढा, श्वेत वर्णका और पिच्छिल होता है। सिरा-रक्तवाहिनी तुरन्त कटी जाने पर रक्तकी अति प्रवृत्ति होती है और सिरा पक जाने पर पानीके नलसे जैसे पानी की धारा आवे इस प्रकार सिरासे पूय आता है और स्राव पतला, विच्छिन्न (बीच-बीचमें रुक रुक कर), पिच्छिल, अवलम्बी (शीघ्र अलग न होनेवाला) और ओस जैसा होता है। स्नायुगत व्रणसे होनेवाला स्राव स्निग्ध, गाढा और कुछ ललाई लिए हुए नाकसे निकलने वाले कफ (सिंघाणक)के सदृश होता है। अस्थिमें अभिघात होने-अस्थि फटने-भिन्न होने-दोष-पूयसे अवदारित (विदीर्ण) होने या भक्षित होने पर अस्थि निःसार और धोई हुई सीप जैसा दिखता है तथा व्रणसे मज्जा और रक्तमिश्रित स्निग्ध स्राव होता है। सन्धिगत व्रणको दबानेसे उससे स्राव नहीं होता है किन्तु सन्धिस्थानके प्रसारण (फैलाने)-आकुञ्चन (सिकुडने)-ऊंचा करने या नीचा करनेसे तथा दौडने-खांसने और प्रवाहण (मल-मूत्रादि विसर्जन करनेके लिए जोर लगाने)से स्राव होता है। स्राव पिच्छिल, लटकता सा (तार बंधा हुआ सा), रक्तमिश्रित तथा मथा हुआ सा होता है। कोष्ठगत व्रणसे रक्त-मूत्र-मल-पूय और जल सदृश स्राव होता है। मर्मगत स्राव त्वचा आदिके अन्तर्गत होनेसे पृथक् नहीं कहा जाता है। त्वगादिगत स्रावोंमें वातसे परुष, श्याववर्ण, ओस-दहीका मंड-क्षारमिश्रित जल-मांसके धोवन और सूखी घास भिगोये हुए जलके सदृश, पित्तसे गोमेद मणि, गोमूत्र, भस्म, शंख, काढा, मधुसे बनाया हुआ मद्य (माध्वीक) और तैल-सदृश, कफसे मक्खन-कसीस-मज्जा-तिलकल्क-नारियल का जल और सूअरकी वसा जैसा, तथा सन्निपातसे नारियलका पानी-खीरेका रस-कांजीके ऊपरका स्वच्छ जल-ककडीके रस-प्रियङ्गुके फल-यकृत् और मूँगके यूषके सदृश स्राव होता है। पक्वाशयसे सूखी घास भिगोये हुए जल जैसा, रक्ताशय (यकृत् और प्लीहा)से क्षारमिश्रित जल जैसा और त्रिकसन्धिगत व्रणसे आमाशयद्वारा खेसारीके यूषके सदृश जो स्राव आता है वह असाध्य होता है[१]।

---

१ "लसीका-जल-पूयासृग्हारिद्रारुण-पिञ्जराः। कषाय-नील-हरित्-स्निग्ध-रूक्ष-सितासिताः॥ इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश।" (च. चि. अ. २५)। "अत ऊर्ध्वं सर्वस्रावान् वक्ष्यामः—तत्र घृष्टासु छिन्नासु वा त्वक्षु स्फोटे भिन्ने विदारिते वा सलिलप्रकाशो भवत्यास्रावः किंचिद्विस्रः पीतावभासश्च, मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेतः पिच्छिलश्च, सिरागते सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृत्तिः पक्वासु च तोयनालीभिरिव तोयागमनं पूयस्य, आस्रावश्चात्र तनु-

व्रणवेदनाओंका वर्णन—

सर्व प्रकारके व्रणोंमें **तोदन** (सूई चुभनेकी सी), **भेदन** (फटनेकी सी) **ताडन** (मारने सी), **आयामन** (फैलानेकी सी), **मन्थन** (मथनेकी सी), **विक्षेपण** (फेंकनेकी सी), **चुमुचुमायन** (चिमचिमाहट), **निर्दहन** (जलानेकी सी), **अवभञ्जन** (टूटनेकी सी), **स्फोटन** (फोडना), **विदारण** (फाडना), **उत्पाटन** (उखाडना), **विविधशूल**, **विश्लेषण** (पृथक् करनेकी सी), **विकिरण** (बिखरनेकी सी), **स्तम्भन** (जकडनेकी सी), **पूरण** (भरनेकी सी), **स्वाप** (सुन्नता), **आकुञ्चन** सिकुडनेकी सी) और **अङ्कुशिका** (अकुश मारनेकी सी) ये वेदनाएँ होती हैं। वातिक व्रणमें विना निमित्तके विविध प्रकारकी वेदनाओंका प्रादुर्भाव होता है और ठहर-ठहर कर वार-वार वेदना होती है। पैत्तिक व्रणमें पार्श्वमें आग रखी हो ऐसी वेदना, चूसनेकी सी वेदना, जलन, अन्दरसे धुआँ उठता हो ऐसा मालूम होना, शरीर पर अगार फैला दिया हो ऐसी प्रतीति, पकना, ऊष्मा-गरमी बढना तथा व्रण पर क्षार लगानेकी सी वेदना होना-ये लक्षण होते हैं। रक्तज व्रणमें पैत्तिक व्रणके सदृश वेदनाएँ होती हैं। श्लैष्मिक व्रणमें कण्डू, भारीपन, सुन्नता, उपदेह (लिपाहुआ सा), वेदना कम होना, स्तब्धता और शीतत्व ये लक्षण होते हैं। जिस व्रणमें सर्व प्रकारकी वेदनाएँ होती हों उसको सान्निपातिक जानना चाहिए[1]।

विच्छिन्न. पिच्छिलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च, स्नायुगत स्निग्धो घन सिंघाणकप्रतिम. सरक्तश्च, अस्थिगतोऽस्थन्यभिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते वा दोषभक्षितत्वादस्थि नि सार शुक्तिधौतमिवाभाति, आस्रावश्चात्र मज्जमिश्र सरुधिर स्निग्धश्च, सन्धिगत पीड्यमानो न प्रवर्तते, आकुञ्चन-प्रसारणोन्नमन-विनमन-प्रधावनोत्कासन-प्रवाहणैश्च स्रवति, आस्रावश्चात्र पिच्छिलोऽवलम्बी सरुधिरोन्मथितश्च, कोष्ठगतोऽसृङ्मूत्र-पुरीष-पूयोदकानि स्रवति, मर्मगतस्त्वगादिष्ववरुद्धत्वान्नो- च्यते। तत्र त्वगादिगतानामास्रावाणा यथाक्रम पारुष्य-श्यावावश्याय-दधिमस्तु-क्षारोदक-मांसधावन- पुलाकोदकसन्निभत्वानि मारुताद्भवन्ति, पित्ताद्गोमेदक-गोमूत्र-भस-शङ्ख-कषायोदक-माध्वीक-तैलस- न्निभत्वानि; पित्तवद्रक्तादतिविस्रत्व च, कफान्नवनीत कासीस-मज्ज-पिष्ट-तिल-नालिकेरोदक-वराहवसा- सन्निभत्वानि, सन्निपातान्नालिकेरोदकैर्वारुकरस-काञ्जिकप्रसादारुकोदक-प्रियङ्गुफल-यकृन्मुद्गयूषस- वर्णत्वानीति ॥'' (सु. सू अ २२)। पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभ.। क्षारोदकनिभ. स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात् स्रवन् ॥ आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिज । स्रावानेतान परीक्ष्यादौ तत. कर्माचरेद्भिषक् ॥'' (सु. सू. अ. २२)।

[1] ''अत ऊर्ध्वं सर्वव्रणवेदना वक्ष्याम —तोदन-भेदन-ताडन-च्छेदनायामन-मन्थन-विक्षेपण- चुमुचुमायन-निर्दहनावभञ्जन-स्फोटन-विदारणोत्पाटन-कम्पन-विविधशूल-विश्लेषण विकिरण-स्तम्भन- पूरण-स्वापाकुञ्चनाङ्कुशिका सम्भवन्ति। अनिमित्ततो विविधवेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्मुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदनाविशेषास्त वातिकमिति विद्यात्, ओष-चोष-परिदाह-धूमायनानि यत्र गात्रमङ्गारावकीर्णमिव

सर्वप्रकारके व्रणोंके वर्ण—

जो व्रण राख, कबूतरकी हड्डी, परुष (कड़े)–अरुण या काले रंगका हो उसको वातिक; जो व्रण गहरे आसमानी-पीले-हरे-श्याव-काले-लाल-पिङ्गल या कपिल (तामड़े) वर्णका हो उसको रक्तज या पित्तज, जो व्रण श्वेत, स्निग्धवर्ण और पाण्डु वर्णका हो उसको श्लेष्मज तथा जो व्रण सर्व वर्णोंसे युक्त हो उसको सान्निपातिक जानना चाहिए[1]।

व्रणके गन्ध—

घृत, तैल, वसा, पूय (मवाद), रक्त, शव, खट्टा पदार्थ और सड़ा हुआ पदार्थ इन आठमेंसे किसी एकके सदृश गन्ध होना–इस प्रकार आठ प्रकारके व्रणके गन्ध होते हैं[2]।

व्रणके उपद्रव—

विसर्प, पक्षाघात, सिरास्तम्भ, अपतानक-आक्षेपक, मूर्च्छा, उन्माद, व्रणमें अधिक पीड़ाएँ, ज्वर, तृषा, हनुग्रह, खाँसी, उलटी, अतिसार, हिक्का, श्वास और कम्प (शरीर काँपना)–ये सोलह व्रणके उपद्रव हैं[3]।

सुखसाध्य व्रणके लक्षण—

जो व्रण त्वचा और मांसमें हुआ हो, जहाँ अतिशय पीड़ा न हो और औषधोपचार तथा शस्त्रकर्म करनेमें सुविधा हो ऐसे देश-स्थानमें हुआ हो, तरुण मनुष्यको हुआ हो, उपद्रव रहित हो, औषधोपचार और पथ्य सेवनमें तत्पर मनुष्यको हुआ हो, नया उत्पन्न हुआ हो तथा शीतकालमें हुआ हो वह व्रण सुखसाध्य होता है[4] (च.)। तरुण, दृढ शरीरवाले, शारीरिक बलसपन्न और मनोबलवाले-इनके व्रण सुखसाध्य

पच्यते यत्र चोष्माभिवृद्धि क्षते क्षारावसिक्तवच्च वेदनाविशेषास्त पैत्तिकमिति विद्यात्, पित्तवद्रक्त-समुत्थं जानीयात्; कण्डूर्गुरुत्व सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्व स्तम्भ. शैत्य च यत्र त श्लैष्मिकमिति विद्यात्; यत्र सर्वासा वेदनानामुत्पत्तिस्त सान्निपातिकमिति विद्यात्।" (सु सू अ २२)।

१ "अत ऊर्ध्वं व्रणवर्णान् वक्ष्याम –भस्म-कपोतास्थिवर्ण परुषोऽरुण कृष्ण इति मारुतजस्य, नील. पीतो हरित श्याव कृष्णो रक्त पिङ्गल कपिल इति रक्त-पित्तसमुत्थयो, श्वेत स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य, सर्ववर्णोपेत सान्निपातिक इति।" (सु सू अ २२)। २ "सर्पिस्तैल-वसा-पूय-रक्त-शावाम्ल-पूतिका। व्रणाना व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धा प्रकीर्तिता॥ (च चि. अ २५)।" ३ "विसर्प पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानक। मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रह। कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वास सवेपथु। षोडशोपद्रवा प्रोक्ता व्रणाना व्रण-चिन्तक॥" (च चि अ २५)। ४ "त्वङ्मांसग सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रव.। धीमतो-ऽभिनव काले सुखसाध्य स्मृतो व्रण॥" (च. चि अ. २५)। "सुखे देशे यत्र क्लेशा-तिशयो न स्यादौषधदानादिषु च सुख स्यात्। X। धीमत इति क्रियाकरणे पथ्यसेवाया च रतस्य। सुखे काले हेमन्त-शिशिरयो.।" (ग.)।

होते हैं। जो पुरुष इन चारों गुणोंसे युक्त हों उनके व्रण अति सुखसाध्य होते हैं। क्योंकि तरुण मनुष्योंके व्रण उनकी धातुएँ वढती हुई होनेके कारण शीघ्र भर जाते हैं, दृढ शरीरवाले मनुष्योंमें मांस स्थिर और अधिक होनेसे प्रयुक्त शस्त्र सिरा-स्नायु आदि गम्भीर धातुओं तक नहीं पहुंचता, वलवान मनुष्योंको वेदना-अभिघान-आहारनियन्त्रण आदिसे ग्लानि (कृशता-शैथिल्य) नहीं आती तथा मनोवलयुक्त मनुष्योंको दारुण चिकित्साओंसे व्यथा नहीं होती, इसलिए इनके व्रण सुखसाध्य होते हैं। वृद्ध, कृश, दुर्वल और भीरु मनुष्योंके व्रण दु साध्य होते हैं (सु.)। जिसका जठराग्नि (पाचन शक्ति) वलवान् हो उसके व्रण भी सुखसाध्य होते हैं[1] (वा)।

किन स्थानोंमें हुए व्रण शीघ्र भर जाते हैं?—

नितंव, गुदा, लिंग, ललाट, गाल-कपोल, होंठ, पृष्ठ, कान, अण्डकोश, उदर, ग्रीवामूल और मुखके भीतर हुए व्रण सुखसे—विना कष्टके भर जाते हैं[2]।

दुश्चिकित्स्य व्रण—

आँख-दाँत-नासिका-अपाग(नेत्रके सिरेका भाग)-कान-नाभि-सेवनी-नितम्व-पार्श्व-कुक्षि-वक्ष स्थल-कॉख-स्तन और सन्धिभाग-इन स्थानोंके व्रण जिनसे आगन्तुक पूय-रक्त और वायु निकलती हो तथा जिसके भीतर शल्य रह गया हो वे व्रण दु साध्य होते हैं। जिन व्रणोंकी नाली नीचेके भागमें और मुख ऊपरकी ओर हो, जो व्रण रोमान्त-नखसमीपवर्ती भाग-मर्मस्थान और जङ्घास्थिमें हुए हो वे दु साध्य होते हैं। सेवनी समीपवर्ती कक्ष्यस्थिसश्रित अन्तर्मुख भगन्दर भी दु साध्य होता है। कुष्ठ विष-राजयक्ष्मा-और मधुमेह-इन रोगोंसे पीडित मनुष्योंको जो व्रण होते हैं वे कष्टसे भरते हैं तथा जिनके व्रणमें ही व्रण वनते हैं वे भी कष्टसाध्य होते हैं[3]।

---

१ "तत्र वय.स्थाना दृढाना प्राणवता सत्त्ववता (आत्मवता) च सुचिकित्स्या व्रणा., एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद्गुणचतुष्टय तस्य सुखसाधनीयतमा.। तत्र वय स्थाना प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति, दृढाना स्थिर-वहुमासत्वाच्छस्त्रमवचार्यमाण सिरा-स्नाय्वादिविशेषान्न प्राप्नोति. प्राणवता वेदनाभिघाताहारयन्त्रणादिभिर्न ग्लानिरुत्पद्यते, सत्त्ववता दारुणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति, तस्मादेतेषां सुखसाधनीयतमा । त एव विपरीतगुणा वृद्ध-कृशाल्पप्राण-भीरुषु द्रष्टव्या ।" (सु. सू अ. २३)। "दृढा गूढसन्धि-सिरा-स्नायव , एतेन सुसहत-समशरीरा अभिप्रेता । सत्त्ववता व्यसनेऽप्यनाकुलानाम्। प्राणवतामित्यस्याग्रे 'आत्मवता' इति पञ्चम गुण केचित् पठन्ति, तत्र आत्मवतां जितेन्द्रियाणामित्यर्थ. ।" (ड.)। "सुसाध्य सत्त्व-मासाग्नि-वयो-वलवति व्रण ।" (अ. उ. अ. २५)। २ "स्फिक्-पायु-प्रजन-ललाट-गण्डौष्ठ-पृष्ठ-कर्ण-फलकोषोदर-जत्रु-मुखाभ्यन्त स्था सुखरोपणीया व्रणा ।" (सु. सू अ २३)। ३ "अक्षि-दन्त-नासापाङ्ग-श्रोत्र-नाभि-जठर-सेवनी-नितम्व-पार्श्व-कुक्षि-वक्ष -कक्षा-स्तन-सन्धिभागगता. सफेनपूय-रक्तानिल-वाहिनोऽन्त.शल्याश्च दुश्चिकित्स्या , अधोभागाश्चोर्ध्वमार्गनिर्वाहिण , रोमान्तोपनख-मर्म-जङ्घास्थि-

याप्य व्रण—

अवपाटिका-निरुद्धप्रकश-सन्निरुद्धगुद और उदर रोग—इन रोगोंमें जो व्रण उत्पन्न हों, ग्रन्थिमें क्षत होकर जब कृमि उत्पन्न हों, प्रतिश्यायसे उत्पन्न व्रण-कोष्ठमें उत्पन्न व्रण-कुष्ठवालेके व्रण तथा प्रमेहवालेके व्रण—इनमे जब कृमि उत्पन्न हों और शर्करा (रेती)-सिकतामेह-वातकुण्डलिका-अष्ठीला-दन्तशर्करा—उपकुश(दन्तरोगविशेष)-कण्ठशालूक जहरीले वृक्षके दतवनसे दूषित मसूढे-विसर्प-अस्थिक्षत—उर क्षत-व्रणयुक्त ग्रन्थि-इन व्याधियोंमें जो व्रण उत्पन्न हों वे याप्य होते हैं[1]।

असाध्य व्रण—

जो व्रण मासपिण्डके समान ऊँचे उठे हुए हों (जिनमे मासपिण्ड ऊँचा उठा हुआ हो), जो बहुत बहनेवाले हों, जिनके अन्दर पीप और वेदना बहुत हो तथा जो घोडीके भगौष्ठके (या गुदके) समान ऊँची किनारवाले हों वे व्रण असाध्य होते हैं। जो व्रण कठिन तथा गायके सींगके तुल्य ऊँचे उठे हुए मृदु मासप्ररोह (मासाकुर वाले) हों वे असाध्य होते है। जो व्रण दुष्ट रक्तस्राव वाले या पतले और शीतल पिच्छाके स्राव वाले तथा मध्यमें उभरे हुए हों वे असाध्य होते हैं। जो व्रण नीचेकी ओर सछिद्र किनारे वाले हों और जिनके ऊपर शणसूत्र सदृश तन्तुका जाल फैला हुआ हो तथा जो देखनेमें भयानक हों वे असाध्य होते हैं। जिन दोषज व्रणोंसे वसा-मेद-मज्जा और मस्तुलुङ्गका स्राव होता हो वे असाध्य होते है। जिन कोष्ठस्थ व्रणोंसे पीले या काले रगका मल-मूत्र तथा वायु आता हो वे असाध्य होते हैं। जिन कोष्ठस्थ व्रणोंसे दोनों ओरके मुखसे पूय और रक्तका स्राव होता हो वे असाध्य होते हैं। क्षीण मासवाले-कृश मनुष्यके सब तरफ फैलनेवाले (सर्वतोगति) व्रण असाध्य होते है। छोटे मुखवाले और मासके बुद बुदेवाले व्रण असाध्य होते हैं। शब्दयुक्त वायु निकलने-वाले सिर और कण्ठके व्रण असाध्य होते है। कृश मनुष्योंके पूय और रक्त बहने वाले तथा अरुचि, अपचन, कास और श्वास—इन उपद्रवोसे युक्त व्रण असाध्य होते हैं। सिरका कपालास्थि भिन्न होकर मस्तुलुङ्ग दिखता हो तथा त्रिदोषके लक्षण मालूम होते हों और

सन्निनाश्च, भगन्दरमपि चान्तर्मुख सेवनी-कुटकास्थिसश्रितम्। कुष्ठिना विषजुष्टाना शोषिणा मधुमेहिनाम्। व्रणा कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषा चापि व्रणे व्रणा ॥" (सु सू अ २३)। "कृच्छ्रसाध्योऽक्षि-दशन-नासिकापाङ्ग-नाभिषु। सेवनी जठर-श्रोत्र-पार्श्व-कक्षा स्तनेषु च ॥" (अ हृ उ अ २५)।

[1] अवपाटिका-निरुद्धप्रकश-सन्निरुद्धगुद-जठराणि, ग्रन्थिक्षतक्रिमय प्रतिश्यायजा कोष्ठजाश्च त्वग्दोषिणा प्रमेहिणा वा ये परिक्षतेषु दृश्यन्ते, शर्करा सिकतामेहो वातकुण्डलिकाऽष्ठीला दन्त-शर्करोपकुश कण्ठशालूक निष्कोषणदूषिताश्च दन्तवेष्टा विसर्पास्थिक्षतोर क्षत-व्रणग्रन्थिप्रभृतयश्च याप्या।" (सु सू अ २४)।

साथमे खाँसी तथा श्वास हो तो वह व्रण असाध्य होता है। जिस व्रणसे वसा, मेद, मज्जा और मस्तुलुङ्गका स्राव होता हो वह व्रण यदि आगन्तु हो तो साध्य होता है, परन्तु निज-दोषज हो तो असाध्य होता है । जिन व्रणोसे मद्य, अगर, पुष्प, कमल, चन्दन और चंपा इनके समान या अद्भुत-दिव्य गन्ध आती हो वे व्रण असाध्य होते हैं। जो व्रण मर्मस्थानमे न होने पर भी अत्यन्त वेदना वाले हो, जिनमे भीतरसे अत्यन्त दाह हो परन्तु बाहर स्पर्श करनेसे शीतल मालूम होते हो अथवा भीतरसे ठण्ढे मालूम होते हो पर बाहर दाह मालूम होता हो वे व्रण असाध्य होते हैं। जो व्रण बल और मासका क्षय-श्वास-खाँसी और अरुचि इन उपद्रवोसे युक्त हों, जिनसे पूय और रक्तका अति स्राव होता हो, जो मर्मस्थानमे उत्पन्न हुए हों और जो सम्यक् चिकित्सा करने पर भी अच्छे न होते हो वे व्रण असाध्य होते हैं[1] ।

व्रणोंका प्रशमन न होने (व्रण शीघ्र न भरने) के हेतु—

स्नायुक्लेद (स्नायुओका अधिक क्लिन्न-आर्द्र रहना), **सिराक्लेद** (चिरच्छेद-कालातिक्रमसे शस्त्रकर्म करना **ग.**, सिराच्छेद सिरा कट जाना **वा.**), **गाम्भीर्य** (व्रणका गम्भीर धातुपर्यन्त-गहराई तक व्याप्त होना), **क्रिमिभक्षण**, **अस्थिभेद** (हड्डी टूटना), **सशल्यत्व** (व्रणमे शल्य रह जाना), **सविषत्व**, **अतर्पण** (तृप्तिकर आहार न मिलना (**अतर्कण**—सभाल न रखना **वा**, **ग.**), **नखावाध** (नख लगना), **काष्ठावाध** (काष्ठ लगना), **मर्मघट्टन** (मर्मस्थान दबना), **रोमावघट्टन** (बाल खिंचना), **सिथ्यावन्ध**, **अतिस्नेहन**, **अतिभैषज्यकर्शन** (अति औषध

---

१ "अत ऊर्ध्वमसाध्यान् वक्ष्याम –मासपिण्डवदुद्गता प्रसेकिनोऽन्त पूयवेदनावन्तोऽश्वापानवदुद्वृत्तोष्ठा , केचित् कठिना गोशृङ्गवदुद्गतमृदुमासप्ररोहा , अपरे दुष्टरुधिरास्राविणस्तनु-शीत-पिच्छिलास्राविणो मध्योन्नता , केचिदवसन्न-शुषिरपर्यन्ता शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शना , वसा-मेदो-मज-मस्तुलुङ्गस्राविणश्च दोषसमुत्था , पीतासितमूत्र-पुरीष-वातवाहिनश्च कोष्ठस्था , त एवोभयतोभागव्रणमुखेषु पूय-रक्तनिर्वाहिण , क्षीणमासाना च सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांसबुद्बुदवन्त , सशब्दवातवादिनश्च शिर कण्ठस्था , क्षीणमासाना च पूय रक्तनिर्वाहिणोऽरोचकाविपाक-कास-श्वासोपद्रवयुक्ता , भिन्ने वा शिर कपाले यत्र मस्तुलुङ्गदर्शन त्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भाव कास-श्वासौ वा यस्येति । वसा मेदोऽथ मज्जान मस्तुलुङ्ग च य स्रवेत् । आगन्तुस्तु व्रण सिध्येन्न सिध्येद्दोषसभव ॥" (सु सू अ २४) । "मद्यागुर्वाज्यसुमन -पद्म-चन्दन-चम्पकै । सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणा व्रणा स्मृता ॥ ये च मर्मस्वसभूता भवन्त्यत्यर्थवेदना. । दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहि शीताश्च ये व्रणा ॥ दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतला । प्राण मांसक्षय-श्वास-कासारोचकपीडिता ॥ प्रवृद्धपूय-रुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु । क्रियाभि सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणा ॥ वर्जयेदपि तान् वैद्य सरक्षन्नात्मनो यश ।" (मा. नि अ ४२)।

सेवनसे शरीर कृश होना), **अजीर्ण, अतिभोजन, विरुद्धभोजन** (विरोधी या अपथ्य आहार खाना), **असात्म्यभोजन, शोक, क्रोध, दिनमें सोना, रात्रिमें जागना, मैथुन, क्षोभण** (व्रणमें क्षोभ हो ऐसा कार्य करना), **व्यायाम, मद्यपान, कोष्ठ शुद्ध न होना** और **निष्क्रियत्व** (चिकित्सा न करना, मिथ्योपचार)-इन कारणोंसे साध्य व्रण भी (शीघ्र) अच्छे नहीं होते हैं। दूषित स्राव, दूषित गन्ध, उपद्रव उत्पन्न होने और दोषाधिक्य-से व्रण कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं[1]।

सद्योव्रणाधिकार

सद्योव्रणोंकी नाना प्रकारकी आकृति होनेके हेतु—

तलवार आदि नाना प्रकारकी धारवाले और भाला आदि नाना प्रकारके मुखवाले शस्त्रोंके शरीरके विभिन्न स्थानोंपर अभिघात होने-लगनेसे नाना प्रकारकी आकृतिवाले, सद्योव्रण होते हैं; उनका वर्णन किया जाता है[2]।

आगन्तु व्रणकी विविध आकृतियाँ—

आयत (दीर्घ लंबे), **चतुष्कोण, त्रिकोण, मण्डलाकार** (गोल), **अर्धचन्द्राकार, विशाल** (चौडे), **कुटिल** (टेढे), **शरावमध्यनिम्न** (शराव जैसे मध्यमें नीचे और किनारेपर ऊँचे), **यवमध्य** (जवके सदृश मध्यमें स्थूल और सिरे पर बारीक)-इस प्रकार सद्योव्रण या पककर स्वयं विदीर्ण हुए व्रणकी विविध आकृतियाँ होती हैं, परन्तु वैद्यके द्वारा शस्त्रकर्म किये हुए व्रणोंकी इस प्रकारकी विविध आकृतियाँ नहीं होती हैं, किन्तु **आयत, विशाल** और **समप्रविभक्त** आकृति होती है[3]।

---

१ "स्नायुक्लेदात् सिराछेदा(चिरच्छेदा—ग.)द्गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात् । अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वादतर्पणात् ॥ नख-काष्ठावबाधाच्च मर्मरोमावघट्टनात् । मिथ्यावन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्शनात् ॥ अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् । शोकात् क्रोधाद्दिवास्वप्ना-द्व्यायामान्मैथुनात्तथा (व्यवायात् क्षोभणात्तथा—ग.) ॥ व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् । परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह । व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वमुपजायते ।" (च. चि अ २५)। २ "स्नायुच्छेदात् सिराच्छेदाद्गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात् । अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वादतर्कितात् ॥ मिथ्याबन्धादतिस्नेहाद्रौक्ष्याद्रोमादिघट्टनात् । क्षोभादशुद्धकोष्ठत्वात् सौहित्यादतिकर्शनात् ॥ मद्यपानाद्दिवास्वप्नाद्व्यवायाद्रात्रिजागरात् । व्रणो मिथ्योपचाराच्च नैव साध्योऽपि रोहति ॥" (अ स उ अ २९)। "अतर्कितात्–यथाविशेषमनधिगते । रोमादीत्यादिशब्देन तृण-मांसादीनां ग्रहणम् । अशुद्धत्वात् यथोक्तका(?)वमनाद्यभावेनाशुद्धे । ×। अतिकर्शनात् अनशनात् । मिथ्यापचारात् शस्त्रकर्मविध्युक्तापचारविभ्रंशात् ।" (इन्दु)। २ "नानाधारा-मुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः । नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥" (सु चि अ २)। ३ "आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा । अर्धचन्द्रप्रतीकाशा विशालाः कुटिलास्तथा । शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे ॥ एवंप्रकाराकृतयो

आगन्तु व्रणके भेद—

आगन्तु व्रणके अनेक भेद होते हैं, तथापि प्राचीन वैद्योंने उसके **छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित** और **घृष्ट** ये छ भेद माने हैं[1]।

छिन्नका लक्षण—

शस्त्रद्वारा जो तिरछा या सीधा और लंबा व्रण हो तथा जिससे अंगुली-हस्त-पाद आदि कोई अवयव संपूर्ण या अधिकांशमें कट कर अलग हो जावे (कट कर गिर जावे या लटकने लगे) उसको **छिन्न** कहते हैं[2]।

भिन्नका लक्षण—

शक्ति (नोकदार शस्त्रविशेष), भाला, तलवारका अग्रभाग और सींग आदि नुकीले शस्त्रसे आशय पर्यन्त जो व्रण हो जावे इसको **भिन्न** कहते हैं। आमाशय, पच्यमानाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फुप्फुस—इनको **कोष्ठ (कोष्ठाङ्ग)** कहते हैं। जब कोष्ठ भिन्न हो कर रक्तपूर्ण हो जावे (उसमें रक्त भर जाय) तब ज्वर, दाह, मूत्रमार्ग-गुदा-मुख और नासिकासे रक्त आना, मूर्च्छा, श्वास, तृषा, अफारा, अरुचि, विष्ठा-मूत्र और वातका अवरोध, पसीना आना, आँखें लाल होना, मुँहसे लोहके समान गन्ध आना, शरीरसे दुर्गन्ध आना तथा हृदय और पार्श्वमें पीडा होना ये सामान्य लक्षण होते हैं। विशेष करके रुधिर जब आमाशयमें भर जाता है तब रक्तका वमन, नाभिके ऊपर पेटका अफारा और आमाशयमें तीव्र शूल होता है। जब पक्वाशयमें रक्त भर जाता है तब पक्वाशयकी पीडा तथा भारीपन और शरीरके नीचेके भागमें विशेषत शीतता ये लक्षण होते हैं। अन्त्र भिन्न न हुए हों तो भी जैसे खाली घडेके मुंहको बंद करके पानीमें रख दें तो घडेके सूक्ष्म छिद्रोंसे भीतर पानी आ कर घडा भर जाता है, इसी प्रकार अन्त्रोंके सूक्ष्म छिद्रोंसे रक्त आ कर अन्त्र रक्तसे भर जाते हैं[3]।

भवन्त्यागन्तवो व्रणा । दोषजा वा स्वय भिन्ना, न तु वैद्यनिमित्तजा ॥' (सु चि. अ. २)। "न तु वैद्यनिमित्तजा इति तेषामायत विशाल-समप्रविभक्तलक्षणा आकृतयो व्रणगुणस्वेनैवोक्ता, यतस्ता आकृतीर्भिषज प्रदेशविशेष एव कुर्वन्ति।" (ड)।

१ "अनेकाकृतिरागन्तु स भिषग्भि पुरातनै । समासतो लक्षणत षड्विध परिकीर्तित ॥ छिन्न भिन्न तथा विद्ध क्षत पिच्चितमेव च । घृष्टमाहुस्तथा षष्ठ तेषा वक्ष्यामि लक्षणम् ॥" (सु चि अ २)। २ "तिरश्चीन ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् । गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते ॥" (सु चि अ २)। ३ "शक्ति कुन्तेषु-खड्गाग्र-विषाणादिभिराशय । हत किञ्चित् स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ स्थानान्यामाग्नि-पक्वाना मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुक फुप्फुसश्च 'कोष्ठ'इत्यभिधीयते ॥ तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते । मूत्रमार्ग-गुदास्येभ्यो रक्त घ्राणाच्च गच्छति ॥ मूर्च्छा श्वासस्तृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च । विण्मूत्र-वातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।

विद्धके लक्षण—

आशयके अतिरिक्त अन्य अग सूक्ष्म-नुकीले मुखवाले शल्य (काँटे आदि) से अभिहत होनेपर शल्य अदर रह जानेसे ऊँचे उभरे हुए मुखवाले (उत्तुण्डित) दिखते हैं या शल्य निकल जानेसे दबे हुए मुखवाले हो जाते हैं-इस प्रकारके व्रणको **विद्ध** कहते हैं[1]।

क्षतके लक्षण—

जो व्रण अति (सर्वथा) छिन्न या अति भिन्नके लक्षणयुक्त न हो (न अधिक कटा और न अधिक विदीर्ण हुआ हो) किन्तु दोनोंके लक्षणयुक्त और विषम आकृतिवाला हो उसको **क्षत** कहते हैं[2]।

पिच्चितका लक्षण—

मुद्गर ( ) आदिके प्रहारसे या किवाड आदिके बीच दब जानेसे अस्थि-सहित जो अग चौडा-चिपटा हो जाय और उससे मज्जामिश्रित रक्तका स्राव होने लगे उसको **पिच्चित** कहते हैं[3]।

घृष्टका लक्षण—

जिसमें किसी पदार्थकी रगड या अभिघातसे त्वचा हट जावे, उसमें दाह हो और उससे स्राव होने लगे उस व्रणको **घृष्ट** कहते हैं[4]।

वृद्ध वाग्भटके मतसे सद्योव्रणके भेद और उनके लक्षण—

'आगन्तु व्रण शस्त्र, अनुशस्त्र, पत्थर, डडा-लाठी, नख, दांत, सींग, विष, बिलावों आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है' यह **व्रणविभक्तिपरिज्ञानीय** (वृ वा उ अ २९) अध्यायमें कहा गया है। नाना प्रकारके अभिघातोंसे अनेक आकृतिके सद्योव्रण होते हैं

हृच्छूल पार्श्वयोश्चापि, विशेष चात्र मे शृणु ॥ आमाशयस्थे रुधिरे रुधिर छर्दयेत् पुन । आध्मान-मतिमात्र च शूल च भृशदारुणम् ॥ पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च। शीतता चाप्यधो नाभे स्तेभ्यो रक्तस्य चागम ॥ अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणा स्वै सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम्। पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ॥" (सु चि अ २)।

१ "सूक्ष्मास्यशल्याभिहत यदङ्ग त्वाशय विना। उत्तुण्टित निर्गत वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत्।" (सु चि अ २)। "उत्तुण्डितम् उन्नमितमुखम्। निर्गत निर्गतशल्यम्।" (ड.)। २ "नातिच्छिन्न नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्। विषम व्रणमङ्गे यत्तत् क्षत त्वभिनिर्दिशेत् ॥" (सु चि अ. २)। "नातिच्छिन्न नात्यर्थंद्विधाभूत, नातिभिन्न नात्यर्थंविदीर्णम्।" (ड)। "नातिच्छिन्न नावगाढच्छेदम्। नातिभिन्न नातिविदीर्णाशयम्।" (चि. र)। ३ "प्रहार-पीडनाभ्या तु यदङ्ग पृथुता गतम्। सास्थि तत् पिच्चित विद्यान्मज्ज-रक्तपरिप्लुतम् ॥" (सु चि अ २)। ४ "विगतत्वग्यदङ्ग हि घर्षणादन्यथाऽपि वा। ऊषा-स्रावान्वित तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ॥" (सु चि अ २)।

तथापि संक्षेपमें उनके (व्रणाधिष्ठित अंगके) **छिन्न, विद्ध और पिच्चित** ये तीन भेद किये जाते हैं। इन तीनों प्रकारोंमें त्वचा आदिका क्षणन–हिंसन होता है, इसलिए तीनोंको सामान्यतः **क्षत** कहते हैं। छिन्नके ये पाँच भेद होते हैं—(१)–यदि त्वचा मात्रका छेद हो तो उसको **घृष्ट** कहते हैं, (२) यदि त्वचाके साथ कुछ मांसका भी छेद हो तो उसको **अवकृत्त** कहते हैं, (३) यदि अवकृत्त ही गंभीर-गहरा, विशाल–चौड़ा और लंबा हो तो उसको **विच्छिन्न** कहते हैं, (४) अन्य भाग छिन्न हुआ हो (कट गया हो) और अस्थि–स्नायु आदि कुछ शेष रह गये हों तो उसको **विलम्बित** कहते हैं, (५) संपूर्ण अंग छिन्न हो गया हो तो उसको **पातित** कहते हैं। विद्ध आठ प्रकारका होता है—(१) यदि शल्य मांसमें प्राप्त हुआ हो तो उसको **अनुविद्ध** कहते हैं, (२) यदि शल्यने पार्श्व (बाजु–बगल) से आकर त्वचाको कुछ उन्नत किया हो तो उसको **उत्तुण्डित** कहते हैं, (३) यदि शल्य एक पार्श्वसे आकर दूसरे पार्श्वसे कुछ बाहर आया हो तो उसको **अतिविद्ध** कहते हैं, (४) यदि शल्य एक पार्श्वसे आकर दूसरे पार्श्वसे सर्वथा बाहर निकल आया हो तो उसको **निर्विद्ध** कहते हैं, (५, ६, ७, ८) ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके विद्ध ही यदि कोष्ठमें हुए हों अथवा चौड़े मुखवाले कुन्त (भाले) आदि शस्त्रोंसे हुए हों तो उनको क्रमशः **अनुभिन्न, भिन्नोत्तुण्डित, अतिभिन्न और निर्भिन्न** कहते हैं। जो अंग प्रहार–मार या पीडन–दबावसे अस्थिके साथ मज्जा और रक्तसे परिप्लुत (लिप्तसा) हो गया हो उसको **पिच्चित** कहते हैं। **सव्रण और अव्रण** भेदसे पिच्चित दो प्रकारका होता है। सव्रणका लक्षण ऊपर कहा गया है। अव्रणका लक्षण **भग्नाधिकारमें** कहा जायगा[१]।

---

१ "आगन्तु शस्त्रानुशस्त्रोपल-लगुड-नख-दशन-विषाण-विषाग्न्यंकारादिनिमित्त।" (अ. सं. उ. अ. २९)। "विविधाभिघातजनितैस्तु सुबहाकृतिभिरपि सद्योव्रणैरधिष्ठितमङ्गं समासात्त्रिविधं भवति-**छिन्नं, विद्धं, पिच्चितं** च। त्रिविधमपि चैतत्त्वगादिक्षणनात् क्षतमित्युच्यते। तत्र छिन्नं पञ्चधा भिद्यते। तद्यथा–त्वक्छेदे घृष्टं, किञ्चिन्मांसस्याप्यवकृत्तं, तस्यैवावगाढस्य विशेषेण विशालमायतं च विच्छिन्नं, किञ्चिच्छेषेष्वस्थि-स्नाय्वादिषु विलम्बितम्, अशेषाङ्गच्छेदे पातितम्। विद्धं त्वष्टविधं–तत्र मांसमनुप्राप्ते शल्येऽनुविद्धं, द्वितीये पार्श्वे त्वचमुन्नम्योत्तुण्डितं, किञ्चिन्निःसृतेऽतिविद्धं, सर्वथा निःसृते निर्विद्धम्, एतदेव चतुर्विधं कोष्ठे पृथुमुखैर्वा प्रहरणैः कुन्तादिभिर्विद्धम्, अनुभिन्नं, भिन्नोत्तुण्डितम्, अतिभिन्नं, निर्भिन्नमिति च संज्ञां लभते। यत् पुनः प्रहारेण पीडनेन वा गात्रमस्थियुक्तम-सृङ्मज्जप्लुतं पृथुतामापद्यते तत् पिच्चितम्। तद्द्विविधं–सव्रणम्, अव्रणं च। तत्र सव्रणमुक्तम्, अव्रणं पुनर्भङ्गेषूपदेक्ष्यते।" (अ. सं. उ. अ. ३१)। "छिन्नं द्विधाभूतं, विद्धं छिद्रितं, प्रहारेण पीडनेन वा चूर्णीकृतं पिच्चितम्, एतच्च त्रयमपि त्वगादिक्षणनात् क्षतमित्युच्यते। त्वङ्मात्रविच्छेदे घृष्टमुच्यते, मांसस्यापि किञ्चिद्विच्छेदेऽवकृत्तं भवति, तस्यैव मांसस्यावगाढस्यातिप्रविष्टस्य प्रहारविशेषेण विशालं विस्तीर्णमायतं दीर्घं च यद्भवति तन्नाम्ना विच्छिन्नम्, अस्थ्यादिषु स्तोकमात्रावशेषेषु यद्भवति तन्नाम्ना विलम्बितम्, अशेषस्याङ्गस्य विच्छेदे सति पातितम्, इति पञ्चधा छिन्नम्। ××।

मर्मस्थानमें क्षत-विद्ध होनेके सामान्य लक्षण—

भ्रम, प्रलाप, भूमि पर गिरना, इन्द्रियोंका मोह, अगोंकी विरुद्ध चेष्टाएँ, बलका क्षय, उष्णता, अगोंमें शिथिलता, मूर्च्छा, श्वास, वातजन्य विभिन्न प्रकारकी तीव्र वेदनाएँ, मासके धोवन सदृश रक्तका स्राव तथा सब इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयोंके ग्रहण करनेमें असमर्थता ये लक्षण सामान्यत सिरा-मास-स्नायु-अस्थि और अस्थिसन्धि-इन पाँच प्रकारके मर्म क्षत-विद्ध होने पर होते हैं[1]।

सिराविद्धके लक्षण—

सिरा (रक्तवाहिनियाँ) छिन्न या भिन्न होने पर व्रणसे इन्द्रगोप-वीरबहूटीके समान लाल रगके रक्तका स्राव तथा रक्तस्रावसे वायुका प्रकोप होनेसे **शोणितवर्णनीय** (सु सू अ १४) अध्यायमें कहे हुए रक्तकी अतिप्रवृत्तिजन्य शिरोरोग-अन्धता आदि रोग होते हैं[2]।

स्नायुविद्धके लक्षण—

कुब्जापन, शरीरके अवयवोंकी अपनी क्रियाओंमें असमर्थता-अवसाद, भयकर पीडा और व्रणका दीर्घकालसे रोपण होना-भरना ये लक्षण स्नायु विद्ध होने पर होते हैं[3]।

मासमनुप्राप्ते शल्ये यद्विद्ध तद् विद्धमुच्यते, यत्र प्रविष्ट ततो द्वितीयपार्श्वेन त्वचमुन्नाम्योत्तुण्डित त्वगुन्नामेनानुमिनमति तत्रशल्यमुरा यद्विद्ध तत्राम्नोत्तुण्डित, त्वचमपि विपाट्य किञ्चिन्ति सते शल्ये यद्विद्ध तत्राम्नाऽतिनिद्धम्, एकत प्रविष्टऽन्यत सर्वथा निर्गते शल्ये यद्विद्ध तन्नाम्ना निर्विद्धम्। एतदेवानुविद्धमित्यादिना चतुर्विध कोष्ठे भूतमन्यस्मिन्नङ्गे वा पृथुमुखैर्वा कुन्तादिभि प्रहरणर्भूत क्रमेणानुभिन्न-भिन्नोत्तुण्डितातिभिन्न-निर्भिन्नाख्य सज्ञाचतुष्टय च लभते । तेन पूर्वचतुष्टय कोष्ठवर्जितेऽङ्गे लघुमुखशल्यकृत भवतीत्युक्तम्, इत्यष्टौ विद्धभेदा । यत् पुनर्गात्र मुद्गरादिप्रहारेण यन्त्रपीडनेन वा अस्थियुक्तमस्थ्यङ्गुल चानुपृथुता विस्तीर्णतामापन्न तत् पिच्चित गात्रमुच्यते । तच्च पिच्चित सव्रणाव्रणभेदेन द्विविधम् ।" (इन्दु)।

१ "भ्रम प्रलाप पतन प्रमोहो विचेष्टन ग्लानिरथोष्णता च ('सलयनोष्णते च' पा०)। स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ता ॥ मासोदकाभ रुधिर च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव । दशार्धसख्येष्वपि हि क्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥" (सु सू अ २५) । "सलयन सुषुप्तावस्थस्येव चित्तस्याकर्मण्यता। ऊर्ध्ववात श्वासोऽत्राभिप्रेतो न रोगविशेष ।" (ड.)। २ "सुरेन्द्रगोपप्रतिम प्रभूत रक्त स्रवेद्दै क्षततश्च वायु । करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान्छिन्नासु भिन्नास्वथवा सिरासु ॥" (सु सू अ २५)। "अमर्म-विद्धसिरादिलक्षण दर्शयन्नाह-सुरेन्द्रगोपप्रतिममित्यादि । यथोक्तानिति शोणितवर्णनीयोक्तशिरो-रोगाधिमन्थादीन् ।" (ड)। "तदतिप्रवृत्त शिरोभितापान्ध्यमधिमन्थ तिमिरप्रादुर्भाव धातुक्षयमाक्षेपक पक्षाघातमेकाङ्गविकार तृष्णा-दाहौ हिक्का कास श्वास पाण्डुरोग मरण चापा-दयति ।" (सु सू अ १४)। ३ "कौब्ज्य शरीरावयवावसाद क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च । चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि त स्नायुविद्ध मनुज व्यवस्येत् ॥" (सु सू अ. २५)।

अस्थिसन्धिविद्धके लक्षण—

चल या अचल अस्थिसन्धियाँ विद्ध होने पर शोथकी वृद्धि, तीव्र पीडा, बलक्षय, सन्धिके चारों ओर शोथ और भेदनवत् पीडा तथा सन्धिकी क्रियाओंका अभाव ये लक्षण होते हैं[1] ।

अस्थिविद्धके लक्षण—

जिसको दिन-रात भयंकर पीडा हो और किसी अवस्थामें शांति न मिलती हो, तथा अंगोंका अवसाद और रूक्ष सूजन हो उसको अस्थिविद्ध जानना चाहिए[2] ।

सिरादि मर्मविद्धके लक्षण—

सिरादि मर्मके अभिघातमें अमर्म सिरादिविद्धके जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं वे होंगे तथा साथमें सिरादिमर्मविद्धके जो सामान्य लक्षण भ्रम-प्रलाप आदि कहे गये हैं वे भी होंगे[3] ।

मांसमर्मविद्धके लक्षण—

मांसमर्म विद्ध होने पर रोगी पाण्डुवर्ण या विवर्ण–विकृतवर्ण होगा और उस स्थानमें स्पर्शज्ञान न होगा[4] ।

वाग्भटके मतसे मांसादि मर्मविद्धके लक्षण—

मांसमर्म विद्ध होनेपर निरन्तर मांसके धोवनके सदृश पतले रक्तका स्राव, शरीरमें पाण्डुत्व, इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान न होना और शीघ्र मरण होना ये लक्षण होते हैं। अस्थिमर्म विद्ध होने पर मज्जायुक्त पतला स्राव रुक-रुक कर होता है और अत्यन्त पीडा होती है। स्नायुमर्म विद्ध होने पर आयाम (अन्तरायाम या बाह्यायाम), आक्षेपक, स्तम्भ, अत्यधिक पीडा, चलने-खड़े रहने और बैठनेमें अशक्ति तथा अंगोंमें विकलता या मरण होता है। धमनीमर्म विद्ध होने पर रोगीको मूर्च्छा (बेहोशी) होती है तथा विद्ध-स्थानसे शब्द और फेनके साथ उष्ण-गरम रक्त आता है। सिरामर्म विद्ध होने पर निरन्तर गाढे रक्तका बहुत स्राव होता है और रक्तक्षयके कारण तृषा-चक्कर आना-श्वास-मूर्च्छा और हिक्का हो कर रोगीका मरण होता है। सन्धिमर्म विद्ध होनेपर विद्धस्थान शूकों-

---

१ "शोथातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः पर्वसु भेद-शोथौ । क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥" (सु सू अ २५)। २ "घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु न शान्तिरस्ति । तृष्णाङ्गसादौ श्वयथुश्च रूक्षस्तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥" (सु सू. अ २५)। ३ "यथास्वमेतानि विभावयेयुर्लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ॥" (सु सू. अ २५)। "चकारोऽत्र भिन्नक्रमे, एतानि चेत्यत्र द्रष्टव्य, तेन न केवल भ्रम-प्रलापादीनि पूर्वोक्तानि, किन्त्वमर्मविद्धसिरादिलिङ्गान्यपि यथास्वं बोद्धव्यानीत्यर्थः ।" (ड)। ४ "पाण्डुर्विवर्णः स्पर्शं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ।" (सु. सू. अ २५)।

(धारीक गाँठों) से व्याप्त सा मालूम होना, घाव भर जाने पर टूंठापन या लंगडापन रह जाना, बल और चेष्टाका क्षय, उस अंगका सूखना और सन्धिस्थानमें शोथ होना ये लक्षण होते हैं[1]।

सशल्य व्रणके लक्षण—

श्याव वर्णके, शोथयुक्त, पिडकाओंसे व्याप्त, बार बार रक्तस्राव वाले, कोमल उठे हुए बुद्बुदके समान मांसवाले और पीडायुक्त व्रणको देखकर इसमें शल्य रह गया है यह जानना चाहिए (आजकल एक्सरे द्वारा व्रणमें शल्य रह गया है कि नहीं इसकी परीक्षा की जाती है)।

व्रणप्रशल्यविज्ञानाधिकार।

'शल्य' शब्दकी निरुक्ति और शल्यके भेद—

'शल' आशुगमने—शीघ्रगतिसे शरीरमें प्रवेश करना, या 'शल' हिंसाया-हिंसा करना—इस धातुसे **शल्य** शब्द बनता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार शरीरमें शीघ्रगतिसे प्रविष्ट होने वाले तथा अवयवकी हिंसा करने वाले बाण आदिका सामान्यत 'शल्य' शब्दसे बोध होता है, तथापि इस तन्त्रमें शल्य शब्दका प्रयोग शरीरको बाधा पहुंचाने वाले सब पदार्थों-भावोंके लिए किया गया है। इस व्याख्याके अनुसार शल्यके **शारीर** और **आगन्तु** दो भेद होते हैं। व्रण द्वारा शरीरमें प्रविष्ट दन्त-रोम-नख आदि तथा दुष्ट-विकृत वात-पित्त-कफ ये तीन दोष, रसादि सप्त धातु (और उपधातु) तथा मूत्र-पुरीषादि मल ये भी शरीरको बाधा पहुँचाते हैं इस लिए इनको **शारीरशल्य** और शारीरके अतिरिक्त शोक आदि मानसिक भाव भी शरीरको दुःख पहुँचाते हैं इस लिए उनको भी **मानसिक** शल्य कहते है। इस तन्त्र (सुश्रुत) में इन सब प्रकारके शल्योंका उपदेश किया जाता है इस लिए इस शास्त्रको **शल्यशास्त्र** कहते है। अत एव सुश्रुतमें सब प्रकारके रोगोंका विचार किया गया है[2]।

---

१ "विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनु । पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञान मरण चाशु मांसगे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्न स्रावो रुक् चास्थिमर्मणि । आयामाक्षेपक स्तम्भा स्नावजेऽभ्यधिक रुजा ॥ यान-स्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवाऽन्तक । रक्त सशब्दफेनोष्ण धमनीस्थे विचेतस ॥ सिरामर्मव्यधे सान्द्रमजस्र बहलसृक् स्रवेत् । तत्क्षयात्तृड्-भ्रम-श्वास-मोह-हिध्माभिरन्तक. ॥ वरतु शूकरिवाकीर्णं रूढे च कुणि-खञ्जता । बल-चेष्टाक्षय शोष पर्वशोथश्च सन्धिजे ॥" (अ हृ शा अ ४)। २ "'शल' ('श्वल') आशुगमने धातु, तस्य शल्यमिति रूपम्। तद्विविध-शारीरम्, आगन्तुक च । सर्वशरीराबाधकर शल्यम् । तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् । तत्र शारीर दन्त-रोम-नखादि, धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टा , आगन्तवपि शारीर-शल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दु खमुत्पादयन्ति ।" (सु. सू अ २६)।

इस प्रकरणमें वर्णनीय शल्य और उनके भेद—

इस प्रकरणमें 'शल्य' शब्दसे लोह (धातु), वास, वृक्ष-काष्ठ, तृण, सींग और अस्थि-मय शल्य अधिकृत है, उनमें भी विशेषत लोहमय शल्य, क्योंकि मारनेके लिए विशेषत लोहेका प्रयोग होता है। लोहमय शल्योंमे भी विशेषत शर-वाण दुर्वार, सूक्ष्म मुख-वाला और दूर तक जाने वाला-काम करने वाला होनेसे अधिकृत है। वाण दो प्रकारका होता है—कर्णवाला (कर्णी) और सीधा (श्लक्ष्ण)। उनके मुखकी आकृति प्राय विविध वृक्षोंके पत्र-पुष्प और फलके समान या हिंस्र पशु और पक्षियोंके मुखसदृश होती है[1]।

शल्यकी पॉच प्रकारकी गतियॉ—

शरीरमें प्रविष्ट होने वाले बडे या छोटे सब प्रकारके शल्योकी पॉच प्रकारकी गतियो होती हैं-(१) **ऊर्ध्व** (नीचेसे ऊपरकी ओर जाना), (२) **अधः** (ऊपरसे नीचेकी ओर जाना), (३) **अर्वाचीन** (पीछेसे आगेकी ओर आना), (४), **तिर्यक्** (एक पार्श्वसे दूसरे पार्श्वकी ओर जाना) तथा (५) **ऋजु** (आगेसे पीछेकी ओर जाना)[2]।

वाण आदि शल्य शरीरमें ठहर जानेके कारण—

वाण आदि शल्य उनका वेग क्षीण-कम हो जानेसे अथवा प्रतिघात रुकावटसे त्वचा, मास, सिरा, स्नायु, अस्थिसन्धि, कोष्ठ, अस्थि और मर्म इन आठ व्रणवस्तुओंमे तथा धमनी, स्रोत, अस्थिविवर, मासपेशी आदिमे ठहर-रह जाते हैं[3]।

---

१ "अधिकारो हि लोह-वेणु-वृक्ष-तृण शृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य। लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद्दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृत.। स द्विविध —कर्णी, श्लक्ष्णश्च, प्रायेण विविधवृक्षपत्र-पुष्प-फलतुल्याकृतयो व्याख्याता व्यालमृग-पक्षि-वक्त्रसदृशाश्च।" (सु सू अ २६)। "शारीरशल्यविवरणे दन्त-नख-रोमादीनामादौ ग्रहण दन्तादिरूढ्यर्थशल्यशब्दस्य योगात्; तथा हि-दन्तश्चलित· शारीर शल्यम्, अन्यगात्रप्रविष्ट मुख्य शल्य भवति, एवमुभयरूपो नख, तथा अक्षिण प्रतीप रोम शारीर शल्यम्, अन्यत्र शरीर-प्रदेशे व्रणान्तर्गत मुख्य च शल्यमिति। अत्र दुष्ट शल्यमेवाबाधकरत्वात्, धात्वादयोऽपि दुष्टा शल्यम्। आगन्तुशल्योदाहरणे शारीरशल्यव्यतिरेकेण मानसशोकादिशल्यस्यापि ग्रहणम्।" (च. द)। २ "सर्वशल्याना तु महतामणुना वा पञ्चविधो गतिविशेष ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजुरिति।" (सु सू अ. २६)। "ऊर्ध्वगतिविशेषोऽधस्तादागतस्य शरस्य, अधोगतिविशेष उपरिष्टादागतस्य, अर्वाचीनगतिविशेष पश्चादागतस्य शरस्य, तिर्यग्गतिविशेष पार्श्वाभ्यामागतस्य शरस्य, ऋजुगतिविशेष अग्रदेशादागतस्य शरस्य।" (ड)। "शरीरे सर्वशल्याना गतय पञ्चधा स्मृता। ऋज्वागतमवाचीन तिर्यगूर्ध्वमधोगतम्।" (इति चक्रपाणिदत्तसमत पाठ)।
३ "तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तुष्ववतिष्ठन्ते, धमनी-स्रोतोस्थिविवर-पेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु।" (सु सू अ २६)।

त्वचा आदिमें स्थित शल्यके लक्षण—

त्वचा आदिमें रहे हुए शल्यके लक्षण कहे जाते हैं। **सामान्य और विशेष** भेदसे शल्यके लक्षण दो प्रकारके होते हैं। श्याववर्ण, पिडकाओंसे व्याप्त, शोथ और वेदनायुक्त, बार-बार रक्त बहनेवाले, बुद्बुद जैसे उन्नत और मृदु मांसवाले व्रणको देख कर जानना चाहिए कि यह **सशल्य** है (इस व्रणमें शल्य रह गया है)। ये त्वचादि सब स्थानोंमें रहे हुए शल्यके सामान्य लक्षण हैं। विशेषत त्वचामें शल्य हो तो शोथ विवर्ण-अस्वाभाविक वर्णवाला, कठिन और फैला हुआ होता है, शल्य मांसमें रहा हो तो शोथ बढता है, शल्यके मार्गका रोपण नहीं होता, पीडा सहन नहीं होती, चूसने सी वेदना और पाक होता है, दो मांसपेशियोंके बीचमें शल्य रहा हो तो यही लक्षण होते हैं परन्तु चूसने सी वेदना और पाक नहीं होता, सिरामें शल्य रहा हो तो सिराका फूलना-शूल और शोथ ये लक्षण होते हैं, शल्य स्नायुमें रहा हो तो स्नायुजालका ऊपर उठ आना, सूजन और तीव्र पीडा होती है. शल्य स्रोतोंमें रहा हो तो स्रोतोंके अपने कर्म और गुणोंकी हानि होती है, शल्य धमनीमें रहा हो तो वायु फेनयुक्त रक्तको प्रेरित करता हुआ शब्दके साथ बाहर आता है तथा अंगोंमें पीडा, प्यास और मिचली ये लक्षण होते हैं, शल्य अस्थिमें रहा हो तो विविध प्रकारकी वेदनाएँ और शोथ होता है, अस्थिविवर (अस्थिके पोले भाग) में शल्य हो तो अस्थि शल्यसे पूर्ण (भरा हुआ) मालूम होता है तथा अस्थिमें सूई चुभनेसी वेदना और बलवान् रोमाञ्च होता है, अस्थिसंधिमें शल्य हो तो अस्थिगत शल्यके समान लक्षण और उस सन्धिकी चेष्टाका नाश होता है, कोष्ठमें शल्य रहा हो तो गुडगुडाहट, आनाह तथा व्रणके मुखसे मूत्र-मल और आहार आना ये लक्षण होते है, शल्य मर्मस्थानमें प्रविष्ट हुआ हो तो मर्मविद्धके समान लक्षण होते हैं। शल्य यदि सूक्ष्म हो तो ये ही लक्षण अस्पष्ट रूपमें होते हैं[1]।

शल्य शरीरमें रह जाने पर भी व्रण भर जानेके हेतु—

मृदु और छोटे शल्य यदि वातादि दोषोंसे अदूषित शरीरमें, विशेषत कण्ठ, स्रोत,

---

१ "तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय, तत्तु द्विविध-सामान्य, वैशेषिक च। श्याव पिटकाचित शोफ-वेदनावन्त मुहुर्मुहु शोणितास्राविण बुद्बुदवदुन्नत मृदुमास च व्रण जानीयात् सशल्योऽयमिति, सामान्यमेतल्लक्षणमुक्तम्। वैशेषिक तु—त्वग्गते विवर्ण शोथो भवत्यायत कठिनश्च, मासगते शोफाभिवृद्धि शल्यमार्गानुपसरोह पीडनासहिष्णुता चोष-पाकौ च, पेश्यन्तरस्थेऽप्येतदेव चोष-शोफवर्ज, सिरागते सिराध्मान सिराशूल सिराशोफश्च, स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपण सरम्भश्चोग्रा रुक् च, स्रोतोगते स्रोतसा स्वकर्म-गुणहानि, धमनीस्थे सफेन रक्तमीरयन्ननिल सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गमर्दं पिपासा हृल्लासश्च, अस्थिगते विविधवेदनाप्रादुर्भाव शोफश्च, अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्णताऽस्थितोद सहर्षो बलवाश्च, सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च, कोष्ठगत आटोपानाहौ मूत्र-पुरीषाहारदर्शन च व्रणमुखात्, मर्मगते मर्मविद्धवच्चेष्टते, सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति।" (सु. सू. २६)।

सिरा, त्वचा, मांसपेशी और अस्थिके छिद्रमें अनुलोम गतिसे प्रविष्ट हुए हों तो व्रण भर जाता है, परन्तु दोषप्रकोप, व्यायाम, अभिघात और अजीर्ण–इन कारणोंसे प्रचलित होने पर फिर वाधा करते हैं[1]।

शरीरावयवोंमें प्रणष्ट (अदृश्य) हुए शल्यकी परीक्षा—

व्रण भर गया हो परन्तु त्वचामें शल्य रह गया है यह संदेह हो तब त्वचा पर स्नेहका अभ्यंग और स्वेद देकर मिट्टी-उडद-जव-गेहूं और उपले-कंडेका चूर्ण उनमेंसे किसी एकसे मर्दन करने पर जहॉं सरम्भ–शोथ और वेदना मालूम हो वहाँ भीतर शल्य है ऐसा जानना चाहिए, अथवा जमे हुए–गाढ़े घृतका या चन्दनका लेप करने पर शल्यकी गरमीसे घृत पिघल कर तुरत फैल जाय या चन्दनका लेप शीघ्र सूख जाय वहॉं शल्य है ऐसा जानना चाहिए। मांसमें व्रण भर गया है परन्तु भीतर शल्य है यह संदेह होने पर रोगीको यथाप्रयोजन अविरुद्ध ऐसे स्नेह-स्वेद आदि पञ्चकर्म करे। पञ्चकर्मसे शरीर कर्शित होनेपर शल्य शिथिल और अलग होने पर उस स्थानको हिलानेसे जहाँ सूजन और वेदना हो वहॉं शल्य है ऐसा जानना चाहिए। कोष्ठ, अस्थिसन्धि और दो मांस-पेशियोंके बीचमें शल्यका संदेह हो तब भी इसी प्रकार परीक्षा करे। सिरा-धमनी-स्रोत और स्नायुमें शल्य होनेका संदेह हो तब टूटे हुए चक्रवाले यान-गाड़ीमें रोगीको वैठाकर विषम मार्ग पर गाडी चलावे, जहॉं शोथ और वेदना हो वहॉं शल्य है यह जानना चाहिए। अस्थिमें शल्य रह गया है यह संदेह हो तब स्नेहाभ्यङ्ग और स्वेद किये हुए अस्थियोंको कस कर बॉंधे और खूब दवावे, जहॉं शोथ और वेदना हो वहॉं शल्य है यह जानना चाहिए। अस्थिसन्धिमें शल्य प्रणष्ट हुआ है यह संदेह होनेपर उस सन्धिका प्रसारण (फैलाना) और आकुञ्चन (सिकुडना) करे तथा सन्धिस्थानको बॉंधे या दवावे, जहॉं शोथ और पीडा हो वहॉं शल्य है यह जाने। मर्मोका इन स्थानोंमें ही अन्तर्भाव होता है, अत. मर्मप्रणष्ट शल्यकी भी इसी प्रकार परीक्षा करे[2]।

---

१ "मृदून्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति, विशेषत कण्ठ-स्रोत.-सिरा त्वक्-पेश्यस्थिविवरेषु, दोषप्रकोप-व्यायामाभिघाताजीर्णेभ्य प्रचलितानि पुनर्वाधन्ते ।" (सु सू. अ. २६)। २ "तत्र त्वक्प्रणष्टे स्निग्ध-स्विन्नाया मृन्माष-यव-गोधूम-गोमय(चूर्ण)-मृदिताया त्वचि यत्र सरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्य विजानीयात्, स्त्यानघृत-चन्दनकल्क-प्रदिग्धाया वा शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्य विजानीयात्, मांसप्रणष्टे स्नेह-स्वेदादिभि क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमन-वबद्धं क्षुभ्यमाण यत्र सरम्भ वेदना वा जनयति तत्र शल्य विजानीयात्, कोष्ठास्थिसन्धि-पेशीविवरेष्ववस्थितमेवमेव परीक्षेत, सिरा-धमनी-स्रोत -स्नायुप्रणष्टे खण्डचक्रसयुक्ते याने व्याधित-मारोप्याशु विषमेऽध्वनि यायात्, यत्र सरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्य विजानीयात्, अस्थिप्रणष्टे स्नेह-स्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धन-पीडनाभ्या भृशमुपाचरेत्, यत्र सरम्भो वेदना वा

प्रणष्ट शल्यके सामान्य लक्षण—

शरीरके किसी भी स्थानमें शल्य प्रणष्ट हुआ हो तो ये सामान्य लक्षण होते हैं–हाथीका कन्धा-घोडेकी पीठ–पर्वत या वृक्ष पर चढनेसे, धनुष पर वाण चढानेका व्यायाम करनेसे, गाडी चलनेके वेगसे, कुश्ती लडनेसे, जोरसे मार्ग चलनेसे, खड्डा लाघनेसे, कूदनेसे, तैरनेके व्यायामसे, जंभाई लेने-खाँसने-छींकने-थूकने-हसने-प्राणायाम करने तथा वात-मूत्र-मल और वीर्यका उत्सर्ग करनेसे जहाँ शोथ या वेदना हो वहाँ शल्य है ऐसा जानना चाहिए। शरीरके जिस स्थानमें तोद-भेद आदि वेदनाएँ, सुन्नपना और भारीपन हो तथा रोगी जिस अवयवको मर्दन करने-दवाने पर वहुत वचाता हो वहाँ शल्य है ऐसा जानना चाहिए[1]।

नि शल्य व्रणके लक्षण—

जिस व्रणमें वेदना कम हो, सूजन न हो, शूल आदि पीडा न हो, उपद्रव न हो, व्रण स्वच्छ हो, जो सिरेके भागमें कोमल हो, निश्चल हो, उभरा हुआ-उन्नत न हो, ऐसे व्रणको एषणी (प्रोब Probe) से चारों ओर देखकर तथा उस अवयवका ठीक प्रसारण और आकुचन होता है यह देखकर यह व्रण शल्यरहित है ऐसा कहना चाहिए[2]।

किस प्रकारका शल्य शरीरमें रह गया हो तो उसका क्या परिणाम होता है—

अस्थिशल्य यदि अदर रह जाय तो दो-तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है या भीतर सड जाता है। सींग या लोहमय शल्य अदर रह जाय तो कुटिल टेढे हो जाते हैं। वृक्ष (लकडी), वाँस और घास यदि अदर रह जाँय तो शीघ्र रक्त और मासको पकाते हैं। सोना, चाँदी, ताँवा, पीतल, रागा और सीसा–नाग इनके शल्य यदि चिरकाल तक शरीरमें पडे रहें तो शरीरकी गरमीसे पिघल कर शरीरमें विलीन हो जाते हैं। स्वभावसे शीतल और मृदु कास्य आदि धातु शरीरमे द्रव होकर शरीरके धातुओंमे मिल जाते

भवति तत्र शल्य विजानीयात्, सन्धिप्रणष्टे स्नेह-स्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसारणाकुञ्चन-बन्धन-पीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र सरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्य विजानीयात्, मर्मप्रणष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणामुक्त परीक्षण भवति।" (सु सू अ २६)।

१ "सर्वस्थानगते सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमारोहण धनुर्व्यायाम-द्रुतयान-नियुद्धाध्वगमन-लङ्घन-प्रतरण-व्यायामैर्जृम्भोद्गार-कास-क्षवथु-ष्ठीवन-हसन-प्राणायामैर्वात-मूत्र-पुरीष-शुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र सरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्य विजानीयात्। यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च। आतुरश्चापि य देशमभीक्ष्ण परिरक्षति॥ सवाध्यमानो वहुशस्तत्र शल्य विनिर्दिशेत्॥" (सु सू अ २६)। २ "अल्पावाधमशून च नीरुज निरुपद्रवम्। प्रसन्न मृदुपर्यन्त निरावाधमनुन्नतम्॥ एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्ग चिकित्सक। प्रसाराकुञ्चनान्नून नि शल्यमिति निर्दिशेत्।" (सु सू अ. २६)।

है। सींग, दाँत, केश-बाल, अस्थि, बाँस, लकड़ी, पाषाण और मृत्तिकामय शल्य शरीरमें विशीर्ण नहीं होते हैं[1]।

नालीव्रणनिदानाधिकार।

नालीव्रणकी संप्राप्ति और निरुक्ति—

जो अज्ञ रोगी या वैद्य पक्व व्रणशोथको पक्व नहीं है ऐसा मानकर उसकी उपेक्षा करता है-शस्त्रकर्म करके पूय नहीं निकाल देता है अथवा रोगी व्रण होने पर अपथ्य सेवन करता है उसके शरीरमें पूय भीतर गहराईमें दूर तक पहिले कहे-हुए आठ व्रणस्थानोंमें (देखें पृ १८५) प्रवेश करके वहाँ भी पूय उत्पन्न कर देता है। उस पूयका व्रणमुखसे अतिमात्र गमन होता है इस लिये इसको **गति** और नालीके समान पूय बहता है इसलिए **नाली** (नाली-व्रण) कहते हैं[2] **(सु.)**। कई तन्त्रकार जो एक मुखवाली और टेढी हो उसको **नाली** और जो अनेक मुखवाली हो तो उसको **गति** कहते हैं **(वृ. वा.)**।

नालीव्रणकी सख्या—

पृथक् एक-एक दोषसे **वातज, पित्तज** और **कफज** ये तीन, मिले हुए दो-दो दोषोंसे **वातपित्तज, वातकफज** तथा **पित्तकफज** ये तीन, मिले हुए तीनों दोषोंसे **सन्निपातज** तथा शल्यसे **शल्यज** इस प्रकार नालीव्रण आठ प्रकारका होता है[3]।

---

१ "अस्थ्यात्मक भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्यते। प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायस चेति निश्चय ॥ वार्क्ष-वणव-तार्णानि निर्ह्रियन्ते तु नो यदि। पचन्ति रक्त मास च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥ कानक राजत ताम्र रैतिक त्रपु सीसकम्। चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेज प्रतापनात्॥ स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मता। द्रवीभूता शरीरेऽस्मिन्नेकत्व यान्ति धातुभि ॥ विषाण-दन्त-केशास्थि-वेणु-दारूपलानि तु। शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥" (सु सू अ २६)। "भज्यत इति स्वय द्विधा त्रिधा वा भवतीत्यर्थ। ×। शीर्यते शटतीत्यर्थ.। ×। निर्भुज्यत इति कुटिलीभवति।" (ड)। "भिद्यत इति विशीर्ण भवति। शीर्यत इत्यनेकावयव भवति। यत्तु विषाणेत्यादिना अस्थ्यात्मक न विशीर्यत इति वक्तव्य, तत्र क्षय न यातीत्यर्थभेदान्न विरोध। ××। अनेन नष्टशल्यावस्थाकथनेन अस्थ्यात्मकमवयवान्तरमन्विष्याहर्तव्य, शार्ङ्गादि ऋजूकृत्वाऽऽहर्तव्य, वार्क्षादि शीघ्रमाहर्तव्य, कानकादीना प्रमादादनाहरणेऽपि न दोष इत्यादि प्रयोजनमूह्यम्।" (च द)। २ "शोफ न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो यो वा व्रण प्रचुरपूयमसाधुवृत्त। अभ्यन्तर प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि तत स पूय ॥ तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरित्यतश्च नालीव यद्वहति तेन मता च नाली।" (सु. सू. नि अ १०)। ३ "अभेदात् पक्वशोथस्य व्रणे वाऽपथ्यसेविन। अनुप्रविश्य मासादीन् दूर पूयोऽभिधावति ॥ गति सा दूरगमनान्नाली नालीव ससृते। नाल्येकाऽनृजुरन्येषा सैवानेकगतिर्गति. ॥" (अ. हृ उ. अ. २९)।

वातज नालीव्रणके लक्षण—

वातज नालीव्रणका मुख परुष (कठोर सा) और सूक्ष्म होता है, उसमें शूलवत् पीडा होती है, उससे फेनयुक्त स्राव होता है तथा स्राव दिनमें अधिक होता है[1]।

पैत्तिक नालीव्रणके लक्षण—

पैत्तिक नालीव्रणमें तृषा, दाह, अवसाद, ज्वर तथा भेद ये लक्षण होते है। स्राव दिनमें अधिक होता है और वह उष्णस्पर्शवाला होता है[2]।

श्लैष्मिक नालीव्रणके लक्षण—

श्लैष्मिक नालीव्रणसे प्रमाणमें अधिक, गाढा, श्वेतवर्ण और पिच्छिल स्राव होता है, स्राव रात्रिमें अधिक होता है, व्रणमे वेदना कम होती है, एवं व्रणस्थान कठिन और कण्डुयुक्त होता है[3]।

द्वन्द्वज नालीव्रणोंके लक्षण—

दो-दो दोषोंके मिले हुए लक्षण देखकर **वातपित्तज, वातकफज** और **पित्त-कफज** ये तीन प्रकारके नालीव्रण जानने चाहिए[4]।

सान्निपातिक नालीव्रणके लक्षण—

जिस नालीव्रणमें ऊपर लिखे हुए तीनों प्रकारके नालीव्रणके लक्षण तथा दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा और मुँह सूखना ये लक्षण देखनेमें आते हो उसको असाध्य सान्निपातिक नालीव्रण जानना चाहिए[5]।

शल्यज नालीव्रणके लक्षण—

त्वचादि व्रणवस्तुओंमें रहा हुआ सूक्ष्म शल्य थोडे समयमें न निकाला जावे तो नाली

---

१ "दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च समूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या।" (सु नि. अ १०)। "सा दोषैः पृथगेकस्थैः शल्यहेतुश्च पञ्चमी।" (अ हृ उ अ २९)। "तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम्।" (सु नि अ. १०)। "वातात् सरुक् सूक्ष्ममुखी विवर्णा फेनिलोद्गमा। स्रवत्यभ्यधिकं रात्रौ" (अ हृ उ अ २९)। २ "तृट्-ताप-तोद-सदन-ज्वर-भेदहेतु पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहः सु पित्तात्।" (सु नि अ १०)। "पित्तात्तृड्-ज्वर-दाहकृत्। पीतोष्णपूतिपूयस्रुद्दिवा चाति निषिञ्चति।" (अ हृ उ अ २९)। ३ "ज्ञेया कफाद्बहु-घनार्जुन-पिच्छिलास्रा रात्रिस्रुतिः स्तिमितरुक्कठिना सकण्डुः।" (सु नि अ १०)। "घन-पिच्छिलसंस्रावा कण्डूला कठिना कफात्। निशि चाभ्यधिकक्लेदा" (अ हृ उ अ २९)। ४ "दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गती-र्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्।" (सु नि अ १०)। "व्यतिकरप्रभवा द्वन्द्वजा।" (ड)। ५ "दाह-ज्वर-श्वसन मूर्च्छन-वक्त्रशोषा यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि। तामादिशेत् पवन-पित्त-कफप्रकोपाद्घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्॥" (सु नि. अ १०)। "सर्वैः सर्वाकृतिं त्यजेत्।" (अ. हृ. उ. अ. २९)।

व्रण उत्पन्न करता है। इस नालीव्रणसे सहसा फेनयुक्त, मथा हुआ सा, स्वच्छ तथा रक्तमिश्रित स्राव होता है और व्रणस्थानमें पीड़ा होती है[१]।

भगन्दरनिदानाधिकार।

वक्तव्य–भगन्दर भी नालीव्रणका एक प्रकार होनेसे नालीव्रणके अनन्तर भगन्दर-निदान लिखा जाता है।

'भगन्दर' शब्दकी निरुक्ति—

यह रोग भग (योनि)-गुदा और वस्ति (मूत्राशय) के चारों ओरके प्रदेशमें दारण-छिद्र करके भगके समान आकृतिवाला व्रण उत्पन्न करता है, इसलिए उस रोगको **भगन्दर** कहते हैं। भगन्दरमें प्रथम जो पिडका होती है उसको **भगन्दरपिड़का** और पिडका फूटने पर जो व्रण बनता है उसको **भगन्दर** कहते हैं[२]।

भगन्दरके भेद—

वातसे **शतपोनक**, पित्तसे **उष्ट्रग्रीव**, कफसे **परिस्रावी**, सन्निपातसे **शम्बूकावर्त** और आगन्तुकारणोंसे **उन्मार्गी** इस प्रकार **सुश्रुत**ने भगन्दरके पाँच भेद लिखे हैं। **वाग्भट**ने वातपित्तसे **परिक्षेपी**, वातकफसे **ऋजु** और कफपित्तसे **अर्शोभगन्दर** ये तीन द्वन्द्वज भगन्दर अधिक लिखे हैं[३]।

भगन्दरके सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति—

हाथी या घोडेकी पीठ पर सवारी करना, कठिन और विषम आसन पर बैठना, अर्शके निदानमें कहे हुए अन्य द्रव्यादिका सेवन करना तथा दिनचर्यादिमें जो अन्य अनिष्ट–अपथ्य कहे हैं उनके सेवनसे या पापकर्मके फलस्वरूप गुदाके समीपके एकसे दो अंगुलके प्रदेशमें प्राय पहिले पिटिका-फुन्सी निकल कर पीछे वहाँके रक्त और मांसको दूषित करके अन्तर्मुख (भीतरकी ओर मुँहवाला), बहिर्मुख (बाहरकी ओर मुँहवाला) या उभयतोमुख (दोनों ओर मुँहवाला) जो व्रण होता है उसको **भगन्दर**

---

१ "नष्ट कथंचिदणुमात्रमुदीरितेषु स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति। सा फेनिलं मथितमच्छमसृग्विमिश्रमुष्णं स्रवेत सहसा सरुजा च नित्यम्॥" (सु नि अ १०)।
२ "भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च। भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दर॥" इति इन्दुव्याख्यायां **भोजवचनम्**। ३ "वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातागन्तुनिमित्ता शतपोनकोष्ट्रग्रीव-परिस्रावि-शम्बूकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति। ते तु भग-गुद-वस्तिप्रदेश-दारणाद्भगन्दरा इत्युच्यन्ते। अभिन्ना पिडका, भिन्नास्तु भगन्दरा।" (सु नि अ ४)। "दोषै पृथक् द्वयै सर्वैरागन्तु सोऽष्टम स्मृत.।" (अ स उ अ ३३)। "अपक्व पिटिकामाहु पाकप्राप्त भगन्दरम्।", "व्रणता यान्ति ता पक्वा प्रमादात्।" (अ स उ अ ३३)।

कहते हैं। वस्ति और मूत्राशयके निकट प्रदेशमें होनेसे भगन्दर द्रव पदार्थ झरनेवाला होता है और यदि आरम्भमें उसकी ठीक चिकित्सा न की जावे तो गुदा–वस्ति आदि स्थानोंको विदीर्ण करता है, जिनसे अधोवात-मूत्र-मल और वीर्य बाहर आते हैं[१]।

भगन्दरके पूर्वरूप—

भगन्दरके पूर्वरूपमें कमरका दर्द तथा गुदामे कण्डू, दाह और शोथ होता है[२]।

वातज भगन्दरकी संप्राप्ति और लक्षण—

अपथ्य (वातकर आहार-विहार) के सेवनसे वायु प्रकुपित, निरुद्धगति तथा स्थिर हो कर गुदाके समीपके एक-दो अंगुलके प्रदेशमे मांस और रक्तको दूषित करके श्याव या अरुण वर्णकी पिडका उत्पन्न करता है। उस पिडकामें तोद-भेद-स्फुरण आदि वातवेदनाएँ होती हैं। इस अवस्थामें उसका प्रतिकार न करने पर पाक होकर व्रण होता है। मूत्राशयके समीप होनेसे व्रण प्रक्लिन्न हो कर छलनी जैसे अनेक मुखोंसे व्याप्त होता है तथा उन छिद्रोंसे निरन्तर फेनयुक्त अधिक स्राव होता है। व्रणमें ताडन-मारने, छेदन-काटने, भेदन और सूई चुभनेकी सी वेदना होती है तथा गुदप्रदेश विदीर्ण होता है। उस हालतमे चिकित्सा न करने पर व्रणके छिद्रोंसे वायु-मूत्र-मल और शुक्र आने लगता है। इस भगन्दरको **शतपोनक** कहते हैं[३]।

---

१ "हस्त्यश्वपृष्ठगमन-कठिनोत्कटकासने। अर्शोनिदानाभिहितैरपरैश्च निषेवितैः॥ अनिष्टदिष्ट(अनिष्टादृष्ट)पाकेन सद्यो वा साधुगर्हणे। प्रायेण पिटिकापूर्वो योऽङ्गुले द्व्यङ्गुलेऽपि वा॥ पायौ व्रणोऽन्तर्बाह्यो वा दुष्टासृङ्मांसगो भवेत्। वस्ति-मूत्राशयाभ्याशगतत्वात् स्यन्दनात्मक॥ भगन्दर. सर्वगश्च दारयत्यक्रियावत.। भग-वस्ति-गुदास्तेषु दीर्यमाणेषु भूरिश॥ वात-मूत्र-शकृच्छुक्रं खैः सूक्ष्मैः स्र(व)वति क्रमात्।" (अ स उ अ ३३, अ हृ. उ अ २८)। "अभ्याशशब्दादर्धाङ्गुल-त्र्यङ्गुलयोरपि ग्रहणम्, उक्तं च शास्त्रान्तरे—"पिटका जनयेज्जन्तोर्गुदनाल्या सुदारुणाम्। गुदस्यार्धाङ्गुले वाऽपि द्व्यङ्गुले त्र्यङ्गुलेऽपि वा॥" इति। ××। ×। प्रायेण बाहुल्येन पिटकापूर्व. × पिटका पूर्वं जायते तत पाकाद्व्रण स्यादिति। प्राय शब्देन क्षतजस्य भगन्दरस्य पिटकया विना सभव सूचित।" (इन्दु·)। "कृमेस्तृणादिक्षणन-व्यवाय-प्रवाहणात्युत्कटकाश्वपृष्ठै। गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्ति पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दर स्यात्।" (च चि अ १२)।

२ "तेषां तु पूर्वरूपाणि-कटीकपालवेदना कण्डुर्दाह शोथश्च गुदस्य भवति।" (सु नि अ ४)।

३ "तत्रापथ्यसेविना वायु प्रकुपित सन्निवृत्त स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिडका जनयति, साऽस्य तोदादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति। मूत्राशयाभ्याशगतत्वाच्च व्रण. प्रक्लिन्न शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते। तानि च छिद्राण्यजस्रमच्छ फेनानुविद्धमधिकमास्रावं स्रवन्ति, व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव निस्तुद्यते, गुद चावदीर्यते। उपेक्षिते च वात-मूत्र-पुरीष-रेतसामभ्यागमश्च तैरेव छिद्रैर्भवति। त भगन्दर शतपोनकमित्याचक्षते।" (सु नि अ ४)। "तत्र श्यावाऽरुणा तोद-भेद-स्फुरणरुक्करी। पिडका मारुतात्।" (अ स उ अ ३३)। "कषाय रूक्षैरतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडका करोति

पित्तज भगन्दरकी संप्राप्ति और लक्षण—

पित्तप्रकोपक हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित पित्त वायुसे अध प्रेरित हो कर गुदके निकटके एक-दो अगुल प्रदेशमें स्थिर हो कर (स्थानसश्रय कर), मास और रक्तको दूपित करके रक्त वर्णकी, पतली, उठे हुए मुखवाली, ऊँटकी ग्रीवाके आकारकी पिडका उत्पन्न करता है। उसमे ज्वर-ओष-चोप आदि पैत्तिक वेदनाएँ होती हैं। उसकी चिकित्सा न करनेसे उसमे पाक हो कर व्रण होता है। उस व्रणमे अग्निसे जलाने और क्षार लगानेका सा दाह, ज्वर तथा भीतर धुआँ उठता हो ऐसा मालूम होता है। उससे दुर्गन्धी और उष्ण स्राव होता है। उसकी चिकित्सा न करनेसे व्रणसे वात-मूत्र-मल और शुक्रका स्राव होता है। इस भगन्दरको **उष्ट्रग्रीव** कहते हैं[1]।

श्लैष्मिक भगन्दरकी सप्राप्ति और लक्षण—

कफप्रकोपक कारणोंके सेवनसे प्रकुपित और वायुसे अध प्रेरित कफ गुदाके निकटवर्ती एक-दो अगुलके प्रदेशमें स्थिर हो कर तथा मांस और रक्तको दूपित करके श्वेतवर्णकी, स्थिर-कठिन, स्निग्ध, मूलमें गहरी और कण्डूयुक्त पिडका उत्पन्न करता है। उस पिडकामें कण्डू आदि कफजन्य वेदनाएँ होती हैं। उसकी यदि चिकित्सा न की जावे तो उसमे पाक हो कर व्रण होता है। वह व्रण कठिन और शोथयुक्त होता है। उसमें खुजली आती है। उससे निरन्तर पिच्छिल स्राव होता है। उसकी चिकित्सा न करने पर उस व्रणसे वात-मूत्र-मल और वीर्य आने लगता है। इस भगन्दरको **परिस्रावी** कहते हैं[2]।

याम्। उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुण रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी॥ तत्रागमो मूत्र-पुरीप-रेतसा व्रणैरनेकैः शतपोनक वदेत्।" (मा नि अ. ४६)। "तत्र वातजा। चीयतेऽणुमुखैश्छिद्रैः शतपोनकवत् क्रमात्॥ अच्छ स्रवद्भिरास्रावमजस्र फेनसयुतम्। शतपोनकसज्ञोऽय" (अ स. उ अ ३३)।

१ "पित्त तु प्रकुपितमनिलेनाध प्रेरित पूर्ववदवस्थित रक्ता तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रग्रीवाकारा पिडकां जनयति। साऽस्य चोषादीन् वेदनाविशेपाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्चाग्निक्षाराभ्यामिव दह्यते, दुर्गन्धमुष्णमास्राव स्रवति, उपेक्षितश्च वात-मूत्र-पुरीष-रेतासि विसृजति। त भगन्दरमुष्ट्रग्रीवमाचक्षते।" (सु नि अ ४)। "पित्तादुष्ट्रग्रीवावदुच्छ्रिता। रागिणी तनुरूष्माढ्या ज्वरधूमायनान्विता। ×। उष्ट्रग्रीवस्तु पित्तज।" (अ स. उ अ. ३३)। "प्रकोपणे पित्तमति प्रकोपित करोति रक्ता पिडका गुदाश्रिताम्। तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं भगन्दर तूष्ट्रशिरोधर वदेत्।" (मा नि अ ४६)॥ २ "श्लेष्मा तु प्रकुपित समीरणेनाध प्रेरित पूर्ववदवस्थित शुक्लावभासा स्थिरां कण्डूमती पिडका जनयति। साऽस्य कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च कठिन सरम्भी कण्डूप्रायः पिच्छिलमजस्रमास्राव स्रवति, उपेक्षितश्च वात-मूत्र पुरीष-रेतासि विसृजति। त भगन्दर परिस्राविणमित्याचक्षते।" (सु नि. अ. ४)। "स्थिरा स्निग्धा महामूला पाण्डु. कण्डुमती कफात्।"

सान्निपातिक भगन्दरकी संप्राप्ति और लक्षण—

प्रकुपित वात पित्त और कफको अपने साथ ले, नीचे आ, गुदाके समीपवर्ती एक-दो अगुल प्रदेशमें ठहर कर पॉवके अगूठेके अग्रभागके प्रमाणकी तीनों दोषोके लक्षणयुक्त पिडका उत्पन्न करता है। उसमें तोद-दाह-कण्डू आदि वेदनाएँ, शूल, अरुचि, तृषा, ज्वर और वमन ये लक्षण होते हैं। इस पिडकाकी चिकित्सा न करनेसे वह पक कर व्रण होता है । व्रणकी गतियाँ-नालियॉ दारुण वेदनाओंके वेगके साथ गुदाको विदीर्ण करती हैं। उससे विविध वर्णका स्राव होता है । उसमे जलभरी हुई नदीमे जैसे क्षुद्र शखके आवर्त (चारों ओर फिरना) होते हैं उसी प्रकार रह-रह कर वेदनाएँ होती हैं, अत. इस भगन्दरको **शम्बूकावर्त** कहते हैं[1]।

आगन्तु भगन्दरकी सप्राप्ति और लक्षण—

मासलोलुप मनुष्य जब अज्ञानसे अन्नके साथ अस्थिका टुकडा खा लेता है तब गाढ़े मलके साथ मिला हुआ वह अस्थिका टुकडा अपान वायुसे गुदाकी ओर प्रेरित हो कर और टेढा आकर (जब टेढ़ा आता है तब) गुदामे क्षत उत्पन्न करता है। उस क्षतमें कोथ-सड़ान उत्पन्न होता है । जैसे जलार्द्र भूमिमे कृमि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार रक्तव्याप्त मासकोथमे कृमि उत्पन्न होते हैं । वे कृमि गुदाको खाते हुए गुदाको पार्श्वसे विदीर्ण करते हैं। उस कृमिकृत मार्गसे वात-मूत्र-मल और वीर्य बाहर आते हैं। इस भगन्दरको **उन्मार्गी** (क्षतज) कहते हैं[2]।

(अ स उ. अ. ३३)। "बहुपिच्छापरिस्रावी परिस्रावी कफोद्भव ।" (अ. हृ. उ. अ २८)। "कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदन । श्वेतावभास कफज परिस्रावी भगन्दर ॥" (मा. नि अ ४६)।

१ "वायु प्रकुपित. प्रकुपितौ पित्त-श्लेष्माणौ परिगृह्याधो गत्वा पूर्ववदवस्थित पादाङ्गुष्ठ-प्रमाणां सर्वलिङ्गा पिडका जनयति, साऽस्य तोद-दाह-कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रति-क्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्राव स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समु-त्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषा , त भगन्दर शम्बूकावर्तमित्याचक्षते ।" (सु नि अ ४)। "पादाङ्गुष्ठ-समा सर्वैर्दोषैर्नानाविधव्यथा । शूलारोचक-तृड्-दाह-ज्वर-च्छर्दिरुपद्रुता ॥" (अ. स. उ अ. ३३)। "सर्वज शम्बुकावर्त शम्बुकावर्तसन्निभ । गतयो दारयन्त्यस्मिन् रुग्वेगैर्दारुणैर्गुदम् ॥" (अ हृ. उ अ २८)। "बहुवर्ण-रुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा । शम्बूकावर्तवन्नाली शम्बूकावर्तको मत ॥" (मा नि अ ४६)। २ "मूढेन मासलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृत यदाऽवगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाध प्रेरितमसम्यगागत गुद क्षिणोति, तत्र क्षतनिमित्त कोथ उपजायते । तस्मिंश्च क्षते रुधिर-पूयावकीर्णमासकोथे भूमाविव जलक्लिन्नाया क्रिमय. सजायन्ते, ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति, तस्य तैर्मार्गे कृमिकृतैर्वात-मूत्र-पुरीष-रेतास्यभिनि सरन्ति, त भगन्दरमुन्मार्गिणमित्याचक्षते ।" (सु नि अ ४)। "अस्थिलेशो-ऽभ्यवहृतो मासगृद्ध्या यदा गुदम् । क्षिणोति तिर्यङ् निर्गच्छन्नुन्मार्गं क्षततो गति. ॥ स्यात्तत;

वातपित्तज भगन्दरके लक्षण—

वातपित्तसे प्राकार-किलेके चारों ओर जैसे परिखा-खाई होती है इसी प्रकार गुदाके चारों ओर नालीव्रण होता है, उसको **परिक्षेपी** भगन्दर कहते हैं । वातपित्तसे जो भगन्दरपिडका होती है वह श्याव और ताम्र वर्णकी, सार्वत्रिक और प्रादेशिक दाहयुक्त तथा भयकर पीडा करनेवाली होती है[1] ।

वातकफज भगन्दरके लक्षण—

वातकफसे ऋजु-सरल गतिवाले व्रणसे गुदा विदीर्ण होती है, उस भगन्दरको **ऋजु** कहते हैं । वातकफज भगन्दरपिडका कण्डुयुक्त, कुछ श्याववर्ण और कष्टसे पकनेवाली होती है[2] ।

कफपित्तज भगन्दरके लक्षण—

जब वात और पित्त प्रथमसे उत्पन्न अर्शमें आश्रय करके प्रकुपित होते हैं तब अर्शके मूलमें कण्डू-दाह आदि वेदनायुक्त शोथ उत्पन्न होता है । वह शोथ पक कर फूटने पर अर्शके मूलमें क्लेद उत्पन्न करके निरन्तर पूयका स्राव करता है, उसको **अर्शोभगन्दर** कहते हैं[3] ।

भगन्दरके साध्यासाध्यत्वका विचार—

आठ प्रकारके भगन्दरोंमें तीन एकदोषज और तीन द्वन्द्वज ये छ भगन्दर कृच्छ्रसाध्य हैं, सान्निपातिक और क्षतज भगन्दर असाध्य है । प्रवाहणी गुदवली तक पहुँचा हुआ या सेवनीमें प्राप्त भगन्दर असाध्य है[4] ।

पूयदीर्णाया मासकोथेन तत्र च । जायन्ते कृमयस्तस्य खादन्त. परितो गुदम् ॥ विदारयन्ति न चिरादुन्मार्गी क्षतजश्च स ।" (अ हृ उ अ २८)। "क्षताद्गति पायुगता विवर्धते ह्युपेक्षणाद् स्यु क्रिमयो विदार्य ते । प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखैर्व्रणैस्तमुन्मार्गिभगन्दर वदेत् ॥" (मा नि. अ ४६)।

१ "वातपित्तात् परिक्षेपी परिक्षिप्य गुद गति. । जायते परितस्तत्र प्राकार परिखेव च ॥" (अ हृ उ अ २८)। "श्यावाऽऽताम्रा सदाहोषा घोररुग्वात-पित्तजा (पिडका) ।" (अ. स. उ. अ ३३)। २ "ऋजुर्वातकफादृज्व्या गुदो गत्याऽत्र दीर्यते ।" (अ हृ उ. अ. २८)। "पाण्डुरा किञ्चिदाश्यावा कृच्छ्रपाका कफानिलात् ।" (अ स उ. अ ३३)। ३ "कफपित्ते तु पूर्वोत्थ दुर्नामाश्रित्य कुप्यत. । अर्शोमूले तत शोथ कण्डूदाहादिमान् भवेद् ॥ स शीघ्र पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शस । स्रवत्यजस्र गतिभिरयमर्शोभगन्दरः ॥" (अ हृ उ अ. २८)। "कफपित्तजस्तु भगन्दर 'कफपित्ते' इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यते, तेनेह तत्पिडका तत्प्रकृता नाभिहिता ।" (अ ट)। ४ "षट् कृच्छ्रसाधनास्तेषा, निचय-क्षतजौ त्यजेत् । प्रवाहिणीं वलीं प्राप्त सेवनीं वा समाश्रितम् ॥" (अ हृ उ अ २८)। "घोराः साधयितु दुःखा सर्व एव भगन्दरा । तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थ क्षतजश्च भगन्दर. ॥" (सु. नि. अ. ४)।

भगन्दरपिड़का और अन्य पिडकामें अन्तर—

गुदाके अन्तके प्रदेशमें गूढ़ मूलवाली, अल्प पीडा और शोथवाली तथा शीघ्र शान्त होने वाली जो पिडका होती है उसको भगन्दरसे भिन्न प्रकारकी जानना चाहिए, इसके विपरीत गुदासे दो अगुलके प्रदेशमें, गहरे मूलवाली, पीडा और ज्वरयुक्त तथा व्रण पर जाने पर भी फिर होनेके स्वभाववाली जो पिडका उत्पन्न होती है उसको **भागन्दरी पिड़का-भगन्दरपिड़का** जानना चाहिए[1]।

विद्रधिनिदानाधिकार।

इस रोगको 'विद्रधि' नाम देनेका हेतु—

इस रोगमें रक्तकी अति दुष्टि होनेके कारण शीघ्र विदाह-पाक होता है, इसलिए इस रोगको **विद्रधि** कहते हैं (च.)। सुश्रुतने **विद्रधि** सज्ञा निरुपाधि सकेतमात्र मानी है। 'विद्रधि' शब्द पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है। **'विद्रधि'** ह्रस्व इकारान्त तथा **विद्रधी** दीर्घ ईकारान्त दोनों पाए जाते हैं[2]।

विद्रधिके भेद—

विद्रधिके दो प्रधान भेद होते हैं-(१) **बाह्य विद्रधि** और (२) **आभ्यन्तर विद्रधि**[3]।

बाह्य विद्रधिकी संप्राप्ति, सामान्य लक्षण और भेद—

अपने-अपने हेतुओंसे अति प्रकुपित अस्थ्याश्रित दोष त्वचा, रक्त, मास और मेदको दूषित करके धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाला, गंभीर मूलवाला और पीडायुक्त गोल या लंबा जो शोथ (व्रणशोथ) उत्पन्न करते हैं, उसको **विद्रधि** कहते हैं। बाह्य विद्रधि त्वचा, स्नायु और मासमें उत्पन्न होता है। उसकी आकृति कण्डरा (बडी स्नायु) के सदृश होती है और उसमें बडी पीडा होती है। कारणभेदसे बाह्य विद्रधिके **वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, क्षतज** और **रक्तज** ये छ भेद होते हैं[4]। उनके लक्षण क्रमश कहे जाते हैं।

---

१ "उत्पद्यतेऽल्परुक्शोथा क्षिप्र चाप्युपशाम्यति। पाय्वन्तदेशे पिडका सा ज्ञेयाऽन्या भगन्दरात्॥ पायो स्याद् द्व्यङ्गुले देशे गूढमूला सरुग्ज्वरा। भागन्दरीति विज्ञेया पिडकाऽतो विपर्ययात्॥" (सु नि. अ ४)। "गूढमूला ससरम्भा रुगाढ्या रूढकोपिनीम्। भगन्दरकरीं विद्यात् पिटका न ततोऽन्यथाम्॥" (अ स उ अ ३३)। २ "दुष्टरक्तातिमात्रत्वाद् स वै शीघ्र विदह्यते। तत. शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते।" (च सू अ १७)। ३ "विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा।" (च. सू. अ. १७)। ४ "त्वग्रक्त-मास-मेदासि प्रदूष्या-स्थिसमाश्रिता। दोषा शोथ शनैर्घोर जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥ महामूल रुजावन्त वृत्त वाऽप्यथवाऽऽयतम्। स विद्रधिरिति ख्यातो, विज्ञेय षड्विधश्च स॥ पृथग्दोषै. समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा। षण्णामपि हि तेषा तु लक्षण सप्रवक्ष्यते॥" (सु नि अ ९) "विद्रधिरिति ख्यात इति' 'इति'शब्देन निरुपाधिसकेतमात्रा (सुश्रुते) विद्रधिसज्ञेति दर्शयति।" (श्री. द.)। "बाह्या त्वक्स्नायु-मासोत्था कण्डराभा महारुजा।" (च सू अ १७)।

वातविद्रधिके लक्षण—

वातविद्रधि कृष्ण या अरुण वर्णका, कठिन, अत्यन्त वेदनायुक्त तथा नाना प्रकारकी आकृति (कभी छोटी कभी बड़ी) और पाकवाला होता है[१] ।

पित्तविद्रधिके लक्षण—

पित्तविद्रधि पके हुए गूलरके सदृश या श्याव वर्णका, ज्वर और दाहयुक्त तथा शीघ्र उठने और पकनेवाला होता है[२] ।

कफविद्रधिके लक्षण—

कफविद्रधि शरावके सदृश मध्यमें उभड़ा हुआ और बड़ा, पाण्डुवर्ण, शीतस्पर्श, स्तब्ध, अल्प वेदनावाला, देरीसे बढ़ने और पकनेवाला तथा कण्डूयुक्त होता है[३] ।

दोषज विद्रधियोंके स्राव—

वातविद्रधिसे पतला (या थोड़ा), पित्तविद्रधिसे पीला और कफविद्रधिसे श्वेत वर्णका स्राव होता है[४] ।

सान्निपातिक विद्रधिके लक्षण—

सान्निपातिक विद्रधि नाना प्रकारके वर्ण-पीडा और स्राव वाला, मध्यमें बड़ा, विषम आकृतिवाला तथा विषम (कहीं अल्प कहीं अधिक) पाकवाला होता है[५] ।

क्षतज—आगन्तु विद्रधिके लक्षण—

ऊपरसे गिरना-प्रहार आदि कारणोंसे अभिघात या क्षत होने पर अपथ्य सेवन करनेसे क्षतजन्य ऊष्मा वायु द्वारा फैल कर तथा रक्त और पित्तको दूषित करके आगन्तु–क्षतज विद्रधि उत्पन्न करता है । आगन्तु विद्रधिमे ज्वर, तृषा, दाह तथा पित्तविद्रधिके समान लक्षण होते हैं[६] ।

---

१ "कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदन. । चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसभव. ॥" (सु. नि. अ ९) । २ "पक्वोदुम्बरसकाश श्यावो वा ज्वरदाहवान् ॥ क्षिप्रोत्थान-प्रपाकश्च विद्रधि. पित्तसभव. ॥" (सु नि. अ ९) । ३ "शरावसदृश पाण्डु. शीत स्तब्धोऽल्प-वेदन. । चिरोत्थान-प्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थित ॥" (सु नि. अ ९) । ४ "तनु-पीत-सिताश्चैपामास्रावा क्रमश. स्मृता ।" (सु नि अ. ९) । ५ "नानावर्ण-रुजा-स्रावो घाटालो विषमो महान् । विषम पच्यते चापि विद्रधि सान्निपातिक ॥" (सु. नि. अ. ९) । "घाटाल इति घाटा ऊर्ध्वभागो महान् यस्यास्तीति स घाटाल. ।" (ड.) । ६ "तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यसेविन । क्षतोष्मा वायुविसृत सरक्त पित्तमीरयेत् ॥ ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिन । एष विद्रधिरागन्तु पित्तविद्रधिलक्षण ॥" (सु. नि अ. ९) । "शस्त्राद्यैरभिघातेन क्षते वाऽपथ्यकारिण. ॥ क्षतोष्मा वायुविक्षिप्त सरक्त पित्तमीरयन् । पित्तासृग्लक्षण कुर्याद्विद्रधिं भूर्युपद्रवम् ॥" (अ स. नि अ. ११) ।

रक्तविद्रधिके लक्षण—

रक्तविद्रधि कृष्ण वर्णकी फुंसियोंसे व्याप्त, श्याव वर्णका, तीव्र दाह-पीडा और ज्वर करनेवाला और पित्तविद्रधिके समान लक्षणोंवाला होता है[1]।

वक्तव्य-सुश्रुतने ये लक्षण बाह्य विद्रधिके बताए हैं।

आभ्यन्तर विद्रधिके हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षण—

ठण्डा-गुरु-असात्म्य और विरुद्ध अन्न खाना, पथ्य और अपथ्य अन्न एकत्र मिलाकर खाना, ठण्डा-वासी अन्न-विदाही अन्न-उष्ण रूक्ष तथा शुष्क (शाक-मास आदि)का अति भोजन, अपक्व अन्न खाना, विगडा हुआ मद्य अति पीना, मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकना, अति श्रम, टेढा व्यायाम करना, टेढ़ा सोना, अति भार उठाना, अति चलना और अति मैथुन-इन कारणोसे प्रकुपित एक-एक या मिले हुए दोष जब शरीरके आभ्यन्तर प्रदेशमे प्रकुपित होते हैं तब शरीरके भीतरके गुदा, वस्ति-मूत्राशय-का मुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षण (उदर और ऊरुका सन्धिप्रदेश), वृक्क, यकृत्, प्लीहा, हृदय और क्लोम-इन स्थानोंमे गुल्मके आकारका और वल्मीक जैसा उन्नत, तीव्र वेदनावाला, दारुण ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं। दोषभेदसे आभ्यन्तर विद्रधिके लक्षण बाह्यविद्रधिके समान जानने चाहिए। विद्रधिके आम, पच्यमान और पक्व अवस्थाके लक्षण व्रणशोथके समान ही जानने चाहिए (देखें इसी ग्रन्थमे पृ १८२ पर) (सु.)। बींधनेके और काटनेके समान पीडा, चक्कर आना, आनाह, शब्द आना, स्फुरण-फडकना और फैलना इन लक्षणोंसे वातिक, तृषा, दाह, मूर्च्छा, नशा चढ़ा सा रहना और ज्वर-इन लक्षणोंसे पैत्तिक, तथा जृम्भा, मिचली, अरुचि, स्तम्भ और शीत-इन लक्षणोंसे श्लैष्मिक विद्रधि जानना चाहिए। इन सब विद्रधियोंमे जब पाक होता है तब बडा शूल, शस्त्रसे छेदनके समान-अग्निसे जलाने जैसी और बीछू काटने जैसी पीड़ा होती है। वातविद्रधिसे पतला, रूक्ष (स्नेहरहित), अरुण या श्याव वर्णका और फेनयुक्त, पित्तविद्रधिसे तिल-उडद और कुलथीके क्वाथसदृश, कफविद्रधिसे श्वेतवर्ण, पिच्छिल और गाढा तथा सान्निपातिक विद्रधिसे ऊपर कहे हुए सब लक्षणोंवाला स्राव होता है[2] (च.)।

---

१ "कृष्णस्फोटावृत श्यावस्तीव्रदाहरुजा-ज्वर । पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ॥" (सु नि अ. ९)। २ "शीतकान्न-विदाह्युष्ण-रूक्ष शुष्कातिभोजनात् । विरुद्धाजीर्ण-सक्लिष्ट-विषमासात्म्यभोजनात् ॥ व्यापन्नबहुमद्यत्वाद्वेगसधारणाच्छ्रमात् । जिह्मव्यायाम-शयनादतिभा-राध्व-मैथुनात् ॥ अन्त शरीरे मासासृक् प्रविशन्ति यदा मला । तदा सजायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थ सुदारुण ॥ हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयो. । नाभ्या वङ्क्षणयोर्वाऽपि बस्तौ वा तीव्रवेदन. ॥ दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्र विदह्यते । तत शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥ व्यध-च्छेद-भ्रमानाहशब्द-स्फुरण सर्पणै ॥ वातिकीं, पैत्तिकीं तृष्णा-दाह-मोह-मद-ज्वरै ॥ जृम्भोत्क्लेशारुचि-स्तम्भशीतकै श्लैष्मिकीं विदु । सर्वासु महच्छूल विद्रधीषूपजायते ॥ शस्त्रैर्भिद्यत इव चोल्मुकैरिव दह्यते । विद्रधी व्यम्लता याता वृश्चिकैरिव दश्यते ॥ तनु-रूक्षारुण-श्याव फेनिलं वातविद्रधी । तिल-माष-कुलत्थोदसन्निभ पित्तविद्रधी ॥ श्लैष्मिकी स्रवति श्वेत पिच्छिलं

वाग्भटके मतसे विद्रधिके हेतु, संप्राप्ति और लक्षण—

बासी-अति उष्ण-रूक्ष-शुष्क और विदाही अन्न खाना, टेढा सोना, टेढी चेष्टाएँ और रक्तको दूषित करनेवाले अन्य कारणोंसे प्रकुपित दोष त्वचा, मांस, मेद, अस्थि, स्नायु, रक्त और कण्डरामें स्थानसंश्रय करके (उनको दूषित करके) बाहर या भीतरके प्रदेशमें गंभीर मूलवाला और बड़ी पीडा वाला गोल अथवा लंबा जो शोथ (व्रणशोथ) उत्पन्न करते हैं उसको **विद्रधि** कहते हैं। **वातज, पित्तज, कफज, संनिपातज, रक्तज** और **क्षतज** भेदसे विद्रधि छ प्रकारका होता है। बाह्य विद्रधि शरीरके किसी भी अवयवमें दारुण, गाँठ सा और उन्नत होता है। आभ्यन्तर विद्रधि अत्यन्त दारुण, गहरा, गुल्म-सदृश घन, बाँबी जैसा ऊँचा तथा अग्नि और शस्त्रके सदृश शीघ्र मारनेवाला नाभि, वस्ति (मूत्राशय), यकृत्, प्लीहा, हृदय, उदर, वंक्षण, वृक्क और गुदा-इन स्थानोंमें होता है। वातज विद्रधि श्याव या अरुण वर्णका, देरीसे बढ़ने और पकनेवाला, विषम आकृतिवाला होता है, तथा उसमें अति तीव्र बींधने और कटने जैसी पीडा, चक्कर आना, आनाह, फड़कना, फैलना और शब्द आना ये लक्षण होते हैं। पित्तविद्रधि लाल या काले रंगका, शीघ्र बढ़ने और पकनेवाला तथा तृषा-दाह-मूर्च्छा और ज्वर—इन लक्षणों वाला होता है। कफविद्रधि देरीसे बढ़ने और पकनेवाला, पाण्डुवर्णका तथा कण्डू-मिचली-शीतज्वर-स्तब्धता-जृम्भा-अरुचि और गौरव-इन लक्षणोंसे युक्त होता है। सान्निपातिक विद्रधि ऊपर लिखे हुए सब लक्षणोंसे युक्त होता है। ऊपर लिखे हुए लक्षण बाह्य-विद्रधिमें सामान्य रूपमें तथा आभ्यन्तर विद्रधिमें विशेष रूपमें देखनेमें आते हैं। स्त्रियोंको एक प्रकारका बाह्य या आभ्यन्तर रक्तज विद्रधि होता है जो काले रंगकी फुंसियोंसे व्याप्त, श्याव वर्णका, तीव्र दाह-पीडा और ज्वरयुक्त तथा पित्तविद्रधिके समान लक्षणोंवाला होता है[१]।

बहल बहु। लक्षणसर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी ॥" (च. सू. अ. १७)। "आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते । गुर्वसात्म्यविरुद्धान्न-शुष्क-सस(क्लि)ष्टभोजनात् ॥ अतिव्यवाय-व्यायाम-वेगाघात-विदाहिभि । पृथक् सभूय वा दोषा कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥ वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्त. कुर्वन्ति विद्रधिम्। गुदे वस्तिमुखे नाभ्या कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥ वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा। तेषा लिङ्गानि जानीयाद्बाह्यविद्रधिलक्षणै ॥ आमपक्वैषणीयाच्च पक्वापक्व विनिर्दिशेत् ।" (सु. नि. अ ९)।

१ "भुक्तै पर्युषितात्युष्ण-रूक्ष-शुष्क-विदाहिभि । जिह्मशय्या-विचेष्टाभिस्तैस्तैश्चासृक्प्रदूषणै ॥ दुष्टत्वङ्मास-मेदोऽस्थि-स्नाय्वसृक्कण्डराश्रय. । य शोफो बहिरन्तर्वा महामूलो महारुज· ॥ वृत्त स्यादायतो यो वा स्मृत षोढा स विद्रधि । बाह्योऽत्र तत्र तत्राङ्गे दारुणो ग्रथितोन्नतः ॥ आन्तरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवद्घन । वल्मीकवत् समुच्छ्रायी शीघ्रघात्यग्निशस्त्रवत्॥ नाभि-वस्ति-यकृत्प्लीह-क्लोम-हृत्कुक्षि-वङ्क्षणे । स्याद्वृक्कयोरपाने च, वातात्तत्रातितीव्ररुक् ॥ श्यावारुणश्चिरोत्थान-पाको विषमसंस्थिति. । व्यध-च्छेद-भ्रमानाह-स्पन्द-सर्पणशब्दवान् ॥ रक्त-ताम्रासित- पित्ता-

स्थानविशेषमें उत्पन्न विद्रधिमें होनेवाले विशेष लक्षण—

इन विद्रधियोंके साध्यत्व और असाध्यत्वके ज्ञानके लिए भिन्न-भिन्न स्थानमें होनेवाले आभ्यन्तर विद्रधिके विशेष लक्षण कहे जाते हैं—हृदयमें उत्पन्न विद्रधिमें हृदयकी धड़कन, हृदयमें दारुण शूल, तमक श्वास-दमा, मूर्च्छा, सारे शरीरमें पीडा और खाँसी ये लक्षण होते हैं। क्लोममें उत्पन्न विद्रधिमें तृषा, मुँह सूखना और गला पकड़ना (कण्ठका अवरोध) ये लक्षण होते ह। यकृतमें उत्पन्न विद्रधिमें श्वास होता है। प्लीहामें उत्पन्न विद्रधिमें श्वास रुकना यह लक्षण होता है। कुक्षिमें उत्पन्न विद्रधिमें कुक्षिके दोनो पार्श्व और अंस-स्कन्धमें शूल तथा पेटमें गुड-गुडाहट होती है। नाभिमें उत्पन्न विद्रधिमें हिक्का होती है। वंक्षणमें उत्पन्न विद्रधिमें सक्थि (जाँघ-पाँव) का अवसाद तथा कमर और पृष्ठकी पीडा होती है। वस्ति-मूत्राशय-में उत्पन्न विद्रधिमें पेशाब कष्टसे, दुर्गन्धयुक्त और अल्प आना ये लक्षण होते हैं। वृक्कमें उत्पन्न विद्रधिमें कमर, पृष्ठ और पार्श्वमें पीड़ा तथा पार्श्वमें सकोचसी प्रतीति होती है। गुदामें उत्पन्न विद्रधिमें अधोवातका अवरोध होता है[1]।

स्थानविशेषमें उत्पन्न विद्रधिका स्राव कहाँसे होता है—

नाभिके ऊपरके भागमें होनेवाले विद्रधि जब पक कर फूटते हैं तब मुखसे स्राव होता है, नाभिके नीचेके अवयवोंमें हुए विद्रधि जब पक कर फूटते हैं तब गुदासे स्राव

तृण्मोह-ज्वर-दाहवान्। क्षिप्रोत्थान-प्रपाकश्च, पाण्डु कण्डूयुत कफात् ॥ सोत्क्लेश-शीतक-स्तम्भ-तन्द्रारोचक-गौरव। चिरोत्थान-प्रपाकश्च, सकीर्ण सन्निपातत. ॥ सामर्थ्याच्चात्र विभजे-द्बाह्याभ्यन्तरलक्षणम्। कृष्णस्फोटावृत -श्यावस्तीव्रदाह-रुजा-ज्वर. ॥ पित्तलिङ्गोऽसृजा बाह्य स्त्रीणामेव तथाऽऽन्तर ।" (अ हृ नि. अ. ११)।

१ "अथासा विद्रधीना साध्यासाध्यत्वविशेषज्ञानार्थं स्थानकृत लिङ्गविशेषमुपदेक्ष्याम —तत्र प्रधानमर्मजाया विद्रध्या हृद्घट्टन तमक-प्रमोह-कास-श्वासा , क्लोमजाया पिपासा-मुखशोष-गलग्रहा , यकृज्जाया श्वास , प्लीहजायामुच्छ्वासोपरोध , कुक्षिजाया कुक्षि-पार्श्वान्तरासशूल, वृक्कजाया पृष्ठ-कटिग्रह , नाभिजाया हिक्का, वङ्क्षणजाया सक्थिसाद , वस्तिजाया कृच्छ्र-पूति-मूत्रत्व चेति ।" (च सू अ १७)। "अधिष्ठानविशेषेण लिङ्ग शृणु विशेषत । गुदे वातनिरोधस्तु, वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ नाभ्या हिक्का, तथाऽऽटोप. कुक्षौ मारुतकोपनम् । कटी-पृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ॥ वृक्कयो पार्श्वसकोच , प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् । सर्वाङ्ग-प्रग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुण ॥ श्वासो यकृति, तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ।" (सु नि अ ९)। "नाभ्या हिध्मा, भवेद्वस्तौ मूत्र कृच्छ्रेण पूति च। श्वासो यकृति, रोधस्तु प्लीह्न्युच्छ्वासस्य, तृट् पुन ॥ गलग्रहश्च क्लोम्नि, स्यात् सर्वाङ्गप्रग्रहो हृदि। प्रमोहस्तमक कासो हृदये घट्टन व्यथा ॥ कुक्षि-पार्श्वान्तरासार्ति कुक्षावाटोपजन्म च । सक्थ्नोर्ग्रहो वङ्क्षणयोर्वृक्कयो कटि-पृष्ठयो ॥ पार्श्व-योश्च व्यथा, पायौ पवनस्य निरोधनम् ।" (अ हृ नि. अ. ११)।

होता है और नाभिमें हुआ विद्रधि जब पक कर फूटता है तब मुख और गुदा दोनोंसे स्राव होता है[1]।

विद्रधिके साध्यासाध्य लक्षण—

सान्निपातिक विद्रधि तथा हृदय, नाभि और मूत्राशयमें उत्पन्न विद्रधि भीतर या बाहरकी ओर पक्क हो कर फूटे या मुखसे स्राव हो तथा जो विद्रधि क्षीण पुरुषको हुआ हो या उपद्रव युक्त हो वह असाध्य होता है। उक्तसे अन्य विद्रधिमें यदि क्रियाकुशल वैद्य द्वारा शीघ्र चिकित्सा हो तो वे अच्छे होते हैं। मर्मस्थानमें उत्पन्न विद्रधि अपक्क हो या पक्क, बडा हो या छोटा सब कष्टसाध्य होता है। विद्रधिका स्राव यदि अधोभाग-गुदासे हो तो मनुष्य जी जाता है, परन्तु ऊर्ध्वभाग-मुखसे स्राव हो तो रोगी जीता नहीं-मरता है। हृदय-नाभि और वस्तिको छोड कर अन्य स्थानमें उत्पन्न विद्रधि यदि पक कर बाहरकी ओर फूटे तो रोगी कदाचित् बच जाता है[2]।

स्त्रियोंको ही होनेवाले रक्तज विद्रधिका लक्षण—

जिन स्त्रियोंको प्रसवकालके पहिले ही गर्भस्राव या गर्भपात हो जाय उनको, या प्रसवके अनन्तर जो स्त्रियाँ अहित आहार-विहारका सेवन करें उनको दाह और ज्वर करने वाला भयंकर **रक्तविद्रधि** होता है। प्रसवकालमें ठीक प्रसव होने पर भी रक्तका सम्यक् स्राव हो तो **मक्कल्ल** नामका रक्तज विद्रधि होता है। यह विद्रधि यदि एक सप्ताहमें शान्त न हो तो पकता है[3]।

---

१ "पक्कप्रभिन्नास्वूर्ध्वजासु मुखात् स्राव स्रवति, अधोजासु गुदात्, उभयतस्तु नाभिजासु।" (च सू अ १७)। "नाभेरुपरिजा पक्का यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वध ।" (सु नि. अ ९)। "नाभेरूर्ध्वं मुखात् पक्का, प्रस्रवन्त्यधरे गुदात्। गुदास्यान्नाभिज " (अ हृ नि अ ११)। २ "आसां हृन्नाभि वस्तिजा परिपक्का सान्निपातिकी च मरणाय, शेषा. पुनः कुशलमाशु-प्रतिकारिण चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति ।" (च सू अ. १७)। "जीवत्यधो नि स्रुतेषु, स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति। हृन्नाभि वस्तिवर्ज्या ये तेपु भिन्नेषु वाह्यत ॥ जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन।" (सु नि अ ९)। "तत्र विवर्ज्य सन्निपातज. । पक्को हृन्नाभि-बस्तिस्थो भिन्नोऽन्तर्बहिरेव वा ॥ पक्कश्चान्तः स्रवन् वक्त्रात् क्षीणस्योपद्रवान्वित ।" (अ. हृ. नि. अ ११)। ३ "स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः । दाह-ज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधि. ॥ अपि सम्यक्प्रजातानामसृक्कायादनि.सृतम्। रक्तज विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्ल-सञ्ज्ञितम्। सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ सम्प्रपच्यते।" (सु. नि. अ. ९)।

भग्ननिदानाध्याय-अष्टम ।

वक्तव्य—अस्थिके टूटने या अस्थिसन्धिके मुक्त-पृथक् होनेको **भग्न** या **भङ्ग** (**अस्थिभङ्ग या अस्थिभग्न**) कहते हैं।

अस्थिभङ्गके कारण—

पतन (ऊँचेसे गिरना), पीडन (दबना), प्रहार (मार-चोट), आक्षेपण (जोरसे चालन-हिलाना), व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियोंका काटना आदि नाना प्रकारके अभिघातोंसे अनेक प्रकारका अस्थिभङ्ग होता है[१]।

अस्थिभङ्गके प्रधान भेद—

यद्यपि आकृतिविशेषसे अस्थिभग्नके अनेक भेद होते हैं, तथापि उनका **सन्धिमुक्त** (दो अस्थियोंका सन्धिस्थानसे पृथक् हो जाना) तथा **काण्डभङ्ग** (हड्डीका टूटना) इन दो भेदोंमें समावेश होता है। उनमें सन्धिमुक्त के छ और काण्डभग्नके बारह भेद होते हैं[२]।

सन्धिमुक्तके छ भेद तथा उनके सामान्य और विशेष लक्षण—

सन्धिमुक्तके **उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित, अवक्षिप्त, अतिक्षिप्त** और **तिर्यक्-क्षिप्त** ये छ भेद होते हैं। सब प्रकारके सन्धिमुक्तोंमें प्रसारण (फैलाने)-आकुञ्चन (सिकुड़ने)-विवर्तन (मोड़ने) और हिलानेमें अशक्तता, उग्र पीडा और स्पर्श सहन न होना ये सामान्यलक्षण होते हैं। विशेष करके उत्पिष्टमें सन्धिस्थानमें दोनों ओर शोथ, वेदना होना और विशेषत रात्रिमें अधिक वेदना होना ये लक्षण होते हैं, विश्लिष्टमें अल्प शोथ, वेदना निरन्तर रहना और सन्धिस्थानमें विक्रिया ये लक्षण होते हैं, विवर्तितमें सन्धि पार्श्वमें हट जानेसे अङ्गमें विषमता और वेदना ये लक्षण होते हैं, अवक्षिप्तमें सन्धि अलग हो जाना और तीव्र पीडा होना ये लक्षण होते हैं, अतिक्षिप्तमें सन्धिके दोनों

---

१ "पतन-पीडन-प्रहाराक्षेपण-व्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति ।" (सु नि अ १५), (अ स उ अ ३२)। "प्रहारो मुष्टि-लगुड-कृपाण-बाणादीनाम्, आक्षेपणमतिशयेन चालन,' प्रभृतिग्रहणाद्बलवद्विग्रहादीनामवरोध ।" (ड.)। २ "तत्र भग्नजातमनेकविधमनुसार्यमाण द्विविधमेवोपपद्यते—सन्धिमुक्त, काण्डभग्न च। तत्र षड्विध सन्धिमुक्त, द्वादशविध काण्डभग्न भवति।" (सु नि अ १५)। "भग्न समासाद्द्विविधं हुताश काण्डे च सन्धौ च" (मा नि अ. ४४)। "काण्डमस्थिकाण्ड । काण्डेन च नलक-कपाल-वलय-तरुण-रुचकाना ग्रहण, तत्र भग्न काण्डभग्न, द्वयोरस्थ्नो. सन्धान सन्धि., तद्विश्लेष. सन्धिमुक्तम्।" (श्री. द.)।

पार्श्वके अस्थिका दूर हट जाना और पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं, तथा तिर्यक्क्षिप्तमें एक अस्थि पार्श्वमें हट जाता है और अत्यन्त वेदना होती है (सु.)।

काण्डभग्नके भेद, सामान्य लक्षण तथा विशिष्ट लक्षण—

काण्डभग्नके **कर्कट, अश्वकर्ण, चूर्णित, पिच्चित, अस्थिच्छल्लित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित** और **स्फुटित**-ये बारह भेद होते हैं। शोथ अधिक होना (सन्धिभग्नकी अपेक्षया), स्पन्दन-फड़कना, मुड़ना, स्पर्श सहन न होना, दबाने पर आवाज आना, अंग ढीला पड़ जाना, विविध प्रकारकी वेदनाएँ उत्पन्न होना तथा उठने-बैठने-सोने आदि किसी भी हालतमें आराम न मालूम होना-ये काण्डभग्नके सामान्य लक्षण हैं। विशेषतः **कर्कटकमें** अस्थि दोनों पार्श्वसे निष्पीडनसे चौड़ा-फैला और दबा हुआ तथा बीचमें ग्रन्थिके समान उभरा हुआ होता है, जिस भग्नमें अस्थि घोड़ेके कानके समान ऊपर उभर आवे उसको **अश्वकर्ण** कहते हैं; जिसमें स्पर्श करनेसे शब्द-आवाज सुनाई दे उसको **चूर्णित** जानना चाहिए, जिसमें अधिक शोथ हो और अस्थि चौड़ा हो जाय उसको **पिच्चित** जानना चाहिए, जिसमें अस्थि दोनों पार्श्वोंमें छालके सदृश कुछ उभर आवे उसको **अस्थिच्छल्लित** जानना चाहिए, जो अस्थि हिलानेसे काँपने लगे उसको **काण्डभग्न** जानना चाहिए, अस्थिका अवयव-टुकड़ा अस्थिके मध्यमें प्रविष्ट होकर मज्जाको बाहर लावे उसको **मज्जानुगत** कहते हैं, अस्थि निःशेषतः छिन्न (दो टुकड़े) हो जाय उसको **अतिपातित** जानना चाहिए, जो अस्थि मुड़कर टेढ़ा हो जाय परन्तु दो भागोंमें अलग न हो जाय उसको **वक्र** जानना चाहिए;

---

१ "तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम्। तत्र प्रसारणाकुञ्चन-विवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धि-मुक्तलक्षणमुक्तम्। विशेषेणोत्पिष्टे सन्धावुभयतः शोथो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति, विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धिविक्रिया च, विवर्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च, अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च, अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च, तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना चेति।" (सु. नि. अ. १५)। "तत्तु भङ्गजातं सन्धावसन्धौ च। × ×। × ×। अथोत्पिष्टे स्वस्थान एव सन्धावुभयतः शोथो वेदना, विशेषतश्च रात्रौ भवति, × × ×।" (अ. सं. उ. अ. ३२)। "पात-घातादिभिर्द्वेधा भङ्गोऽस्थ्नां सन्ध्यसन्धितः। प्रसारणाकुञ्चनयोरशक्तिः सन्धिमुक्तता॥" (अ. हृ. उ. २७)। "तत्र सन्धौ। उत्पिष्ट-विश्लिष्ट-विवर्तितं च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च॥ प्रसारणाकुञ्चन-वर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्। सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गमुत्पिष्टसन्धे श्वयथुः समन्तात्। विशेषतो रात्रिभवा रुजा च, विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम्॥ विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्रास्तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति। क्षिप्तेऽति शूलं विषमत्वमस्थ्नः, क्षिप्ते त्वधो रुग्विघटश्च सन्धेः॥" (मा. नि. अ. ४४)।

जो अस्थि कट कर एक पार्श्वमें अवशिष्ट रह जाय उसको **छिन्न** जानना चाहिए, अस्थि छोटे-छोटे बहुत टुकड़ोंमें विदारित हो जाय और वेदनायुक्त हो उसको **पाटित** जानना चाहिए, जो अस्थि शूकपूर्ण सदृश, फूला हुआ, चौड़ा और फटा हुआ सा हो जाय उसको **स्फुटित** जानना चाहिए[1]।

---

१ "काण्डभग्नमत ऊर्ध्वं वक्ष्याम -कर्कटकम्, अश्वकर्णं, चूर्णित, पिच्चितम्, अस्थिच्छल्लित, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित, स्फुटितमिति द्वादशविधम्। श्वयथुबाहुल्य स्पन्दन-विवर्तन-स्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्द सस्त्राङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भाव सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम्। विशेषतस्तु समूढमुभयतोऽस्थि मध्ये भ(ल)ग्न ग्रन्थिरिवोन्नत कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णक, स्पृश्यमान शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्, पिच्चित पृथुता गतमनल्पशोथ, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छल्लित, वेल्लते प्रकम्पमान काण्डभग्नम्, अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नयतीति मज्जानुगतम्, अस्थि नि शेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आमुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्ट छिन्न, पाटितमणु-बहुविदारित वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मात विपुल विस्फुटित स्फुटितमिति।" (सु नि. अ. १५)। "समूढमुभयत इति उभयो पार्श्वयोर्निष्पीडनेनाततावनत मध्ये ग्रन्थिरिवोन्नतम्। अस्थिच्छल्लितमिति अस्थि छल्लमिव, छल्ल वल्कल, तत् सजात यस्य। आमुग्नमीषज्जिह्मम्। अविमुक्तास्थि अविच्छिन्नास्थि वक्रम्। अन्यतरपार्श्वे अवशिष्ट छिन्नकपार्श्वमित्यर्थ। अणु-बहुविदारितमिति अणूनि बहूनि विदरणानि यस्य। शूकपूर्णमिव वेदनावत्। आध्मात शूनम्।" (गयदास.)। "असन्धिभग्न पुनर्द्वादशविध, तद्यथा—कर्कट, वक्र, स्फुटित, वेल्लितम्, अस्थिच्छल्लिका, अश्वकर्ण, पिच्चित, दारित, चूर्णितम्, अतिपातित, शेषित, मज्जानुगतमिति। X। "वैशेषिक च समूढमुभयतोऽस्थि मध्ये भग्न ग्रन्थिरिवोन्नत कर्कटानुकारि कर्कटक, आमुग्नमविमुक्तमस्थि वक्र, शूकपूर्णमिवाध्मात विपुलैकदारि स्फुटित, द्विधाभूत वेल्लते प्रकम्पमान वेल्लितक, पार्श्वतोऽस्थिहीनमुद्गतमस्थिच्छल्लिका, अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्ण, पृथुता गतमनल्पशोथ पिच्चितम्, अणुबहुविदारि वेदनावच्च दारित, स्पृश्यमान शब्दवच्चूर्णितम्, अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविशन्नतिपातितम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्ट शेषित, क्षत भग्नमुन्नम्यमान मज्जि मज्जति मज्जानुगतम्।" (अ स उ. अ. ३२)। "कर्कटानुकारि कर्कटम्। कर्कटो जलप्राणी। आमुग्नमीषद्भग्नम्, अविमुक्त सन्धानान्न चलति तद्वक्रम्। विपुल कृत्वैकेन प्रकारेण दीर्यत इति विपुलैकदारि। यदस्थि द्विधाभूत प्रकम्पमान वेल्लते प्रोल्लडति तद्वेल्लितकम्। यदस्थि पार्श्वेन किञ्चिद्धीनमुद्गत चलित-विदीर्णवृक्षत्वग्वदयुक्त तदस्थिच्छल्लिका। सूक्ष्मानेकभागविदीर्ण वेदनावच्च यदस्थि तद्दारितम्।" (इन्दु)। "इतरस्मिन् भृश शोथ सर्वावस्थास्वतिव्यथा। अशक्तिश्चेष्टितेऽल्पेऽपि पीड्यमाने सशब्दता॥ समासादिति भग्नस्य लक्षण, बहुधा तु तत्। भिद्यते भङ्गभेदेन, तस्य सर्वस्य साधनम्॥ यथा स्यादुपयोगाय तथा तदुपदेक्ष्यते। प्राज्याणुदारि यत्त्वस्थि स्पर्शे शब्द करोति यत्॥ यत्रास्थिलेश प्रविशेन्मध्यमस्थ्नो विदारित। भग्न यच्चाभिघातेन किञ्चिदेवावशेषितम्॥ उन्मथ्यमान क्षतवद्यच्च

कृच्छ्रसाध्य भग्नके लक्षण—

ऊपर लिखे हुए भग्नोंमें चूर्णित, छिन्न, अतिपातित, मज्जानुगत (सु.), दारित और शेषित (वृ. वा.), व्रणयुक्त तथा सन्धिस्थानमें उत्पन्न भग्न और कृश, वृद्ध, बालक, क्षतक्षीण, कुष्ठरोगी, श्वासरोगी, वेदना-चिकित्सा आदिको सहन न करनेवाले, उपद्रवयुक्त, अल्प भोजन करनेवाले, अजितेन्द्रिय और वातप्रकृतिवाले–इनके भग्न कष्टसाध्य होते हैं[1] ।

भग्नके असाध्य लक्षण—

कटिके प्रदेशमें भिन्न-सन्धिमुक्त तथा विशेषतः च्युत भग्न, जघनस्थानमें पिष्ट भग्न, ललाटमें (शिर कपालोंमें) सन्धिमुक्त तथा चूर्णित भग्न एवं दो स्तनोंके मध्यमें-कनपटीमें ललाटमें पृष्ठमें और सिरमें हुआ भग्न तथा कूर्पर (कोहनी) का अस्थिसन्धि ठीक बैठाने पर टेढा हो जावे वह असाध्य होता है । प्रारम्भमें ही जो अस्थि या अस्थिसन्धि ठीक न बैठाया गया हो वह असाध्य होता है । अस्थिका ठीक सधान होने पर भी उसको शय्या आदिमें ठीक न रखनेसे-ठीक न बाँधनेसे या मैथुनादिके क्षोभसे भग्न विकृत हो जानेपर वह असाध्य होता है[2] ।

किस प्रकारके अस्थिमें किस प्रकारका भग्न होता है—

तरुणास्थि टेढे-वक्र होते हैं, नलकास्थि टूटते हैं, कपालास्थि विदीर्ण होते हैं और रुचकास्थि-दाँत फटते हैं[3] ।

मज्जनि मज्जति ।" (अ. हृ उ अ. २७) । "काण्डे त्वत कर्कटाश्वकर्ण-विचूर्णितं पिच्चित-मस्थिच्छल्लिका । काण्डेषु भग्न ह्यतिपातित च मज्जागत च स्फुटित च वक्रम् ॥ छिन्न द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धि । सपीड्यमाने भवतीह शब्द. स्पर्शासह स्पन्दन तोद-शूला ॥ सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् । भग्न तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥" (मा. नि अ ४४) ।

१ "तेषु चूर्णित-च्छिन्नातिपातित-मज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि कृश-वृद्धाबलाना क्षतक्षीण-कुष्ठि श्वासिना सव्रणानि सन्ध्युपगतानि च ।" (सु उ अ. १५) । "एवमन्त्यानि पञ्च कृच्छ्रसाध्यानि कृशातिबाल-वृद्धासहानामल्पाशनाना वातात्मकाना कुष्ठिनामुपद्रववता च ।" (अ स. उ. अ. २२) । "तद्धु साध्य कृशाशक्त-वातलाल्पाशिनामपि ।" (अ. हृ. उ. २७) । "अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च । उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्न कृच्छ्रेण सिध्यति ॥" (मा नि. ४४) । २ "भिन्न कपाल कट्या तु सन्धिमुक्त तथा च्युतम् । जघन प्रति पिष्ट च वर्जयेत्तच्चिकित्सक ॥ असंश्लिष्ट कपाल तु ललाटे चूर्णित च यत् । भग्न स्तनान्तरे शङ्खे मूर्ध्नि पृष्ठे च वर्जयेत् ॥ आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिरथापि वा । सम्यक् सहितमप्यस्थि दुर्न्यासाद्दुर्निबन्धनात् । सक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रिया तच्च वर्जयेत् ।" (सु नि अ १५) । "असाध्य तु भिन्न कटिकपाल सन्धिमुक्त वा, जघनमुत्पिष्ट, कूर्परो विवर्तित , ललाट चूर्णितमसश्लिष्टकपाल च, शिर.-शङ्ख-पृष्ठ-स्तनान्तरभग्न चेति ।" (अ. स उ. अ. २२) । ३ "तरुणास्थीनि नम्यन्ते, भज्यन्ते नलकानि तु । कपालानि विभिद्यन्ते, स्फुटन्ति रुचकानि च ॥" (सु. नि. अ. १५) ।

श्लीपदनिदानाध्याय–नवम ।

श्लीपदकी संप्राप्ति और भेद—

अपने-अपने हेतुओंके सेवनसे सञ्चित और प्रकुपित वात, पित्त और कफ मांस और रक्तको दूषित कर, नीचे की ओर गमन कर, क्रमशः वंक्षण-ऊरु (जाँघ)-जानु (घुटना) तथा कुछ समयके अनन्तर पाँवके अग्र भाग तक आश्रय (स्थानसंश्रय) करके धीरे धीरे ज्वर और विविध पीड़ा-युक्त, घन (मोटा-स्थूल) शोथ उत्पन्न करते हैं, इस रोगको **श्लीपद** कहते हैं । कई आचार्य कहते हैं कि-पूर्वोक्त वंक्षण आदि स्थानोंके अतिरिक्त हाथ, नाक, होंठ, कान, नेत्र, शिश्न (लिंग) और वृषण पर भी श्लीपद होता है । यद्यपि श्लीपद तीनों दोषोंसे होता है, तथापि सब प्रकारके श्लीपदोंमें कफकी अधिकता (प्रधानता) रहती है; क्यों कि गुरुत्व-भारीपन और महत्त्व-मोटापन-स्थूलता ये कफके विना नहीं हो सकते हैं[1] ।

किन देशोंमें श्लीपद रोग अधिक होता है—

पृथ्वीके जिन देशोंमें पुराना जल अधिक समय तक छोटे तालाब आदि जलाशयोंमें पड़ा रहता है तथा जो देश सब ऋतुओंमें शीतल-ठण्डे रहते हैं उन देशोंमें (अनूपदेशमें) श्लीपद अधिक होता है[2] ।

---

१ "जङ्घानु पिण्डी-प्रपदोपरिष्टात् स्याच्छ्लीपदं मांसकफास्रदोषात् ।" (च. चि. अ १२) "कुपितास्तु दोषा वात-पित्त-श्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरु-जानु जङ्घास्ववतिष्ठमाना कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोथं जनयन्ति विविधवेदनाप्रादुर्भावं च, तं श्लीपदमित्याचक्षते । तत्त्रिविधं— वात-पित्त-कफनिमित्तमिति । त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात् । गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥ पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम् । कर्णाक्षि-नासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥" (सु नि अ १२) । "तं श्लीपदमित्याचक्षत इति पारिभाषिकी निरुपाधिरेव श्लीपदसंज्ञेति 'इति' शब्देन प्रकाशयति ।" (गयदास) । "प्रस्थिता वङ्क्षणोर्वादिमधः कायं कफोल्बणाः । दोषा मांसासृगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते ॥ शनैः शनैर्घनं शोथं श्लीपदं तं प्रचक्षते । पाणि-पादौष्ठ-कर्णेषु वदन्त्यन्ये तु पादवत् ॥ श्लीपद" (अ. सं उ अ. ३४) । "यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण । तच्छ्लीपदं स्यात् कर-कर्ण-नेत्र-शिश्नौष्ठ-नासास्वपि केचिदाहुः ॥ (मा. नि अ ३९) । २ "पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः । ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥" (सु नि अ. १२) । "अनूपदेशस्य पुराणोदकभूयिष्ठता, जाङ्गलस्योन्नतसमभूतलत्वात् सलिलं पतितं न तिष्ठति, स्थितमपि रूक्षोष्ण-शुष्कत्वाद्देशस्य शोषमुपैति । तेन जाङ्गलदेशस्य शीतेऽप्यशीतता ।" (ड.) । "आनूपदेशे हि सलिलं पतितं बहूदकं निम्नतया न शोषति, जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागतया न पुराणोदकभूयिष्ठता, स्तिमितत्वानूपस्य मन्दातपत्वेनोष्णर्तावपि न शीतत्येत उक्तं—सर्वर्तुषु च शीतला इति ।" (श्री. द.) । "जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं भ्रमात् ।" (अ. सं. उ अ. ३४) । "तच्च श्लीपदं भृशमानूपे देशे भ्रमात् सञ्चरणाज्जायते ।" (इन्दुः) ।

दोषभेदसे श्लीपदके लक्षण—

वातज श्लीपद खर, कठिन, कालाई लिए हुए वर्णका, परुष (स्निग्धतारहित), अकारण तीव्र वेदनायुक्त और प्राय फटनेवाला (दरारयुक्त) होता है। पित्तज श्लीपद पीले रगका, कुछ मृदु और ज्वरयुक्त होता है। कफज श्लीपद श्वेत या पाण्डु वर्णका, मन्द वेदनावाला, गुरु, स्थिर (न फैलनेवाला), मोटा-स्थूल और काँटे जैसे मासाङ्कुरोंसे व्याप्त होता है[1]।

श्लीपदके असाध्य लक्षण—

जिस श्लीपदको उत्पन्न होनेको एक वर्ष बीत चुका हो, जो अति बडा और फैला हुआ हो, जो वल्मीक-बॉबीके सदृश बीच-बीचमे उभरा हुआ दिखता हो, जिससे स्राव होता हो, जो कफप्रकृति मनुष्यको कफवर्धक आहार-विहारोंके सेवनसे उत्पन्न हुआ हो, जिसमें सब लक्षण अधिक रूपमे दिखाई देते हों तथा खुजली आती हो उसको असाध्य जानना चाहिए[2]।

विसर्पनिदानाध्याय-दशम ।

'विसर्प' और 'परिसर्प' शब्दकी निरुक्ति—

यह रोग शरीरमे विविध प्रकारसे (ऊपर-नीचे-तिरच्छा) सर्पण करता (फैलता-फैलनेकी प्रकृतिवाला होता) है अत इसको **वि(वी)सर्प** और परित (चारो ओर) सर्पण करता (फैलता) है इसलिए इसको **परिसर्प** कहते हैं[3]।

दोषभेदसे विसर्पके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, वातपित्तज-अग्निविसर्प, पित्त-

---

१ "तत्र वातज खर कृष्ण परुषमनिमित्तानिलरुज परिस्फुटति च बहुश , पित्तज तु पीतावभासमीषन्मृदु ज्वर-दाह प्राय च, श्लेष्मज तु स्निग्धावभास मन्दवेदन भारिकं महाग्रन्थिक कण्टकैरुपचित च ।" (सु नि अ १२) । "परिपोट्युत कृष्णमनिमित्तरुजं खरम्। रूक्ष च वाताद्, पित्तात्तु पीत दाह-ज्वरान्वितम् । कफाद्गुरु स्निग्धमरुक् चितं मासाङ्कुरैर्बृहत्।" (अ स उ. अ ३४) । "वातज कृष्ण-रूक्ष च स्फुटितं तीव्रवेदनम् । पित्तज पीतसकाश दाह-ज्वरयुत मृदु ॥ श्लैष्मिक स्निग्धवर्ण च श्वेत पाण्डु स्थिर गुरु ।" (मा नि अ ३९)। २ "तत्र सवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकजात प्रस्र(स्रु)त च वर्जनीयमिति ।" (सु नि अ १२)। "तत्त्यजेद्वत्सरातीत सुमहत् सुपरिस्रुति ।" (अ स उ. अ ३४)। "वल्मीकमिव सजात कण्टकैरुपचीयते। अब्दात्मक महत्तच्च वर्जनीय विशेषत. ॥ यच्छ्लेष्मलाहारजात पुस प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य । सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्ग सकण्डुर श्लेष्मयुत विवर्ज्यम् ॥" (मा नि अ ३९)। ३ "विविध सर्पति यतो **विसर्पस्तेन स स्मृत·** । **परिसर्पोऽथवा** नाम्ना सर्वत परिसर्पणात् ॥" (च चि. अ २१)।

कफज-कर्दमविसर्प और **कफवातज-ग्रन्थिविसर्प** इन भेदोंसे विसर्प सात प्रकारका होता है (च.)। सुश्रुतने विसर्पके **वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज** और **क्षतज** ये पॉच भेद लिखे हैं[1]।

विसर्पकी उत्पत्तिमें कारणभूत सात धातु—

विसर्पकी उत्पत्तिमे वात, पित्त और कफ ये तीन दोष तथा रक्त, लसीका, त्वचा और मास ये चार दूष्य-इस प्रकार सात धातु (आधाररूप) कारण होते हैं[2]।

अधिष्ठानभेदसे विसर्पके भेद—

बाह्याधिष्ठान (त्वचामे आश्रित दोषोंसे होनेवाला), **अभ्यन्तराधिष्ठान** (भीतरके अवयवोंमे आश्रित दोषोंसे होनेवाला) और **उभयाधिष्ठान** (त्वचा और भीतरके अवयव दोनोंमे आश्रित दोषोसे होनेवाला) इस प्रकार अधिष्ठानभेदसे विसर्प तीन प्रकारका होता है। ये प्रकार उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं । बहिर्मार्गाश्रित विसर्प साध्य, अभ्यन्तराश्रित दारुण और कृच्छ्रसाध्य तथा उभयाश्रित असाध्य होता है[3]।

पूर्वोक्त तीनो प्रकारके विसर्पोंकी संप्राप्ति—

अपने-अपने प्रकोपक कारणोंसे विशेषत विदाही पदार्थोंके सेवनसे प्रकुपित वातादि दोष जब शरीरके भीतरके अवयवोंमे फैलते हैं तब **अन्तराश्रय,** बाह्य भागमें फैलते हैं तब **बहिराश्रय** और जब बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों अवयवोंमे फैलते है तब **उभयाश्रय** विसर्प उत्पन्न करते हैं[4]।

बाह्य और आभ्यन्तर विसर्पके लक्षण—

हृदय आदि मर्मस्थानोका उपघात, इन्द्रियोंका मोह (अपने विषयोंमें अयथावत् प्रवृत्ति), स्रोतोंका अवरोध, अति तृषा, मल मूत्र आदिके वेगोकी विषम प्रवृत्ति तथा अग्नि

---

१ "स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेय सप्तधातुक । पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रय ॥ वातिक पैत्तिकश्चैव कफज सान्निपातिक । चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रय ॥ आग्नेयो वात-पित्ताभ्या ग्रन्थ्याख्य कफ-वातज । यस्तु कर्दमको घोर. स पित्त-कफसभव ॥" (च चि. अ २१)। २ "रक्त लसीका त्वङ्मास दूष्य दोषास्त्रयो मला । विसर्पाणा समुत्पत्तौ विज्ञेया सप्त धातव ॥" (च चि. अ २१)। ३ "बहि श्रित श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसश्रित । विसर्पो बलमेतेषा ज्ञेय गुरु यथोत्तरम् ॥ बहिर्मार्गाश्रित साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् । विसर्प दारुण विद्यात् सुकृच्छ्र त्वन्तराश्रयम् ।" (च चि अ २१)। ४ "स्याद्विसर्पोऽभिघातान्तैर्दोषैर्दूष्यैश्च शोथवत् । त्र्यधिष्ठान तु त प्राहुर्बाह्यान्तरुभयाश्रयात् ॥ यथोत्तर च दु साध्यास्तत्र दोषा यथायथम् । प्रकोपणै स्वै कुपिता विशेषेण विदाहिभि ॥ देहे शीघ्र विसर्पन्ति तेऽन्तरन्त.श्रिता, बहि. । बहि.स्था, द्वितये द्विस्था " (अ स. नि अ १३)।

और बलका क्षय इन लक्षणोंसे आभ्यन्तर, तथा इन लक्षणोंके न होने और अन्य अपने (वातजादिके) लक्षणोंसे बाह्य विसर्प जानना चाहिए[1] ।

विसर्पके सामान्य हेतु और संप्राप्ति—

लवण-अम्ल और कटु पदार्थोंका अति सेवन, खट्टा दही, दहीके ऊपरका खट्टा पानी, शुक्त (सिरका), सुरा-मद्य, सौवीरक (सन्धानविशेष), बिगड़ा हुआ मद्य, उष्ण पदार्थ, राग (व्यञ्जनविशेष), षाडव (व्यञ्जनविशेष), विदाही शाक, हरितक वर्गके शाक, कूर्चिका ( ), किलाट ( ), कच्चा दही, शाण्डाकी आदि आसुत (सन्धान-विशेष), तिल, उड़द, कुलथी, तैल, मैंदेसे बने हुए भक्ष्य, ग्राम्य–आनूप और जलचर वर्गके प्राणियोंका मांस, लहसुन, सड़े-गले हुए पदार्थ, असात्म्य पदार्थ, एकत्र मिले हुए परस्पर विरुद्ध पदार्थ, अति भोजन, दिनमें सोना, अजीर्ण, अध्यशन, रस्सी आदिसे किसी अवयवको बाँधना, ऊपरसे गिरना, स्वेदका अतियोग, जहरीली हवा, मार-चोट, तथा अग्निदोष (दूषित जठराग्नि)–इन हेतुओंसे प्रकुपित वातादि दोष रक्त-लसीका-त्वचा और मांस इन दूष्योंको दूषित करके सर्व शरीरमें फैलनेवाला (शरीरके एकदेशसे दूसरे देशमें जानेवाला), विस्तृत और न उभरनेवाला शोथ उत्पन्न करते हैं । यह शोथ विविध प्रकारसे और सर्वत्र फैलता है इसलिए इस शोथको **विसर्प** या **परिसर्प** कहते हैं[2] ।

वातविसर्पके लक्षण—

रूक्ष और उष्ण पदार्थोंसे प्रकुपित केवल–स्वतन्त्र वात अथवा अन्य दोषोंके आवरणसे प्रकुपित–परतन्त्र वात रक्त-लसीका-त्वचा और मांस-इन दूष्योंको दूषित करके अपने

---

१ "मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् । तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ॥ विद्यादीसर्पमन्तर्जमाशु चाग्नि-बलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः ।" (च. चि. अ २१)। "विद्यात्तत्रान्तराश्रयम् । मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् ॥ तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् । आशु चाग्नि-बलभ्रंशादतो बाह्यं विपर्ययात् ॥" (अ. सं. नि अ १३)। २ "लवणाम्ल-कटूष्णानां रसानामतिसेवनात् । दध्यम्लमस्तु-शुक्तानां सुरा-सौवीरकस्य च ॥ व्यापन्नबहुमद्योष्ण-राग-षाडवसेवनात् । शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥ कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च । दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ॥ तिल-माष कुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च । ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥ प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात् । अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात् । वध-बन्ध-प्रपतनाद्घर्मकर्मातिसेवनात् । विषवातानिदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥ एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः । दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥" (च चि. अ २१)। "त्वङ्मांस-शोणितगताः कुपितास्तु दोषाः सर्वाङ्गसारिणमिहास्थित-मात्मलिङ्गम् । कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोथं तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥" (सु. नि अ. १०)।

बलानुसार शरीरमें फैलता हुआ वातविसर्प उत्पन्न करता है। वातिक विसर्पमें चक्कर आना, नशा चढ़ा सा रहना, दाह, तृषा, सूई चुभने सी वेदना, शूल, अंगोंमे पीडा, उद्वेष्टन (नीचेसे ऊपरकी ओर वेष्टन करने सी पीडा), कंप, वातज्वरके समान पीडा, आँखोंके सामने अँधेरा दिखना, खाँसी, अस्थिसन्धियोंमें टूटने सी पीडा, विश्लेषण-अलग होने सी पीड़ा, अरुचि, अन्न न पचना, नेत्रोंमे व्याकुलता और आँसू आना, अगोंमे च्युँटियाँ चलती हों ऐसी प्रतीति, शरीरके जिस अवयवमें विसर्प फैले उसका वर्ण श्याव या अरुण सा मालूम होना, शोथ होना, भेदनवत् (टूटने सी) पीडा, शूल, फैलना या वह अवयव सकुचित होता सा मालूम होना, रोमहर्प और फडकना ये लक्षण होते हैं। इस हालतमे उपचार न करने पर शीघ्र फटनेवाले-पतले-अरुण या श्याव वर्णके फोडे उठना, उन फोडोंसे पतला-अरुण वर्णका-स्निग्धतारहित अल्प स्राव होना, अधोवात-मूत्र और मलका अवरोध, निदानोक्त आहार-विहारोंसे रोग बढना और उसके विपरीत आहार-विहारोंके सेवनसे आराम मालूम होना ये लक्षण होते हैं। वातविसर्प जब अति-विषम गण्डोंसे दूपित होता है तब असाध्य होता है।[१]

पैत्तिक विसर्पके लक्षण—

उष्ण उपचार तथा विदाही और अम्ल भोजनोंसे सञ्चित और प्रकुपित पित्त रक्त, लसीका, त्वचा और मास इन दूष्योंको दूषित करके तथा धमनियों द्वारा फैलकर पैत्तिक विसर्प उत्पन्न करता है। पित्तविसर्पमे ज्वर, तृषा, मूर्च्छा, इन्द्रियोका मोह, वमन, अरुचि, अगोंमें टूटनेकी सी पीडा, अधिक पसीना आना, भीतर जलना, प्रलाप, सिरमे पीडा, नेत्रोंकी आकुलता, नींद न आना, बेचैनी, चक्कर आना, ठण्ढी हवा और ठण्डे जलकी अति इच्छा रहना, नेत्र-मूत्र और मल हरे या हलदीके समान वर्णके होना, सब

---

१ "रूक्षोष्णै केवलो वायु पूरणैर्वा समावृत । प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम्॥ तस्य रूपाणि–भ्रम-मद-दवथु-पिपासा-निस्तोद-शूलाङ्गमर्दोद्वेष्टन-कम्प-ज्वर-तमक-कासास्थिसन्धिभेद-विश्लेषण-वेपनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमश्र्वागमन पिपीलिकासचार इव चाङ्गेपु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाश श्यावारुणाभास श्वयथुमान् निस्तोदन-भेद-शूलायाम सकोच-हर्प-स्फुरणैरतिमात्र प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदै स्फोटकैस्तनुभिररुणाभै श्यावैर्वा तनु-विशदारुणाल्पास्रावै, विबद्धवात-मूत्र पुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरते, इति वातविसर्प ।" (च चि अ २१)। "अत्र च रूक्षादिभि स्वतन्त्र, पूरणेन च मार्गावरोधात् कुपित परतन्त्रो वायुर्ज्ञेय । उष्ण च यद्यपि न साक्षाद्वातजनक तथाऽपि रूक्षसबन्धादुष्ण वात करोति । उष्णसबद्धत्वसामान्यसप्राप्तिसप्राप्तमिह यत् पित्त तज्जन्यत इति ज्ञेयम्। दवथुश्चक्षुरादिष्वल्पसंताप । दवथुश्च पैत्तिकोऽप्यत्र उत्सर्गसिद्धविसर्पार्थगामिपित्त-रक्तसभवाद्भवति।" (च द)। "वातात्मकोऽसितमृदु. परुषोऽङ्गमर्दसभेद-तोद-पवनज्वरलिङ्गयुक्त । गण्डैर्यदा तु विपमैरतिदूपितत्वाद्युक्त स एव कथित खलु वर्जनीय ॥" (सु नि. अ १०)। "तत्र वातात् परीसर्पो वातज्वरसमव्यथ । शोफ स्फुरण-निस्तोद-भेदायामार्ति-हर्षवान् ॥" (अ स. नि अ १३)।

पदार्थोंको हरे या हलदीके समान रंगके देखना, जिस स्थानमे विसर्प फैले वह स्थान ताँवे सा-हरा-हलदी सा-नील (गहरा आसमानी)-काला या लाल रंगका होना, उभरे हुए–अति दाह और भेदवत् पीड़ायुक्त-तुल्य वर्णके स्राववाले और देरीसे पकनेवाले फोड़ोंसे व्याप्त होना, तथा जिन कारणोंके सेवनसे पैत्तिक विसर्प होता है उनके सेवनसे विसर्प बढ़ना और उनसे विपरीत आहार-विहारोंके सेवनसे रोग शान्त होना ये लक्षण होते हैं (च.)। पैत्तिक विसर्प शीघ्र फैलनेवाला, ज्वर-दाह-पाक-फोडे और प्रभेद (फूटना) इन लक्षणोंकी अधिकतावाला तथा रक्तके समान वर्णवाला होता है। जब दोषकी वृद्धिके कारण मास और सिरा गल कर सुरमे सदृश काले रगके कीचड़ जैसा दिखने लगे तब उसको असाध्य जानना चाहिए (सु.)। पित्तविसर्प अति रक्तवर्णका होता है और उसमे पित्तज्वरके समान लक्षण होते हैं[1] (वा.)।

कफविसर्पके लक्षण—

मधुर-अम्ल-लवण-स्निग्ध और गुरु अन्नपानके सेवन तथा अति निद्रासे सञ्चित और प्रकुपित कफ रक्त-लसीका-त्वचा और मास इन दूष्योको दूपित करके धीरे-धीरे फैलनेवाले कफविसर्पको उत्पन्न करता है। कफविसर्पमे शीत लगना, ठण्ढ लगकर ज्वर आना, शरीरका भारीपन, नीद अधिक आना, तन्द्रा, अरुचि, मुँह मीठा और कफसे लिपा हुआ रहना, वार-वार थूकना, वमन, आलस्य, शरीर गीले कपडेसे लपेटा हुआ सा मालूम होना, जठराग्नि मन्द होना और दुर्वलता ये लक्षण होते हैं। जिस प्रदेशमे विसर्प फैले वह स्थान शोथयुक्त, पाण्डुवर्ण, किञ्चित् रक्तवर्ण, स्निग्धता-सुन्नता-स्तम्भ और भारीपनयुक्त, अल्प वेदनावाला, देरीसे पकने और फैलनेवाले-त्वचाके ऊपर उपलेप-चिकनाहटयुक्त श्वेत और पाण्डुवर्ण फोडोसे व्याप्त होना, फोड़े फूटने पर श्वेतवर्ण-पिच्छिल तॉतदार गाढ़ा और स्निग्ध स्राव लगातार होना, अनन्तर गुरु-स्थिर-जालव्याप्त-स्निग्ध और त्वचाके ऊपर लेपयुक्त व्रण होना, रोग चिरकाल तक चलना, नख-नेत्र-चेहरा-त्वचा-मूत्र-और मल श्वेतवर्ण होना, जिन हेतुओसे कफविसर्प हुआ हो उनके सेवनसे रोग

---

१ "पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम्। दूष्यान् सदूष्य धमनी पूरयन् वै विसर्पति ॥ तस्य रूपाणि–ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेद स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाह. प्रलाप शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रम शीतवात-वारितर्षोऽतिमात्र हरित-हारिद्रनेत्र-मूत्र-वर्चस्त्व हरित-हारिद्ररूपदर्शन च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्र-हरित-हारिद्र-नील-कृष्ण-रक्ताना वर्णानामन्यतम पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाह-सभेदनपरीतैः स्फोटैरुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैश्चिरपाकैश्च, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्प ।" (च चि अ. २१)। "पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वर-दाह-पाक-स्फोट-प्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाश । दोषप्रवृद्धिहतमास-सिरो यदा स्यात् स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥" (सु. नि. अ. १०)। "पित्ताद् द्रुतगति. पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥" (अ. स. नि. अ. १३)।

बढ़ना तथा उनके विपरीत आहार-विहारोंके सेवनसे आराम मालूम होना ये लक्षण होते हैं (च.)। कफविसर्पमें धीरे-धीरे बढना, देरीसे पकना, शोथ श्वेतवर्ण और स्निग्ध स्पर्शवाला होना, पीड़ा कम होना तथा उग्र कण्डू-खाज आना ये लक्षण होते हैं (सु.)। कफविसर्पमें कफज्वरके समान लक्षण होते हैं[1] (वृ. वा.)।

वातपित्तज-अग्निविसर्पके लक्षण—

अपने हेतुओंके सेवनसे अतिमात्र प्रकुपित वात और पित्त परस्पर एक दूसरेसे बल प्राप्त करके शरीरमें दाहके साथ फैलते हुए **अग्निविसर्प** उत्पन्न करते हैं। अग्निविसर्पमें सब शरीर अंगारसे व्याप्त और जलता हुआ सा मालूम होना, वमन, अतिसार, मूर्च्छा, इन्द्रियोंका मोह, ज्वर, आंखोंके सामने अँधेरा दिखना, अरुचि, अस्थिसन्धियोंमें टूटने सी पीड़ा, तृषा, अन्न न पचना, अग्निमान्द्य, अंगोंमें पीड़ा होना, चक्कर आना आदि लक्षण होते हैं। शरीरके जिस अवयवमें विसर्प फैलता है वह अवयव कोयलेके समान काला या अति रक्त वर्णका और आगसे जलनेसे होने वाले फोड़ोंके सदृश फोड़ोंसे व्याप्त होता है। यह विसर्प शीघ्रगामी होनेसे शीघ्र मर्मस्थानों तक फैलता है। मर्मस्थान आक्रान्त होनेपर वायु प्रबल होकर अंगोंमें अत्यन्त पीड़ा, संज्ञानाश, हिक्का, श्वास और निद्रानाश करता है। नींद न आनेसे वह व्यथितचित्त होकर बैठने-सोने आदिमें कहीं भी सुख नहीं पाता है, बेचेनीके कारण स्थान(खड़े रहने)से आसन और आसनसे बिछौनेमें जानेकी इच्छा करता है तथा देह और मनके अतिक्लेश-श्रम-के कारण शीघ्र निद्रावश तथा दुर्बल होता है और कष्टसे जगाया जा सकता है। यह अग्निविसर्प असाध्य है[2]।

---

१ "स्वाद्वम्ल-लवण-स्निग्ध-गुर्वन्नस्वप्नसंचितः। कफः संदूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति॥ तस्य रूपाणि—शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेह-सुप्ति-स्तम्भ-गौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेत-पाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं स्निग्धमास्रावं स्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुपलेपैः व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनख-नयन-वदन-त्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः।" (च. चि. अ. २१)। "श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डूः॥" (सु. नि. अ. १०)। "कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक्।" (अ. सं. नि. अ. १३)। २ "वात-पित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः। परस्परं लब्धबलं दहद्गात्रं विसर्पति॥ तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसार-मूर्च्छा-दाह-मोह-ज्वर-तमकारोचकास्थिसंधिभेद-तृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति, अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते

कफपित्तज-कर्दमविसर्पके लक्षण—

अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित बलवान् कफ और पित्त शरीरके एक देशमें फैल कर प्रक्लेदयुक्त कर्दमविसर्प उत्पन्न करते हैं। कर्दमविसर्पमें शीत लगकर ज्वर आना, सिरका भारीपन, दाह, शरीर गीले कपड़ेसे लिपटा हुआ सा मालूम होना, अंगोंकी शिथिलता, निद्रा, तन्द्रा, इन्द्रियोंका मोह, अन्नद्वेष-अरुचि, प्रलाप, अग्निमान्द्य, दुर्बलता, अस्थियोंमें टूटने सी पीडा, मूर्च्छा, प्यास अधिक लगना, मुख-नासिकादि स्रोत कफलिप्तसे मालूम होना, इन्द्रियोंकी जड़ता, आम मलके दस्त लगना, हाथ-पाँव आदि अंग फेंकना, अंगोंमें पीड़ा, बेचैनी और उत्सुकता ये लक्षण होते हैं। अग्निविसर्पारम्भक दोष पहिले आमाशयसे आ कर पीछे मन्दगतिसे शरीरके किसी एक देशमें फैलते हैं। शरीरके जिस प्रदेशमें विसर्प फैलता है वह प्रदेश रक्त-पीत और पाण्डु वर्णकी पिड़काओंसे व्याप्त, मेचक(काजल)के सदृश काले रंगका, मलिन (मललिप्त), स्निग्ध, बहुत उष्ण स्पर्शवाला, गुरु, मन्द वेदनावाला, शोथयुक्त, गहराईमें पाकवाला, स्रावरहित, शीघ्र क्लिन्न-आर्द्र होनेवाला, स्वेदयुक्त, आर्द्र और पूति (दुर्गन्धि-सडेसे) मांस और त्वचायुक्त, क्रमसे मन्द होती हुई वेदनावाला, स्पर्श करनेसे कीचडके समान विदीर्ण होने और बीचमें अवकाश छोड देनेवाला (बीचमें अन्तर खड्डा-पडनेवाला) तथा गीले और सडे हुए मांस त्यागने-छोडनेवाला होता है। उसमे सिरा और स्नायु दिखने लगते हैं, शवके समान गन्ध आती है तथा संज्ञा और स्मरणशक्तिका नाश होता है। यह कर्दमविसर्प असाध्य है[1]।

पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रां, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनमासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति, तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात्।" (च. चि. अ. २१)। "वात-पित्ताज्ज्वर-च्छर्दि-मूर्च्छातीसार-तृड्-भ्रमैः। अस्थिभेदाग्निसदन-तमकारोचकैर्युतः ॥ करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत्। यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते। अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद्द्रुतं च सः ॥ मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः। व्यथेताङ्गं हरेत् संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ हिध्मां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना। क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमि-शय्यासनादिषु ॥ चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनो-देहश्रमोद्भवाम्। दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते॥" (अ. सं. नि. अ. १३)।

१ कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना। विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम् ॥ तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणामामोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एकदेशग्राही च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्त-पीत-पाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरु

कफवातज-ग्रन्थिविसर्पके लक्षण—

स्थिर-गुरु-कठिन-मधुर-शीत-स्निग्ध और अभिष्यन्दी अन्न-पानका सेवन, व्यायाम न करना तथा वमन-विरेचनादि शोधन कर्म न करना-इन कारणोंसे कफ और वात प्रकुपित होते हैं। प्रदुष्ट-बढे हुए और अति बलवान् कफ और वात रक्त-लसीका-त्वचा और मांस इनको दूषित करके ग्रन्थिविसर्प उत्पन्न करते हैं। कफसे अवरुद्धमार्ग वायु उसी कफको अनेक अगों-टुकडोंमें विभक्त करके कष्टसे पकने (कृच्छ्रपाक) और अच्छे होने वाले (कृच्छ्रसाध्य) ग्रन्थियोंकी माला कफाशयमें उत्पन्न करता है, अथवा प्रवृद्ध रक्त-वाले मनुष्यके शरीरमें सिरा स्नायु-मांस और त्वचामें आश्रित हो कर तीव्र पीडावाली, स्थूल या सूक्ष्म, दीर्घ (लंबी) या गोल, रक्तवर्ण और कठिन ग्रन्थियोंकी माला उत्पन्न करते हैं। इस व्याधिमे तीव्र पीडा, ज्वर, अतिसार, अरुचि, खाँसी, श्वास, हिक्का, शोष (धातुओंका क्षय), मुँह सूखना, इन्द्रियोंका मोह, वैवर्ण्य (फीकापन), अरुचि, अन्न न पचना, लालाका अधिक स्राव, उलटी, मूर्च्छा, अगोंमें भगवत् पीडा (अग टूटना), निद्रा, बेचैनी, अवसाद आदि उपद्रव होते हैं। इन उपद्रवोंसे युक्त ग्रन्थिविसर्पवाले रोगीके सब चिकित्साकर्म निष्फल होते हैं और वह असाध्य होता है (कई व्याख्याकार ग्रन्थिविसर्पको सुश्रुतोक्त अपचीरोग मानते हैं'–च. द.)।

स्तिमितवेदन श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्राव शीघ्रक्लेद स्विन्न-क्लिन्न-पूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तर प्रयच्छत्युपक्लिन्न-पूतिमांसत्यागी सिरा स्नायुसदर्शी कुणपगन्धी च भवति सज्ञा-स्मृतिहन्ता च, त कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्य विद्यात्। (च. चि. अ २१)। "कफ-पित्ताज्ज्वर स्तम्भो तन्द्रा-निद्रा-शिरोरुज। अङ्गावसाद-विक्षेप-प्रलापारोचक-भ्रमाः॥ मूर्च्छाऽग्निहानिर्भेदोऽस्थ्ना पिपासेन्द्रियगौरवम्। आमोपवेशन लेप स्रोतसा स च सर्पति॥ प्रायेणामाशय गृह्णन्नेकदेश च नातिरुक्। पिडकैरवकीर्णोऽतिपीत-लोहित-पाण्डुरै॥ मेचकाभोऽसित स्निग्धो मलिन शोफवान् गुरु। गम्भीरपाक प्राज्योष्मा स्पृष्ट क्लिन्नोऽव-दीर्यते॥ पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायु-सिरागण। शवगन्धी च वीसर्प कर्दमाख्यमुशन्ति तम्॥" (अ स. नि. अ १३)।

१ "स्थिर-गुरु-कठिन-मधुर-शीत-स्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिकर्म-शीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्ट-प्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते, तत्र वायु श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाक-साध्यां कफाशये सजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्त सिरा-स्नायु-मांस-त्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूना वा दीर्घ-वृत्त-रक्ताना, तदुपतापाज्ज्वरातीसार-कास-हिक्का-श्वास-शोष-प्रमोह-वैवर्ण्यारोचकाविपाक-प्रसेक च्छर्दि-मूर्च्छाङ्गभङ्ग-निद्रारति-सदनाद्या प्रादुर्भवन्त्युपद्रवा; स एतैरुपद्रुत सर्वकर्मणा विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्प।" (च चि अ. २१)। "दुष्टप्रवृद्धाविति परस्परदूषकत्वेन प्रवृद्धौ। कृच्छ्रपाक साध्यामिति च कृच्छ्रपाकां कृच्छ्रसाध्यां

सन्निपातज विसर्पके लक्षण—

जो विसर्प ऊपर वातिक-पैत्तिक और श्लेष्मज विसर्पके जो कारण कहे गये हैं उनके सेवनसे उत्पन्न हुआ हो, तीनों दोषज विसर्पोंके लक्षण-वर्ण और पीडायुक्त हो, सब धातुओंमें और गहराई तक व्याप्त हुआ हो, शीघ्र फैल गया हो और जिसमें पाक होकर मास और सिरा गल गए हों, उसको सान्निपातिक विसर्प जानना चाहिए; यह असाध्य होता है[1] ।

क्षतज विसर्पके लक्षण—

जिस मनुष्यके शरीरमें दोष अधिक हैं ऐसे मनुष्यके शरीरमें बाह्य क्षतके कारण प्रकुपित पित्त और वात रक्तको दूषित करके क्षतज विसर्प उत्पन्न करते हैं। क्षतज विसर्पमें वह प्रदेश कुलथीके सदृश काले रंगकी फुन्सियोंसे व्याप्त, श्याव और रक्त वर्णका तथा अति ज्वर-दाह-पाक और पीडायुक्त फैलनेवाले शोथयुक्त होता है[2] ।

विसर्पके साध्यासाध्य लक्षण—

वातज, पित्तज और कफज ये तीन एकदोषज विसर्प साध्य हैं। अग्निविसर्प और कर्दमविसर्प यदि मर्मस्थानतक प्राप्त न हुए हों, उनमें सिरा-स्नायु और मासका क्लेद (सडना-गलना) न हुआ तो साधारण चिकित्सासे सतत उपचार करनेसे अच्छे होते

च, कृच्छ्रपाकता च चिरेण पाकाज्ज्ञेया। उत्सन्नरक्तस्येति वृद्धरक्तस्य। सिरा-स्नायु-मासेत्यादौ ग्रन्थिविसर्प कुरुत इति योज्य, तेन तीव्ररुजादियुक्ताना ग्रन्थीनामाश्रय ग्रन्थिविसर्प कुरुत इत्यर्थ । तदुपतापादिति तेन ग्रन्थिविसर्पेण पीडनात्। सर्वकर्मणा विषयमतिपतितो भवतीति सर्वचिकित्साविषयतामतिक्रान्तो भवतीत्यर्थ. । सशब्देन चेह यथोक्तोपद्रवयुक्त एव ग्रन्थिविसर्प. प्रत्यवमृश्यते। अय च ग्रन्थिविसर्पस्तन्त्रान्तरे 'अपची'सज्ञया कथ्यत इत्याहु ।" (च. द.)। "कफेन रुद्ध पवनो भित्त्वा त बहुधा कफम् । रक्त वा वृद्धरक्तस्य त्वक्-सिरा-स्नाव(यु)-मासगम् ॥ दूषयित्वा च दीर्घाणु-वृत्त-स्थूल-खरात्मनाम्। ग्रन्थीना कुरुते माला रक्ताना तीव्ररुग्ज्वरान् ॥ श्वास-कासातिसारास्यशोष-हिध्मा-वमि-भ्रमै । मोह-वैवर्ण्य-मूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥ इत्यय ग्रन्थिवीसर्प कफ-मारुतकोपज ।" (अ. स नि अ १३)।

१ "सर्वायतनसमुत्थ सर्वलिङ्गव्यापिन सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्य विद्यात्।" (च चि अ २१)। "सर्वात्मकस्त्रिविधवर्ण-रुजोऽवगाढ पक्को न सिध्यति च मास-सिराप्रशातात्।" (सु. नि अ १०)। "सर्वजो लक्षणै सर्वै. सर्वधात्वभिसर्पण ।" (अ स नि अ १३)। २ "सद्य क्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्त रक्त च दोषबहुलस्य करोति शोफम् । श्याव सलोहितमतिज्वर-दाह-पाक स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥" (सु नि अ १०)। "बाह्यहेतो क्षतात् क्रुद्ध सरक्त पित्तमीरयन् । विसर्प मारुत. कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम् ॥ स्फोटै शोथ-ज्वर-रुजा-दाहाढ्य श्याव-लोहितम् ।" (अ. स. नि. अ १३)।

हैं; परन्तु यदि उनकी चिकित्सा अनादरसे ठीक न की जाय तो रोगीको मारते हैं। ग्रन्थिविसर्प यदि मर्मस्थानमें न हुआ हो और उसमें पूर्वोक्त उपद्रव उत्पन्न न हुए हों तो उसकी चिकित्सा करे, परन्तु यदि उपद्रव उत्पन्न हो गये हों तो उसकी चिकित्सा न करे (क्योंकि वह असाध्य होता है)। सन्निपातज विसर्प आशुकारी, सर्व धातुओंमें फैलनेवाला और विरुद्धोपक्रम होनेसे (उसमें एक दोषकी चिकित्सा करने पर दूसरा दोष बढता है इस लिए) उसकी चिकित्सा न करे[1]।

- विसर्पके उपद्रव—

ज्वर, अतिसार, वमन, त्वचा और मांसका गलना, विना परिश्रमके थकावट, अरुचि और अन्न न पचना ये विसर्पके उपद्रव हैं[2]।

वृद्धिनिदानाध्याय-एकादश।

वृद्धिरोगकी संप्राप्ति—

अपने-अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित वात, पित्त या कफ वायुकी गति अवरुद्ध होनेपर नीचेकी ओर जा, फलकोशवाहिनी धमनियों(रक्तवाहिनियों) मे प्राप्त हो कर (स्थानसश्रय करके) शोथ और शूलके साथ फलकोश (केवल फल–अड या कोश अथवा दोनों) की वृद्धि करते हैं, इस रोगको **वृद्धि** कहते हैं। वृद्धि शब्दका **डल्हणने** स्त्रीलिङ्गमें तथा **गयदास** और **वाग्भटने** पुल्लिङ्गमें प्रयोग किया है। **चरकने** वृद्धिके लिए **व्रध्न** शब्दका प्रयोग किया है।[3]

---

१ "तत्र वात-पित्त-श्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रय साध्या भवन्ति, अग्नि-कर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मण्यनुपगते वा सिरा-स्नायु-मासक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरोपक्रान्त पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद्देहमाश्वेवाशीविषवत्, तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्, उपद्रवोपद्रुत त्वेन परिहरेत्, सन्निपातज तु सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्य विद्यात्।" (च चि अ २१)। "सिध्यन्ति वातकफ-पित्तकृता विसर्पा सर्वात्मक· क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति। पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गौ सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्या॥" (सु. नि अ १०)। "दर्शितपूर्वलिङ्गाविति गण्डयुक्तो वातविसर्प, स्रोतोजकर्दमनिभ पित्तविसर्प· इति।" (ड)। "पृथग्दोषैस्त्रय साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवा। असाध्यौ क्षत-सर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मका॥ शीर्ण स्नायु-सिरा-मांसा प्रक्लिन्ना शवगन्धय.।" (अ सं. नि अ १३)। २ "ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसक्षरण क्लमः। अरुचिश्चाविपाकश्च विसर्पाणामुपद्रवा॥" (मा. नि अ ५२)। ३ "अथ प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोष. फलकोशवाहिनीरभिप्रपद्य धमनी. फल-कोशयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते।" (सु. नि. अ १२)। "फलं च कोशश्च तयोर्वाहिनी.। फल-

वृद्धिके भेद—

वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मेदोज, मूत्रज और **अन्त्रज** भेदसे वृद्धि रोग सात प्रकारका होता है। उनमें मूत्रवृद्धि और अन्त्रवृद्धि वातप्रकोपसे, रक्तज वृद्धि पित्तप्रकोपसे तथा मेदोज वृद्धि कफके प्रकोपसे होती है। परन्तु हेतुभेद (दूष्य-भेद) से उनकी पृथक् गणना की गई है[1]।

वृद्धिके पूर्वरूप—

बस्ति(मूत्राशय)-कटी-मुष्क (अण्ड) और लिंगमें वेदना, वात (अपान वात)-का अवरोध और फलकोशका शोथ ये वृद्धिके पूर्वरूप हैं[2]।

वातवृद्धिके लक्षण—

वातवृद्धि वायुसे भरी हुई मशक या वस्ति (मूत्राशय) के समान स्पर्शवाली और रूक्ष होती है। उसमे वाह्य कारणके विना अकस्मात् पीडा होती है (और अकस्मात् शान्त हो जाती है)[3]।

पित्तवृद्धिके लक्षण—

पित्तवृद्धि पके हुए गूलरके समान वर्णवाली, ज्वर और दाहयुक्त, उष्णस्पर्शवाली तथा शीघ्र बढने और पकनेवाली होती है[4]।

कोशयोरिति द्विवचनमत्र, तेनैकस्यापि फलकोशस्य वृद्धिर्भवति।" (गयदास.)। "क्रुद्धो रुद्धगतिर्वायु शोथ-शूलकरश्चरन्। मुष्कौ वङ्क्षणत प्राप्य फलकोशाभिवाहिनीः। प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फल-कोशयो।" (अ स नि. अ. ११)। "प्रकोपोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्र निरेति प्रविशेन्मुहुश्च। मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्ध च विद्यात् कठिन च शोथम्॥" (च चि. अ. १२)।

१ "वात-पित्त-श्लेष्म-शोणित-मेदो-मूत्रान्त्रनिमित्ता सप्त वृद्धय, तासा मूत्रान्त्रनिमित्ते वृद्धी वातसमुत्थे, केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतम।" (सु नि अ १२)। "सङ्ख्येयनिर्देशादेव सप्तसङ्ख्यासिद्धौ सप्तसङ्ग्रहण द्वन्द्वजादिवृद्धिनिषेधार्थं, तासा पुनरसंभवो व्याधिस्वभावात्। ×। केवल परम्। × ×। अनयोर्वृद्ध्योर्य उत्पत्तेर्हेतुर्वायु सोऽन्यतमो भिन्नो ज्ञेय, एतेन मूत्रसंधारणकुपितो वायुर्मूत्रवृद्धे कारण, भारहरणादिभि. कुपितस्त्वन्त्रवृद्धे कारणमित्यर्थ.।" (ड.)। "शोणितजे पित्त दोष, मेदोजे कफ।" (गयदास·)। "दोषास्र-मेदो-मूत्रान्त्रै स वृद्धि सप्तधा गद। मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम्॥" (अ स नि अ २१)।
२ "तासा भविष्यतीना पूर्वरूपाणि-वस्ति-कटी-मुष्क-मेढ्रेषु वेदना मारुतनिग्रह फलकोश-शोफश्चेति।" (सु नि अ १२)। ३ "तत्रानिलपूर्णा वस्तिमिवातता परुषामनिमित्तानिलरुज वातवृद्धिमाचक्षते।" (सु नि अ. १२)। "आतताम् आध्माताम्।" (ड)। "वात-पूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक्।" (अ स नि अ ११)। "अहेतुरुक् बाह्येन हेतुना विना अकस्माद्रुग्यत्र।" (इन्दुः)। ४ "पक्वोदुम्बरसङ्काशा ज्वर-दाहोष्मवती चाशुसमुत्थान-

कफवृद्धिके लक्षण—

कफवृद्धि कठिन स्पर्श और अल्प वेदनावाली, स्पर्शमें शीत तथा स्निग्ध और गुरु होती है। उसमें कण्डू आती है[१]।

रक्तवृद्धिके लक्षण—

रक्तवृद्धि पित्तवृद्धिके समान लक्षणवाली और काले रगकी फुंसियोंसे व्याप्त होती है[२]।

मेदोवृद्धिके लक्षण—

मेदोवृद्धि मृदु-कोमल, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, अल्प वेदनावाली और देखनेमें ताड़के फल जैसी होती है[३]।

मूत्रवृद्धिके लक्षण—

मूत्रके वेगको रोकनेसे मूत्रवृद्धि होती है। चलते समय मूत्रवृद्धि पानीसे भरी हुई मशकके समान हिलती है। मूत्रवृद्धिमें कुछ पीडा, मूत्रकृच्छ्र और अण्डकोशमें शोथ होता है[४]।

अन्त्रवृद्धिके लक्षण—

अधिक भार उठाना-बलवान्के साथ लडना-वृक्षसे गिर पडना आदि विशेष परिश्रम, वातप्रकोपक आहार, ठण्डे जलमे गोते लगाना, उत्पन्न वेगोंका धारण, अनुत्पन्न वेगोंका प्रेरण, अति मार्गगमन, अगोंकी विषम चेष्टाएँ तथा अन्य क्षोभकारक कारणोंसे अति वृद्ध और प्रकुपित वात स्थूलान्त्र तथा क्षुद्रान्त्रके सु. (क्षुद्रान्त्रके वा.) एक-

---

पाका पित्तवृद्धिम् ।" (सु नि अ. १२)। "पक्वोदुम्बरसङ्काश पित्ताद्दाहोष्म-पाकवान् ।" (अ. स. नि अ. ११)।

१ "कठिनामल्पवेदना शीता कण्डूमतीं श्लेष्मवृद्धिम् ।" (सु नि अ ११)। "कफाच्छीतो गुरु. स्निग्ध कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ।" (अ स. नि अ. ११)। २ "कृष्णस्फोटावृता पित्तवृद्धिलिङ्गा रक्तवृद्धिम् ।" (सु नि अ १२)। "कृष्णस्फोटावृत पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तन. ।" (अ. स नि. अ. ११)। ३ "मृदु-स्निग्धा कण्डूमतीमल्पवेदना तालफलप्रकाशा मेदोवृद्धिम् ।" (सु नि. अ १२)। "कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपम ।" (अ. स. नि. अ ११)। ४ "मूत्रसधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति । सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति मूत्रकृच्छ्र वेदनां वृषणयो श्वयथु कोशयोश्चापादयति, ता मूत्रवृद्धिं विद्यात् ।" (सु नि. अ १२)। "मूत्रधारणशीलस्य मूत्रज स तु गच्छत । अम्भोभि पूर्णदृतिवत् क्षोभ याति सरुङ्मृदु ॥ मूत्रकृच्छ्रमध स्याच्च चालयन् फल-कोशयो ।" (अ. स. नि अ ११)। "चालयन् फलकोषयोरिति फलकोषयोश्चालयन् चलो भवन्-इतस्ततो गच्छन् सोऽध स्यात् । चालयन्निति स्वार्थिको णिच् ।" (श्री द.)। "वलय फलकोशयोरिति पाठे फलकोशयोरध-स्ताद्वलयं कङ्कण स्यात् ।" (आ. द.)।

देशको संकुचित कर, अपने स्थानसे नीचेकी ओर ला, वक्षणसंधिमें प्राप्त हो कर ग्रन्थि-रूपमें स्थित होता है । उस हालतमें उसकी चिकित्सा न करने पर कुछ समयके अनन्तर अन्त्र फलकोशमें आकर आध्मान-पीड़ा और स्तब्धतायुक्त ग्रन्थि सदृश शोथ (फुलाव) उत्पन्न करता है । फूली हुई मशककी भाँति वह शोथ फैला हुआ और लंबा होता है । नीचेसे दबाने पर वह शोथ शब्द (गुड़गुडाहट) के साथ ऊपरकी ओर उदरमें चला जाता है और छोड देने पर फिर नीचे आ जाता है । यह अन्त्रवृद्धि (शस्त्रक्रियाके विना) असाध्य होती है[1] ।

ग्रन्थ्यर्बुदापची-गलगण्ड-गण्डमालानिदानाध्याय-द्वादश ।

ग्रन्थ्यधिकार ।

ग्रन्थिकी संप्राप्ति और भेद—

अपने अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित-वृद्ध कफप्रधान वात, पित्त और कफ ये दोष मास-रक्त और कफयुक्त मेद इन दूष्योंको दूषित करके गोल, ऊँचा और ग्रन्थिसदृश-गाँठ सा जो शोथ उत्पन्न करते हैं उसको **ग्रन्थि** कहते हैं । सिराज ग्रन्थिकी संप्राप्ति आगे कही जायगी । **सुश्रुत**ने ग्रन्थि रोगके **वातज, पित्तज, कफज, मेदोज** और **सिराज** ये पाँच भेद लिखे हैं । **वाग्भट**ने ऊपर लिखे हुए पाँच भेदोंके अतिरिक्त **रक्तज, मांसज, अस्थिज** और **व्रणज** ये चार भेद अधिक लिखे हैं (इस प्रकार वागभटके मतसे ग्रन्थि रोग नौ प्रकारका होता है[2]) ।

---

१ "भारहरण-बलवद्विग्रह-वृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरतिप्रवृद्ध. प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्य क्षुद्रान्त्रस्य चैकदेश वि(द्वि)गुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोश प्रविश्य मुष्कशोथमापादयति, आध्मातो बस्तिरिवातत प्रदीर्घ स शोथो भवति, सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते, तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ।" (सु नि अ १२) । "वातकोपिभिराहारै. शीततोयावगाहनै । धारणेरण-भाराध्व-विषमाङ्ग-प्रवर्तनै ॥ क्षोभणै क्षुभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयव यदा । पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेद् ॥ कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभ श्वयथु तदा ॥ उपेक्षमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मान रुक्स्तम्भवतीं स वायुः । प्रपीडितोऽन्त. स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्त ॥ अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽय वात-वृद्धिसमाकृति । रूक्ष-कृष्णारुण-सिरातन्तुजालगवाक्षित. ॥" (अ सं नि. अ. ११) ।
२ "वातादयो मांसमसृक् च दुष्टा. सदूष्य मेदश्च कफानुविद्धम् । वृत्तोन्नत विग्रथित तु शोथ कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्ट ॥ (सु नि अ. ११) । "कफप्रधानाः कुर्वन्ति मेदो-मांसा-स्रगा मला. । वृत्तोन्नत य श्वयथु स ग्रन्थिर्ग्रथनात् स्मृत ॥ दोषास्रग्मास-मेदोस्थि-सिरा-व्रणभवा

वातज ग्रन्थिके लक्षण—

वातज ग्रन्थिमें कोई-खींचता (खींच कर लंबा करता) हो, छेदन करता हो, भेदन करता हो, सूई चुभाता हो, फकता हो और बींधता हो ऐसी वेदना होती है। ग्रन्थिका वर्ण काला होता है। ग्रन्थि मूत्रसे भरी हुई बस्तिके सदृश फूली हुई, एक स्थानसे दूसरे स्थान पर गति करनेके स्वभाववाली और अकस्मात् घटने-बढनेवाली होती है। वातज ग्रन्थि फूटने पर उससे पतला स्राव होता है[1]।

पित्तज ग्रन्थिके लक्षण—

पित्तज ग्रन्थि पीले या रक्त वर्णकी होती है तथा उसमें अत्यन्त दाह, उष्ण स्पर्श, चूसने सी वेदना और शीघ्र पकना—ये लक्षण होते हैं। पित्तज ग्रन्थि फूटने पर उससे अति उष्ण स्राव होता है[2]।

कफज ग्रन्थिके लक्षण—

कफज ग्रन्थि शीत स्पर्शवाली, त्वचाके समान वर्णवाली (अथवा किञ्चित् विकृत वर्णवाली), अल्प पीडावाली, अति कण्डूयुक्त, बडी और पत्थर जैसी कठिन होती है। फूटने पर इससे श्वेत वर्णके गाढे पूयका स्राव होता है[3]।

मेदोज ग्रन्थिके लक्षण—

मेदोज ग्रन्थि शरीरकी वृद्धिके साथ बढने और क्षयके साथ घटनेवाली, स्निग्ध, बडी (अन्य ग्रन्थियोंकी अपेक्षया), अल्प वेदनावाली और चल होती है। मेदोज ग्रन्थिसे फूटने पर तिलके कल्क और घृतके जैसा स्राव होता है[4]।

नव। ते" (अ. स उ. अ. ३४)। "अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभि स्यात् स्वरूपधारी स्फुरण
निराभिः। ग्रन्थिर्महान् मासभवस्त्वनार्तिर्मेदोभव स्निग्धतमश्चलश्च ॥" (च चि. अ. १२)।
नव। ते" ... कृष्णोऽमृदु-
१ "आयम्यते व्यथ्यत एति तोद (वृश्चति तुद्यते च) प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम्। कृष्णोऽमृदु-
र्बस्ति-रिवाततश्च भिन्न स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥" (सु नि अ. ११)। "तत्र वातादायाम-
तोदभेदान्वितोऽसित। स्थानात् स्थानान्तरगतिरकस्माद्धानि वृद्धिमान् ॥" (अ स उ. अ
३४)। २ "दन्दह्यते धूप्यति चोपवाश्च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि। रक्त सपीतोऽप्यथवाऽपि
पित्ताद्भिन्न. स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥" (सु नि अ ११)। "पित्तात् सदाह पीताभो रक्तो
वा पच्यते द्रुतम्। भिन्नोऽस्रमुष्ण स्रवति" (अ. स उ अ. ३४)। ३ "शीतोऽविवर्णो-
ऽल्परुजोऽतिकण्डू पाषाणवत् सहननोपपन्न। चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिन्न स्रवेच्छुक्ल-घन
च पूयम् ॥" (सु नि अ. ११)। "श्लेष्मणा नीरुजो घन.। शीत सवर्णः कण्डूमान्
पक्क पूयं स्रवेद्घनम् ॥" (अ स. उ अ ३४)। ४ "शरीरवृद्धि-क्षयवृद्धि-हानि. स्निग्धो
महानल्परुजोऽतिकण्डू। मेद.कृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याक-सर्पि प्रतिम तु मेदः ॥"
(सु नि अ ११)। "प्रवृद्ध मेदुरैर्मेदो नीत मासेऽथवा त्वचि। वायुना कुरुते ग्रन्थि भृश
स्निग्ध मृदु चलम् ॥ श्लेष्मतुल्याकृतिं देहक्षय-वृद्धिक्षयोदयम्। स विभिन्नो घन मेदस्ताम्रासित-
सित स्रवेत् ॥" (अ. स. उ अ. ३४)।

सिराज ग्रन्थिकी संप्राप्ति और लक्षण—

जो दुर्वल पुरुष वलवान्‌के साथ लडना आदि व्यायाम करता है अथवा पैदल चल कर सहसा जलमें अवगाहन करता (डुबकी मारता) है उसके शरीरमें प्रकुपित वायु रक्तसहित सिराओंके जालको पीडित, सकुचित, वक्र और शोषित करके स्फुरण और पीडारहित ऊँची गोलाकार ग्रन्थि उत्पन्न करता है। उसको **सिराज** ग्रन्थि कहते हैं। इस ग्रन्थिमें पैत्तिक ग्रन्थिके समान लक्षण होते हैं। यह ग्रन्थि यदि पीडायुक्त और चल (सरकनेवाली) हो तो कृच्छ्रसाध्य होती है; परन्तु यदि पीडारहित, अचल और मर्मस्थानमें उत्पन्न हुई हो तो असाध्य होती है[१]।

रक्तज ग्रन्थिके लक्षण—

वातादि दोषों द्वारा रक्त दूषित होने पर उसमें जन्तु-क्रिमि उत्पन्न होते हैं। वे क्रिमि सिरा और मासमें स्थानसंश्रय करके सुन्नता और पैत्तिक ग्रन्थिके लक्षणयुक्त रक्तज ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं[२] (**वा.**)।

मांसज ग्रन्थिके लक्षण—

मासवर्धक (मासभक्षक प्राणियोंके मासयुक्त) आहारसे मास दूषित होने पर स्निग्ध, वडा, कठिन, सिराओसे व्याप्त और कफग्रन्थिके लक्षणयुक्त मासग्रन्थि उत्पन्न होता है[३] (**वा.**)।

अस्थिग्रन्थिके लक्षण—

अस्थिभंग या अभिघातसे अस्थि उन्नत (उभड) या अवनत हो कर (वैठ कर) जो ग्रन्थि उत्पन्न होता है उसको अस्थिग्रन्थि कहते हैं[४] (**वा.**)।

व्रणग्रन्थिके लक्षण—

व्रण भरा न हो, तुरन्तका भरा हो, आर्द्र (सूखा न हो–गीला हो) या व्रण पर वंध न वाँधा गया अथवा शरीर पर मार–चोट लगी हो उस अवस्थामे सर्व रसवाला आहार

---

१ "व्यायामजातैरवलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम्। सपीड्य सकोच्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम्॥ ग्रन्थि सिराज स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च। अरुक् स एवाप्यचलो महाश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीय॥" (सु नि अ. ११)। "पदातेस्तु सहसाऽम्भोवगाहनात्। व्यायामाद्वा प्रतान्तस्य सिराजाल सशोणितम्॥ वायु. सपीड्य सकोच्य वक्रीकृत्य विशोष्य च। निस्फुर नीरुज ग्रन्थिं कुरुते स सिराह्वय॥" (अ. स. उ अ ३४)। २ "दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु। सिरा मास च सश्रित्य सस्वाप. पैत्तलक्षण॥" (अ स उ अ ३४)। ३ "मासलैर्दूषित मासमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत्। स्निग्धं महान्तं कठिन सिरानद्ध कफाकृतिम्॥" (अ स उ अ. ३४)। ४ "अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनत तु यत्। सोऽस्थिग्रन्थि" (अ स उ अ. ३४)। "अवनतस्यापि ग्रन्थिसज्ञाकथनादुन्नतावनतयोरस्थ्नो पुनर्ग्रन्थिरूपेण वृद्धिर्भवतीति सूचितम्।" (इन्दुः)।

स्थानेसे प्रकुपित वायु ठीक प्रस्रुत न होनेसे दूषित रक्तको सुखा करके व्रणको ग्रन्थिसदृश गाँठ सा बनाता है। उसको व्रणग्रन्थि कहते हैं। व्रणग्रन्थिमें कण्डू और दाह होता है[1] (वा.)।

ग्रन्थिरोगके साध्यासाध्य लक्षण—

वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और मेदोज ग्रन्थि साध्य है। जो ग्रन्थि स्थूल, कठिन अचल, (चल. च.) तथा कपोल-गाल-कण्ठ-गला-मन्या (गर्दनका पिछला भाग)-सन्धिस्थान-मर्मस्थान और कुक्षि-उदरमे हुए हों वे असाध्य हैं। बालक, वृद्ध और दुर्बल पुरुषको जो ग्रन्थि हुई हो वह असाध्य होती है[2]।

अर्बुदनिदानाधिकार।

अर्बुदकी संप्राप्ति और सामान्य लक्षण—

बढे हुए वातादि दोष शरीरके किसी एक प्रदेशमे मासको दूषित करके गोल, कठिन, स्थिर, अल्प पीडावाला, बडा, गहरे मूलवाला, देरीसे (धीरे-धीरे) बढनेवाला और न पकने वाला जो मांससघात उत्पन्न करते हैं उसको अर्बुद कहते हैं। **वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज** और **मेदोज**-इन भेदोसे अर्बुद छ प्रकारका होता है। रक्तार्बुद और मासार्बुदको छोडकर अन्य अर्बुदोंके लक्षण ग्रन्थिके समान होते हैं। अर्बुदमें मेद और कफकी अधिकता होती है तथा वह स्थिर होता है, इस लिए प्राय पकता नहीं है[3]।

रक्तार्बुदके लक्षण—

अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित वातादि दोष सिरास्थित रक्तको दवा और सकुन्चित

---

१ "अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिन । सार्द्रे वा बन्धरहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा ।
वातोऽस्रमस्रुत दुष्ट सशोष्य ग्रथित व्रणम्। कुर्यात् सदाह कण्डूमान् व्रणग्रन्थिरय स्मृत ॥"
(अ स उ अ ३४)। २ "साध्या दोषास्रमेदोजा न तु स्थूल-खराश्चला । मर्म-कण्ठो-
दरस्थाश्च" (अ स उ अ ३४)। "पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन्मर्मजानचलास्त्यजेत् । कपोल-
गल-मन्यासु दुश्चिकित्स्यास्तु सन्धिषु ॥" (गयदासव्याख्यायामुद्धृतं भोजवचनम्)।
"विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रित च तथा गले मर्मणि सश्रित च । चल खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो
यश्चापि बाल-स्थविराबलानाम् ।" (च नि अ १२)। ३ "ग्रन्थ्यर्बुदाना च यतोऽविशेष.
प्रदेश-हेत्वाकृति दोष-दूष्यै ।" (च चि अ. १२)। "गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषा सम्मूर्च्छिता
मासमभिप्रदूष्य। वृत्त स्थिर मन्दरुज महान्तमनल्पमूल चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ कुर्वन्ति मासोपचय
तु शोफ तदर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति। वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मासेन च मेदसा च ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थे. समानानि सदा भवन्ति ।" (सु नि अ ११)।
"महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम्। तल्लक्षण च मेदोन्तै. षोढा दोषादिभिस्तु तत् ॥ प्रायो मेदः-
कफाढ्यत्वात् स्थिरत्वाच्च न पच्यते।" (अ. स. उ. अ ३४)।

(एकत्र) करके कुछ पकनेवाला, मांसाङ्कुरोंसे व्याप्त और शीघ्र बढ़नेवाला उभड़ा हुआ मासपिण्ड (रक्तार्बुद) उत्पन्न करता है। इस अर्बुदसे निरन्तर (वार-वार) दुष्ट रक्तका स्राव होता है। यह रक्तार्बुद असाध्य है। रक्तके अतिस्रावके कारण रोगी रक्तक्षयजन्य उपद्रवोंसे पीडित और पाण्डुवर्ण होता है[1]।

मासार्बुदके लक्षण—

मुष्टि (मुट्ठी) या काष्ठके प्रहारसे अङ्ग पीडित होनेसे मांस दूषित होने पर वेदना-रहित (या अल्पवेदनावाला), स्निग्धस्पर्श, त्वचाके समानवर्णवाला, न पकनेवाला, पत्थरसदृश कठिन और न हिलाया जा सके ऐसा शोथ—मासार्बुद उत्पन्न होता है। जो मनुष्य मासका अति सेवन करता है और जिसका मास दूषित हुआ है ऐसे मनुष्यको मासार्बुद होता है। यह मासार्बुद असाध्य है[2]।

अध्यर्बुद और द्व्यर्बुदके लक्षण—

पहिले उत्पन्न हुए अर्बुदमें जो दूसरा अर्बुद उत्पन्न हो उसको **अध्यर्बुद** कहते हैं। जो दो अर्बुद एक स्थान पर साथमें उत्पन्न हों या क्रमसे एकके बाद दूसरा उत्पन्न हो उसको **द्व्यर्बुद** कहते हैं। ये दोनों प्रकारके अर्बुद असाध्य होते हैं[3]।

अर्बुदके साध्यासाध्य लक्षण—

वातज, पित्तज, कफज, और मेदोज ये चार अर्बुद साध्य हैं तथा रक्तार्बुद और मासार्बुद ये दो असाध्य हैं। साध्य अर्बुदोंमें भी जिससे स्राव होता हो, जो मर्म या स्रोतमें उत्पन्न हुआ हो और हिलाया न जा सके ऐसा हो वह असाध्य है[4]।

---

१ "दोष. प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु सपीड्य सकोच्य गतस्तु पाकम्। सास्रावमुन्नह्यति मासपिण्डं मासाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धिम् ॥ स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात्। रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु।" (सु नि. अ. ११)। "सिरास्थं शोणितं दोष. सकोच्यानुप्रपीड्य च। पाचयेच्च तदानद्धं सास्रावं मासपिण्डितम् ॥ मासाङ्कुरैश्चितं याति वृद्धिं चाशु स्रवेत्ततः। अजस्रं दुष्टरुधिरं भूरि तच्छोणितार्बुदम् ॥" (अ. सं उ. अ. ३४)। २ "मुष्टि ('काष्ठ' इति पा०) प्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मासं प्रदुष्टं प्रकरोति शोथम्। अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ॥ प्रदुष्टमासस्य नरस्य वाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य।" (सु नि अ ११)। ३ "यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञै.। यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥" (सु नि. अ. ११)। ४ "तेष्वसृङ्मासजे वर्ज्ये चत्वार्यन्यानि साधयेत्।" (अ स उ अ ३४)। "साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्तु। संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं स्रोत.सु वा यच्च भवेदचाल्यम्।" (सु. नि अ ११)।

अपच्यधिकार।

अपचीकी संप्राप्ति और लक्षण—

हन्वस्थिकी सन्धि, कक्षा(काँख)की सन्धि, अक्षकास्थिकी सन्धि, कोहनीकी सन्धि, मन्या (ग्रीवाका पिछला भाग), वंक्षणसन्धि और गलेमे प्रकुपित कफप्रधान वातादि दोष और बढा हुआ मेद स्थिर-कठिन, गोल या लवा, स्निग्ध, अल्प वेदनावाला और गहरे मूलवाला ग्रन्थि उत्पन्न करता है। वह ग्रन्थि आँवलेके, बेंगनके या मछलीके अण्डोके जाल सदृश और त्वचाके समान वर्णवाले अन्य ग्रन्थियोंसे मिलकर बढती हैं। इसमे चयका प्रकर्ष (ग्रन्थियोंका अधिक सचय) होता है इस लिए इस रोगको **अपची** कहते हैं। इन ग्रन्थियोंमे कण्डू होती है और पीडा अल्प होती है। ये ग्रन्थियाँ पक कर फूटती हैं, उनसे पूयका स्राव होता है, पहिले उत्पन्न ग्रन्थियाँ नष्ट-अच्छी होती हैं और अन्य नई निकल आती हैं। इस प्रकार यह कष्टसाध्य रोग वर्षों तक चलता रहता है। जैसे दूर्वाको जल न मिलने पर सूख जाती है और जल मिलने पर फिर उग कर बढती है, इसी प्रकार इस रोगकी क्षय-वृद्धि होती है **(सु , वा.)**। यदि गलेके पार्श्वमे एक ही गण्ड-ग्रन्थि हो तो उसको **गलगण्ड** और मालाके सदृश अनेक गण्ड निकलें तो उसको **गण्डमाला (कण्ठमाला)** कहते हैं। यह साध्य होती है, परन्तु यदि पीनस-जुकाम, पार्श्वशूल, खाँसी और छर्दि ये उपद्रव हों तो असाध्य होती है[1] **(च)**। **चक्रपाणिदत्तने** एकीय मतसे **ग्रन्थिविसर्प**को **अपची** बताया है।

---

१ "हन्वस्थि-कक्षाक्षक-बाहुसन्धि-मन्या-गलेषूपचित तु मेद । ग्रन्थि स्थिर वृत्तमथायत वा स्निग्ध कफश्चाल्परुज करोति ॥ त ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रैर्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यै । अनन्यवर्णैरुपचीयमान चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति॥ कण्डूयुतास्तेऽल्परुज प्रभिन्ना स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये। मेद -कफाभ्या खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ॥" (सु नि अ ११)। "हन्वोरस्थि हन्वस्थि। सधिशब्दो हन्वस्थ्यादिभिर्बाह्वन्तै सह प्रत्येकमभिसबध्यते। बाहुसधि-शब्देन कूर्परसधिरुच्यते, बाहुमूलसन्धे कक्षाशब्देनैवोपपन्नत्वात्। अक्षसन्धि ग्रीवाध सन्धि । एषु सधिप्रदेशेषूपचित दूष्य मेद , कफश्च दोषो ग्रन्थि करोति। तमुपचीयमान खलु अन्यैर्ग्रन्थि-भिरामलकास्थिप्रमाणैर्मीनाण्डाकारैश्च। चयप्रकर्षादपचीति निरुक्ति । 'चयापकर्षात्' इति केचित् पठन्ति। सा पुनरुपचयापचयाभ्यामपचीयते। उपचयापचयौ दर्शयन्नाह–नश्यन्ति भवन्ति चान्ये इति। मेद -कफाभ्यामिति पूर्वोक्तदोष-दूष्ययोरेव नियमनम् । खलुशब्दोऽप्यर्थे , निपातानाम-नेकार्थत्वात्। तेन मेदः–कफयोरेव वातादिदोषान्तरससर्ग सूचयति। तथाहि **भोज** –"वात-पित्त-कफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्। जङ्घयो कण्डरा प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रथितास्तेभ्य पुन प्रकुपितोऽनिल । तान् दोषानूर्ध्वगो वक्ष -कक्षा मन्या-गलाश्रित ॥ नाना-प्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता। व्यामिश्रदोषजाता सा कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता ॥ तासा वातोत्तरा रूक्षा वातवेदनयाऽन्विता। क्षिप्रपाक-समुत्थाना दाहयुक्ता तु पैत्तिकी ॥ गूढ-पाका च कठिना कफात् स्निग्धाऽल्परुक् स्थिरा। मेदोधिका श्लैष्मिकी च विशेषादतिमार्दवा ॥

गलगण्डाधिकार।

गलगण्डकी संप्राप्ति और सामान्य लक्षण—

प्रकुपित वात और कफ (दो दोप) तथा मेद (दूष्य) मन्यामें स्थानसंश्रय करके गलेमें क्रमश (शनै-शनै) अपने लक्षणोंसे युक्त गलगण्ड व्याधि उत्पन्न करते हैं। जो गलेमें मर्यादित, छोटा या बडा शोथ, मुष्क (अण्डकोश) की भाँति गलेमें लटकता है उसको **गलगण्ड** कहते हैं[1]।

वातज गलगण्डके लक्षण—

वातज गलगण्ड सूई चुभने सी वेदनायुक्त, काले रंगकी सिराओंसे व्याप्त, कृष्ण या अरुण वर्णका, कुछ समयके अनन्तर जब वह मेदयुक्त होकर बढता है तब गलेकी स्तब्धता-युक्त, अल्प वेदनावाला, कठिन, देरीसे बढनेवाला और प्राय न पकनेवाला होता है; परन्तु कदाचित् यदृच्छा (अज्ञात कारण) से पकता भी है। वातज गलगण्डवालेका मुँह विकृत स्वादवाला होता है और गला तथा तालु सूखता है[2]।

अपची कण्ठ-मन्यासु कक्षा-वक्षण-सन्धिषु । ता तु मालाकृतिसमा कण्ठ-हृद्धनुसन्धिषु ॥ गण्ड-माला विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम् ॥" इति । स्थानकृत एव मेदोऽपची-गण्डमालयो , ग्रहण्यति-सारयोरिव । गले एव मालास्थाना गण्डमाला चरकेण पठिता (गयदासः)। "मेद स्था कण्ठ-मन्याक्ष-कक्षा-वङ्क्षणगा मला । सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ताकामलकाकृतीन् ॥ अवगाढान् बहून् गण्डांश्चिरपाकांश्च कुर्वते । पच्यन्तेऽल्परुजस्तेऽन्ये स्रवन्त्यन्येऽतिकण्डुरा' ॥ नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबन्धिन । गण्डमालाऽपची चेय दूर्वेव क्षय-वृद्धिभाक् ॥ ता त्यजेत् सज्वर-च्छर्दि-पार्श्वरुक्कास-पीनसाम् ।" (अ. स उ अ ३४)।

१ "वात कफश्चैव गले प्रवृद्धौ मन्ये तु संश्रि(सृ)त्य तथैव मेद । कुर्वन्ति गण्ड क्रमश. स्वलिङ्गै समन्वित त गलगण्डमाहु ॥ निबद्ध श्वयथुर्यस्तु मुष्कवल्लम्बते गले । महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्ड तमादिशेत् ।" (सु नि अ. ११)। "वातेन कफेन च गलगण्डो भवति, न पित्तेन, स्वभावेन पित्तजस्य गलगण्डस्याभावात्। अत्र च गण्डशब्दस्य सामान्यशोफरूपार्थव्युदासार्थं स्वलिङ्गैरित्युक्त, तानि च गलगण्डस्य सामान्यलिङ्गानि 'निबद्ध श्वयथु' इत्यादीनि वक्ष्यमाणानि। X। नियमेन बद्धो निबद्ध । मुष्कवत् अण्डवत्। भोजेऽप्युक्त–"महान्त शोथमल्प वा हनु-मन्या-गलाश्रयम्। लम्बन्त मुष्कवद्दृष्ट्वा गलगण्ड विनिर्दिशेत् ॥" (गयदास)। "पवन-श्लेष्म-मेदोभिर्गलगण्डो भवेद्बहि । वर्धमान स कालेन मुष्कवल्लम्बते गले ॥" (अ हृ उ अ २१)।

२ "तोदान्वित कृष्णसिरावनद्ध कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु । मेदोन्वितश्चोपचितश्च कालाद्भवेत् प्रतिस्तब्धगलोऽरुजश्च ॥ पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित्। वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालु-गलप्रशोष ।" (सु नि. अ ११)। "श्यावारुण्य दोष-दूष्यरागे , न पुनरवर्णस्य वायो । कदाचिदिति न सर्वकालम्। यदृच्छया अज्ञातहेतुनियमेन ।" (गयदास.)। "कृष्णोऽरुणो वा तोदाढ्य स वातात् कृष्णराजिमान्। वृद्धस्तालु-गले शोष कुर्याच्च विरसास्यताम् ॥" (अ हृ उ. अ २१)।

कफज गलगण्डके लक्षण—

कफज गलगण्ड स्थिर, त्वचाके समान वर्णवाला, उग्र कण्डूवाला, शीत स्पर्शवाला, बड़ा, देरीसे बढनेवाला, देरीसे पकनेवाला और अल्प पीडावाला होता है। कफज गलगण्डवालेका मुँह मीठा रहता है और तालु तथा गला कफसे लिप्त सा रहता है[1]।

मेदोज गलगण्डके लक्षण—

मेदोज गलगण्ड स्निग्ध स्पर्शवाला, कोमल, पाण्डुवर्णका, दुर्गन्धि, पीडारहित, अति कण्डूयुक्त, लौकी जैसा गलेमें लटकनेवाला, अल्प मूलवाला तथा शरीरके घटने-बढने पर घटने-बढनेवाला होता है। रोगीका मुँह स्निग्ध रहता है और वह रोगी गलेसे बोलता है[2]।

गलगण्डके असाध्य लक्षण—

जो गलगण्डवाला रोगी कष्टसे श्वासोच्छ्वास लेता हो, अरुचिसे पीडित हो, क्षीण हो गया हो, जिसके सर्व अवयव मृदु-कोमल हो गए हों, स्वर-आवाज बैठ गया हो तथा रोग उत्पन्न होनेको एक साल बीत गया हो वह असाध्य होता है[3]।

कुष्ठनिदानाध्याय-त्रयोदश।

कुष्ठकी सम्प्राप्ति—

कुष्ठकारक हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित वात पित्त और कफ ये तीन दोष तथा प्रकुपित दोषोंसे विकृत त्वचा-मास-रक्त और लसीका ये चार दूष्य-धातु ये सात कुष्ठ रोगके कारण हैं। इन सात धातुओंकी विकृतिसे उत्पन्न कुष्ठ रोग समग्र शरीरको उपतप्त (पीड़ित-रोगी) करते हैं[4]।

---

१ "स्थिर सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डू शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु। चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च प्रपच्यते मन्दरुज कदाचित्॥ माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेप।" (सु नि अ. ११)। "स्थिर सवर्ण कण्डूमान् शीतस्पर्शो गुरु कफात्। वृद्धस्तालु-गले लेप कुर्याच्च मधुरास्यताम्॥" (अ हृ उ उ २१)। २ "स्निग्धो मृदु पाण्डुरनिष्टगन्धो मेद कृतो नीरु-गथातिकण्डू.। प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षय वृद्धियुक्त॥ स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-र्गलेन शब्द कुरुते च नित्यम्।" (सु नि अ ११)। "मेदस श्लेष्मवद्धानि-वृद्धयो सोऽनुवि-धीयते। देह वृद्धश्च कुरुते गले शब्द स्वरालपताम्॥" (अ हृ उ अ २१)। ३ "कृच्छ्रा-च्छ्वसन्त मृदुसर्वगात्र सवत्सरातीतमरोचकार्तम्। क्षीण च वैद्यो गलगण्डिन तु भिन्नस्वर चैव विव-र्जयेत्तु॥" (सु नि अ ११)। ४ "सप्त द्रव्याणि कुष्ठाना प्रकृतिर्विकृतिमापन्नानि भवन्ति, तद्यथा—त्रयो दोषा वात-पित्त-श्लेष्माण प्रकोपणविकृता, दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मास-शोणित-लसीकाश्चतुर्धा दोषोपघातविकृता इति। एतत् सप्ताना सप्तधातुकमेवङ्गतमाजनन कुष्ठानाम्, अत -

समान कारणोंसे उत्पन्न कुष्ठोंमें वेदना-वर्ण आदिके भेद होनेके कारण—

कोई भी कुष्ट एक दोषके प्रकोपसे नहीं होता है, किन्तु सब प्रकारके कुष्ठ तीनों दोषोंके प्रकोपसे होते हैं। सब प्रकारके कुष्ठोकी प्रकृति (कारणभूत तीन दोप और रक्त-लसीका-त्वचा एवं मास ये चार दूष्य) समान होने पर भी दोपोंकी अशाशकल्पना (एकोल्वण, द्व्युल्वण आदि तथा वृद्ध, वृद्धतर आदि तारतम्यकल्पना), अनुबन्ध और अनुबन्धिभाव

प्रभवाण्यभिनिर्वर्तमानानि केवल शरीरमुपतपन्ति ।" (च नि अ ५)। "प्रकृतिरिति कारण-मित्यर्थ.। सप्तद्रव्याणा विशेषण विकृतिमापन्नानीति, किंवा 'प्रकृतिविकृतिमापन्नानि' इति पाठ , तदा प्रकृत्या कुष्ठकारणेन विकृतिमापन्नानीत्यर्थ । एतेन च यदा कुष्ठजनकहेतुव्यतिरेकेण वातादीना विकृतिर्भवति न तदा कुष्ठोत्पादो भवति, किन्तु विसर्पोत्पाद इति दर्शयति, विसर्पे हि "रक्त लसीका त्वङ्मास दूष्य दोषास्त्रयो मला । सर्व एव प्रकुप्यन्ति विसर्पाणा समुद्भवे ॥" (चि अ २१) इति वचनादेत एव सप्त विकृता कारणमित्युक्तम्। यद्यपि कुष्ठ-विसर्पयोर्दोष-दूष्यकृत साम्यमस्ति, तथाऽपि विसर्पणशीलेन रक्तप्रधानेन च दोपेण विसर्पजन्म, अन्यथा तु कुष्ठजन्मेति व्याधिभेदोत्पत्ति । अत एव "विविध सर्पति यतो विसर्पस्तेन सज्ञित ।" (चि अ २१) इत्युक्तम्। तथा विशिष्टशोणितदुष्टिवशादेव विसर्पे प्रबला वेदना भवति, तथा रक्तचिकित्साया· प्राधान्योपदेशाच्च रक्तप्राधान्य विसर्पे ज्ञेयम् । वचन हि—"एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकत ।" (च चि. अ २१) इति । अन्ये तु ब्रुवते—विसर्पे नावश्य दोष-दूष्यसप्तकदुष्टि , किंतु सप्ताना तत्र दुष्टिर्योग्यतया दर्श्यते, कुष्ठे तु सर्वत्र प्रतिनियमेन सप्तकदुष्टिरिति। यथा कुष्ठारम्भका दोषा कुप्यन्ति यथा च दूष्याणि, तदाह—तथथेत्यादि। प्रकोपणविकृता इति कुष्ठनिदानप्रकोपणविकृता , अन्यथा प्रकोपणवचनमनर्थक स्यात्, विना प्रकोपण व्याधिजनकविकृत्यभावात्। दोषोपघातविकृता इत्यनेन दोषोपघातादेव धातूना विकृतिर्भवतीति दर्शयति, न दोषमन्तरा धातवो दूष्यन्तीत्यर्थ , किंवा, कुष्ठकारणाना धातूना क्षय-वृद्धिमात्ररूपविकृतिं निराकृत्य दोषाभिसबन्धरूपा दुष्टिं ग्राहयति। सप्तधातुक सप्तधातुमेलक । एवगतमित्युक्तक्रमेण विकृतिं गतम्। आजनन कारणम्। अत -प्रभवाणीति एतत्कारणभूतानि । अभिनिर्वर्तमानानीति अभित प्रसर्पमाणानि। केवल कृत्स्न दूष्य-चतुष्टयातिरिक्तमपीत्यर्थः। एतेन, प्रथमोत्पत्तौ कुष्ठे चतुर्धातुदुष्टिनियम , उत्पन्नस्य त्वस्थि-सिरादिदूषणमपि भवतीति दर्शयति। तत्र सुश्रुते कुष्ठस्य प्रथम त्वगाश्रयस्य पश्चादुत्तरोत्तरधातूना-मनुगमनमुक्तम्—"एव कुष्ठ समुत्पन्न त्वचि कालप्रकर्षत । क्रमेण धातून् व्याप्नोति" (सु नि. अ ५) इत्यादिना ग्रन्थेन, तदिहाप्यविरुद्धमेव। येन, सर्वकुष्ठेषु प्रथम त्वच्येव वैकृत भवति निशेषेण, पश्चाद्वैशेपिकी दुष्टि कालप्रकर्षाद्रक्तादिषु भवति। चतुर्धातुदुष्टिश्चेह कुष्ठोत्पादे सामान्य-दुष्ट्यभिप्रायेणोक्ता, वैशेषिकी तु दुष्टिस्तेषा क्रमेणैव भवति। वैशेषिकदुष्टिश्चेह 'केवलं शरीर-मुपतपन्ति' इति वचनाद्व्याख्येया। अत एव सुश्रुते वैशेषिकदुष्ट्यभिप्रायेणैव—"कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसश्रये ।" (सु नि अ ५) इत्यादिना विशिष्टदुष्टिलक्षणमुक्तम्। इह तु या सामान्येन चतुर्धातुदुष्टिरुक्ता न सा तल्लक्षणयुक्ता, किन्तु कुष्ठोत्पादमात्रज्ञेया, तेन न विरोध.।" (च. द.)।

तथा स्थानविभाग (शरीरमें उत्पत्तिस्थानके भेद) से कुष्ठोंके वेदना-वर्ण-आकृति-प्रभाव (साध्यासाध्यतादि) और चिकित्सामें विभिन्नता होती है[1]।

कुष्ठके भेद—

यद्यपि कुष्ठके भेद असंख्येय हैं, तथापि सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ–इस प्रकार कुष्ठके अठारह मुख्य भेद माने गये हैं। **चरकने कपाल, औदुम्बर, मण्डल, ऋक्ष-जिह्व, पुण्डरीक, सिध्म और काकणक** ये सात प्रकारके **महाकुष्ठ** तथा **एककुष्ठ, चर्माख्य, किटिभ, विपादिका, अलस, दद्रु, चर्मदल, पामा, विस्फोटक, शतारु और विचर्चिका** ये ग्यारह **क्षुद्रकुष्ठ** माने हैं। **सुश्रुतने अरुण, उदुम्बर, ऋक्षजिह्व, कपाल, काकणक, पुण्डरीक** और **दद्रु** ये सात **महाकुष्ठ** एव **स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एककुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विच-र्चिका, किटिभ, पामा** और **रकसा** ये ग्यारह **क्षुद्रकुष्ठ** लिखे हैं[2]।

कुष्ठोंमें दोषोंकी अधिकताका निर्देश—

प्रकुपित वातादि दोष जब त्वचा-रक्त-लसीका और मासको दूषित करके कुष्ठ उत्पन्न करते है तब वातकी अधिकतासे **कपाल,** पित्तकी अधिकतासे **औदुम्बर,** कफकी अधिकतासे **मण्डल,** वात–पित्तकी अधिकतासे **ऋक्षजिह्व,** पित्त-कफकी अधिकतासे **पुण्डरीक,** कफ-वातकी अधिकतासे **सिध्म** तथा तीनों दोषोकी अधिकतासे **काकणक** ये सात महाकुष्ठ होते हैं। क्षुद्रकुष्ठोंमें **चर्माख्य-एककुष्ठ-किटिभ विपादिका** और **अलसक** ये पॉच वात-कफकी अधिकतासे, **पामा-शतारु-विस्फोटक दद्रु** और **चर्मदल** ये पाँच पित्त-कफकी अधिकतासे तथा **विचर्चिका** कफकी अधिकतासे होती है **(च.)**। वातकी अधिकतासे **अरुण;** पित्तकी अधिकतासे **उदुम्बर, ऋक्ष-जिह्व, कपाल** और **काकणक,** तथा कफकी अधिकतासे **पुण्डरीक** और **दद्रु** ये सात महाकुष्ठ होते हैं; क्षुद्रकुष्ठोंमें **स्थूलारुष्क-सिध्म-रकसा-महाकुष्ठ** और **एककुष्ठ**

---

१ "न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्। अस्ति तु खलु समानप्रकृतीनामपि कुष्ठानां दोषांशांशविकल्पानुबन्ध-स्थानविभागेन वेदना-वर्ण-संस्थान-प्रभाव नाम चिकित्सितविशेष ।" (च नि अ. ५)। "प्रभावविशेष साध्यतासाध्यतादि।" (च द)। २ "स सप्तविधो-ऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवति। दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान्, अन्यत्रासाध्यभावात्।" (च नि अ ५)। "अत ऊर्ध्वमष्टादशाना कुष्ठाना कपालोदुम्बर-मण्डलर्क्षजिह्व-पुण्डरीक-सिध्म काकणकैककुष्ठ-चर्माख्य-किटिभ-विपादिका-लसक दद्रु-चर्मदल-पामा-विस्फोटक-शतारु-विचर्चिकाना लक्षणान्युपदेक्ष्याम।" (च चि अ ७)। "तत्र सप्त महा-कुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति। तत्र महाकुष्ठान्यरुणौदुम्बरर्क्षजिह्व-कपाल-काकणक-पुण्डरीक-दद्रुकुष्ठानीति, क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्क महाकुष्ठमेककुष्ठ चर्मदल विसर्प परिसर्प· सिध्म विचर्चिका किटिभ पामा रकसा चेति।" (सु नि. अ. ५)।

ये पाँच कफकी अधिकतासे, **परिसर्प** वायुकी अधिकतासे तथा शेष **विसर्प-किटिभ-विचर्चिका-पामा** और **चर्मदल** ये पाँच पित्तकी अधिकतासे होते हैं[1] (**सु.**)।

(यह **जेज्जट**का मत है। **गयदास**के मतसे शतारुष्क-रकसा और सिध्म ये कफकी अधिकतासे, वातकी अधिकतासे एककुष्ठ, वात-पित्तकी अधिकतासे परिसर्प, तथा विसर्प-किटिभ-विचर्चिका-विपादिका और पामा ये पित्तकी अधिकतासे होते हैं)।

कुष्ठके निदान और सम्प्राप्ति—

शीत और उष्णका क्रमको छोड़ कर (एकके अनन्तर दूसरेका सहसा) सेवन करनेसे, सतर्पण और अपतर्पण आहारका क्रमको छोडकर एकके अनन्तर दूसरेका सहसा सेवन

---

१ "तत्र वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु त्वगादींश्चतुर· प्रदूषयत्सु वातेऽधिकतरे कपाल-कुष्ठमभिनिर्वर्तते, पित्ते त्वौदुम्बर, श्लेष्मणि मण्डलकुष्ठ, वात-पित्तयोर्ऋक्षजिह्वं, पित्त-श्लेष्मणो· पुण्डरीक, श्लेष्म-मारुतयो सिध्मकुष्ठ, सर्वदोषाभिवृद्धौ काकणकमभिनिर्वर्तते, एवमेष सप्तविध· कुष्ठविशेषो भवति। स चैष भूयस्तरतमत प्रकृतौ विकल्प्यमानाया भूयसीं विकारविकल्पसंख्यामापद्यते।" (च. नि. अ ५)। "वातेऽधिकतरे कुष्ठ कापाल, मण्डल कफे। पित्ते त्वौदुम्बर विद्यात्, काकण तु त्रिदोषजम्॥ वात-पित्ते श्लेष्म-पित्ते वात श्लेष्मणि चाधिके। ऋक्षजिह्वं पुण्डरीक सिध्मकुष्ठ च जायते॥ चर्माख्यमेककुष्ठ च किटिभ सविपादिकम्। कुष्ठ चालसक ज्ञेय प्रायो वात-कफाधिकम्॥ पामा शतारुर्विस्फोट दद्रुश्चर्मदल तथा। पित्त-श्लेष्माधिक प्राय, कफप्राया विचर्चिका॥" (च चि. अ ७)। "तत्र वातेनारुण, पित्तेनौदुम्बरर्क्षजिह्व-कपालकाकणकानि, श्लेष्मणा पुण्डरीक दद्रुकुष्ठ चेति। अरु· ससिध्म रकसा महच्च यच्चैककुष्ठ कफजान्यमूनि। वायो प्रकोपात् परिसर्पमेक शेषाणि पित्तप्रभवाणि विद्यात्॥ "तत्रारुष्क राकस यच्च सिध्म कफाधिक्यादेककुष्ठ महच्च। पित्ताधिक्यात् पारिसर्प तु विद्याद्दृष्टस्त्वेव कुष्ठवर्गस्त्रिदोष॥" (इति ताडपत्रपुस्तके पाठान्तरम्) (सु नि अ. ७)। "क्षुद्रकुष्ठेषु प्रधानान् दोषान्निर्दिशन्नाह–तत्रारुष्कमित्यादि। स्थूलारुष्क-रकसा-सिध्मेषु कफोऽधिक, वातोद्रेकादेककुष्ठ, वात-पित्तात्तु परिसर्पम्, अपराणि च पित्तादेव निर्दिशेत्। अपराणीति विसर्प-किटिभ-विचर्ची-विपादिका-पामा·। सकण्डू· सैव तीव्रदाह-स्फोटा कच्छूरिति न संख्यातिरेक। अत्र जेज्जटेन एककुष्ठे महाकुष्ठेऽपि कफाधिक्यमिति स्वकपोलकल्पित श्लोक "अरु· ससिध्म रकसा महच्च यच्चैककुष्ठ कफजान्यमूनि। वातेन विद्यात् परिसर्पमेक शेषाणि पित्तप्रभवाणि विद्यात्॥" इति (पठित·)। तत्र महाकुष्ठे त्वक्संकोच-स्वाप-भेदाङ्गसादा वातकृता, एककुष्ठेऽपि कृष्णारुणत्व वातकृत, किञ्च कफजत्वे तु कष्टसाध्यत्वमप्यस्य न स्यात्, कफजस्य कुष्ठस्य सुखसाध्यत्वात्, परिसर्पस्यापि वातकृतत्वे स्राव-स्फोटजन्मानुपपत्ति, वातजस्याविद्यमानस्राव-पाकात्।" (गयदास·)। "कुष्ठानि सप्तधा दोषै पृथग्मिश्रै समागतैः। सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वत॥ वातेन कुष्ठ कापाल, पित्तादौदुम्बर कफात्। मण्डलाख्य विचर्ची च, ऋक्षाख्य वात-पित्तजम्॥ चर्मैककुष्ठ-किटिभ-सिध्मालस-विपादिका। वात-श्लेष्मोद्भवा·, श्लेष्म-पित्ताद्दद्रु-शतारुषी॥ पुण्डरीक सविस्फोट पामा चर्मदल तथा। सर्वै स्यात् काकण, पूर्वं त्रिक दद्रु सकाकणम्॥ पुण्डरीकर्क्षजिह्वं च महाकुष्ठानि सप्त तु।" (अ. स नि. अ. १४)।

करनेसे, मधु-फाणित (गुडकी राव)-मच्छी-बडहल-मूली और मकोय इनका वार-वार (निरन्तर)-अतिमात्रामें और अजीर्णमें सेवन करनेसे, चिलिचिम नामका मत्स्य दूधके साथ खानेसे, हायनक-यवक-चीनक-कोदों-जगली कोदो (ये सब क्षुद्रान्न-कदन्नविशेष हैं) प्राय अन्न दूध-दही-छाछ-बेर-कुलथी-उडद तथा अलसी और कुसुम्भके तेलके साथ खानेसे, इन पदार्थोंसे अतिमात्र तृप्त होकर मैथुन-व्यायाम और सन्तापका अतिमात्र सेवन करनेसे, भय-श्रम और सतापसे पीडित मनुष्यको सहसा ठण्ढे जलमें गोता लगानेसे, विदग्ध आहारका वमन न करके फिर विदाही अन्न खानेसे, उलटी तथा अन्य वेगोंको रोकनेसे, अति स्नेहपान करनेसे, परस्पर विरोधी-द्रव-स्निग्ध और गुरु अन्न खानेसे, अति भोजन करके व्यायाम और अति सन्तापका सेवन करनेसे, अजीर्णमे भोजन करनेसे, पञ्चकर्मोंके मिथ्या आचार करनेसे, नया अन्न-दही-मत्स्य-तिल-लवण-खटाई-उडद-मूली-मैदेसे बने हुए भक्ष्य-दूध-और गुडके अति सेवनसे, दिनमें सोनेसे, विद्वान् ब्राह्मण और गुरु जनोंका अपमान करनेसे, पापकर्म करनेसे (च.), मिथ्या (अनुचित) आहार-विहार करनेसे, विशेषत. गुरु-विरुद्ध-असात्म्य-अपक्क और अहित भोजनसे, स्नेहपान और वमनके अनन्तर व्यायाम और मैथुन करनेसे, ग्राम्य-आनूप और औदक वर्गके प्राणियोंका मास वार वार दूधके साथ खानेसे (सु.), साधुओं(सत्पुरुषों)की निन्दा करने तथा उनका वध करनेसे, पापकर्म करनेसे, स्त्रीका वध करनेसे तथा पराया धन हरण करने आदि इस जन्ममें या पूर्व जन्ममें किये हुए पापकर्मोंसे वातादि तीनों दोष प्रकुपित तथा तिर्यग्गामी सिराओंमें प्राप्त होकर त्वचा-लसीका-रक्त और मासको ढीला करके दूषित करते हुए वाह्यमार्ग (त्वचा)में प्राप्त हो कर तथा वहाँ बढ़कर मण्डल उत्पन्न करते हैं, इस अवस्थामें उनकी चिकित्सा न करने पर वे अन्य धातुओंको दूषित कर शरीरके अभ्यन्तर (भीतरी भागों)में फैलते हैं और त्वचा आदि दूष्योंको दूषित करके कुष्ठ उत्पन्न करते हैं[1]।

---

१ "तत्रेद सर्वकुष्ठनिदान समासेनोपदेक्ष्याम –शीतोष्णव्यत्यासमनानुपूर्व्योपसेवमानस्य तथा सन्तर्पणापतर्पणाभ्यवहार्यव्यत्यास, मधु-फाणित-मत्स्य-लकुच-मूलक-काकमाची सततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नत., चिलिचिम च पयसा, हायनक-यवक-चीनकोद्दालक-कोरदूषप्रायाणि चान्नानि क्षीर-दधि-तक्र-कोल-कुलत्थ-माषातसीकुसुम्भस्नेहवन्ति, एतैरेवातिमात्र सुहितस्य च व्यवाय-व्यायाम-सन्तापानत्युपसेवमानस्य, भय-श्रम-सन्तापोपहतस्य च सहसा शीतोदकमवतरत , विदग्ध चाहार-जातमनुल्लिख्य विदाहीन्यभ्यवहरत , छर्दि च प्रतिघ्नत , स्नेहाश्चातिचरतस्त्रयो दोषा युगपत प्रकोपमापद्यन्ते, त्वगादयश्चत्वार शैथिल्यमापद्यन्ते, तेषु शिथिलेषु दोषा प्रकुपिता स्थानमधिगम्य सतिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्त. कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति।" (च नि अ ५)। "शीतोष्णव्यत्यास शीतोष्णपरिवर्तनम्। अनानुपूर्व्येति यथोक्तक्रमत्यागेन, क्रमत्यागश्चोष्ण निषेव्य सहसा शीतसेवा, तद्विपर्ययश्च, तथा अनुचिते काले शीतोष्णसेवा। एव सन्तर्पणापतर्पणाभ्यवहार्यव्यत्यासमपि अनानुपूर्व्योपसेव्यमानस्येति ज्ञेयम्। ×। स्थानमधिगम्येति कुष्ठजननानुगुण शिथिलत्वगादिस्थान प्राप्य, किवा स्थानमिति जनयितव्यकुष्ठशरीरदेश प्राप्येत्यर्थ । सतिष्ठमाना इति

कुष्ठमें कृमियोंकी उत्पत्तिका वर्णन—

प्रारम्भमें कुष्ठकी चिकित्सा न करने पर कुष्ठ धातुओंमें प्राप्त तथा शरीरमें व्याप्त होकर स्वेद-क्लेद (गीलापन) और कोथ (सडान)से युक्त दारुण सूक्ष्म कृमियोको उत्पन्न करके लोम-त्वचा स्नायु-धमनी और तरुणास्थिका क्रमश भक्षण करते हैं। श्वित्र कुष्ठमे क्लेद और कृमि न होनेसे उसको **बाह्यकुष्ठ** कहा जाता है[1] ।

वचनेन स्थिरा एव दोषा कुष्ठजनका भवन्ति, न हि सर्पणशीला इति दर्शयति।" (च. द.)। "विरोधीन्यन्नपानानि द्रव-स्निग्ध गुरूणि च। भजतामागता छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ व्यायाममतिसतापमतिभुक्त्वोपसेविनाम्। शीतोष्ण-लङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ॥ घर्म-श्रम-भयार्ताना द्रुत शीताम्बुसेविनाम्। अजीर्णाध्यशिना चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ॥ नवान्न-दधि-मत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्। माष-मूलक-पिष्टान्न-तिल-क्षीर-गुडाशिनाम् ॥ व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रा च भजता दिवा। विप्रान् गुरून् धर्षयता पाप कर्म च कुर्वताम् ॥ वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्व-ग्रक्त मासमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्ठाना सप्तको द्रव्यसग्रह ॥ अत. कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैका-दशैव च। न चैकदोषज किञ्चित् कुष्ठ समुपलभ्यते ॥" (च चि अ ७)। "मिथ्याहाराचारस्य विशेषाद्गुरु-विरुद्धासात्म्याजीर्णाहिताशिन स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायाम-ग्राम्यधर्मसेविनो ग्राम्या-नूपौदकमासानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जत्यप्सूष्माभितप्त सहसा छर्दीर्वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्त-श्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिल प्रवृद्धस्तिर्यग्गा सिरा सम्प्रतिपद्य समुद्धूय बाह्य मार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति, यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निश्चरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एव समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तर प्रतिपद्यते धातूनभिदूषयन्। ब्रह्म स्त्री-सज्जनवध-परस्वहरणादिभि। कर्मभि पापरोगस्य प्राहु कुष्ठस्य सभवम् ॥" (सु नि अ ५)। "मिथ्याशब्द आहाराचाराभ्या प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तत्र द्वादशाशनप्रविभागोक्तविधि-विपरीतविधिर्मिथ्याहार। आचार काय-वाङ्मनोभेदेन त्रिविधो विहार, तस्य स्वस्थवृत्तानागता-बाधविधानादन्यथाकरण मिथ्याचार। × । पित्त-श्लेष्माणौ प्रकुपितो प्रकुपित परिगृह्यानिल इति त्रिदोषजत्व सम्प्राप्तौ सूचितम्। कर्मजत्व पुन ब्रह्म-स्त्री-सज्जनवधादिभि परस्वहरणान्तै सूचयि-ष्यति। अत एव कुष्ठाना द्विविध चिकित्सित युक्तिव्यपाश्रित दैवव्यपाश्रित च, दोष-कर्मसमवात् कुष्ठानाम्।" (गयदास.)। "मिथ्याहार-विहारेण विशेषेण विरोधिना। साधुनिन्दा-वधान्यस्व-हरणाद्यैश्च सेवितै ॥ पाप्मभि कर्मभि सद्य प्राक्तनैर्वेरिता मला। सिरा प्रपद्य तिर्यग्गास्त्व-ग्लसीकासृगामिषम् ॥ दूषयन्त श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहि। त्वच कुर्वन्ति वैवर्ण्य दुष्टा. कुष्ठ-मुशन्ति तत् ॥ कालेनोपेक्षित यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपु।" (अ स. नि. अ १४)।

१ "प्रपद्य धातून् व्याप्यान्त सर्वान् सक्लेद्य चावहेत्। सस्वेद-क्लेद-सकोथान् कृमीन् सूक्ष्मान सुदारुणान् ॥ लोम त्वक्स्नायु-धमनी-तरुणास्थीनि यै. क्रमात्। भक्षयेच्छ्वित्रमस्माच्च कुष्ठ बाह्यमुदा-हृतम् ॥" (अ स नि अ. १४)। "श्वित्रस्येदृग्रूपता न विद्यते, अस्मात् कारणाच्छ्वित्र कुष्ठं बाह्यमुदाहृत त्वग्गतमात्रमेवोक्तमित्यर्थ।" (अ. द.)।

'कुष्ठ' शब्दकी निरुक्ति—

कुष्ठ रोग उसकी उपेक्षा (प्रारम्भमें ही चिकित्सा न करने) पर सब शरीरमें बाहर निकल आता है, इसलिये इस रोगको **कुष्ठ** कहते हैं। कुष्ठ त्वचामें उत्पन्न होनेवाले रोगोंका वर्ग है, एक रोग नहीं है[१]।

वक्तव्य—क्यादि गणके 'कुष' निष्कर्षे (निष्कर्षो बहिर्निःसरणं-बाहर निकल आना **माधवीय धातुवृत्ति**) इस धातुसे 'कुष्णाति' इति कुष्ठं-इस व्युत्पत्तिसे **कुष्ठ** शब्द बनता है। इस रोगको **त्वग्रोग** भी कहते हैं। कई व्याख्याकारोंने 'कुत्सित करोति वपु' इति कुष्ठं—यह रोग देहको कुत्सित-कद्रूप करता है अतः इसको कुष्ठ कहते हैं, यह निरुक्ति की है।

कुष्ठके पूर्वरूप—

स्वेद-पसीना न आना या अति स्वेद आना, त्वचा परुष (कर्कश) या अति श्लक्ष्ण (चिकनी) होना, खाज आना, सूई चुभने सी वेदना होना, सुन्नता, जलन, झन-झनाहट, रोमहर्ष, कठिनता, उष्णता, भारीपन, शरीरमें सूजन और फैलना, शरीरके छिद्रों (कर्ण-नासिका-आदि)में चिकनाहट (कफलिप्त सा रहना), पकने-जलने-दाँतसे कटने-अस्थि भग्न होने-क्षत होने और गिरने पर उस स्थानमें अति पीडा होना, छोटे व्रणका भी दुष्ट होना और न भरना, स्पर्शका ज्ञान कम होना, त्वचाका वर्ण विकृत होना, चकत्ते-ददोड़े निकलना, थकावट, व्रणमें अधिक पीडा, व्रण शीघ्र होना और चिरकाल तक रहना (च.), रक्त काला पड जाना (सु), व्रण भर जाने पर भी वह स्थान रूक्ष रहना और थोड़ा सा कारण मिल जाने पर सडना, ये कुष्ठ के पूर्वरुप हैं[२]।

चरकोक्त सात महाकुष्ठोंके लक्षण—

जो कुष्ठ रूक्ष स्पर्शवाला, अरुण वर्णका, कठिन, विषम फैला हुआ, खरस्पर्शवाले

---

१ "कुष्ठमुशन्ति तत्। कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः।" (अ. स. नि. अ. १४)। "कुष्णाति कुत्सितं करोति।" (तोडर.)। २ तेषामिमानि पूर्वरूपाणि, तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमूष्मायणं गौरवं श्वयथुर्वीसर्पागमनमभीक्ष्णं च काये कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्व-दग्ध-दष्ट-भग्न-क्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति।" (च. नि. अ. ५)। "स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः। कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः॥ व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः। दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥" (च. चि. अ. ७)। "तस्य पूर्वरूपाणि-त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति।" (सु. नि. अ. ५)। "अतिश्लक्ष्णखरस्पर्श-स्वेदास्वेद-विवर्णताः। दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिः श्रमः॥ व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्ति-श्चिरस्थितिः। रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम्॥ रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षण-मग्रजम्।" (अ. स. नि. अ. १४)।

सिरेवाला, पतला, वाहर उभरा हुआ, सुन्न सा, रोमहर्षवाला, सूई चुभने सी वेदनावाला, अल्प कण्डू-दाह-पूय (पीव) और लसीकावाला, शीघ्र उत्पन्न होने–फैलने और फटनेवाला, जन्तु (कृमि) युक्त, कृष्ण और अरुण वर्णके कपाल (ठीकरे) जैसा हो उसको **कपाल कुष्ठ** कहते हैं, यह दुश्चिकित्स्य (कष्टसाध्य) होता है। जो कुष्ठ ताम्र (ताँबे जैसे) वर्णका, पिञ्जर (भूरापन लिये हुए लाल सा) और खरस्पर्श रोओंसे व्याप्त, मोटा-स्थूल, वहुत और गाढे पूय-रक्त और लसीकावाला, खुजली-क्लेद-सडान-दाह और पाकवाला, शीघ्र फैलने-उत्पन्न होने और फटनेवाला, सताप और कृमियुक्त तथा गौर वर्णकी सिराओंसे व्याप्त और गूलरके फलसदृश वर्णका हो उसको **औ(उ)दुम्बर कुष्ठ** जानना चाहिए। जो कुष्ठ स्निग्ध, भारी सा मालूम होनेवाला, उभरा हुआ, चिकने-स्थिर और पीतवर्ण सिरेवाला, श्वेत और रक्त वर्णकी झलकवाला, श्वेत वर्णके रोएँसे व्याप्त, वहुत-गाढे-श्वेत वर्ण और पिच्छिल स्राववाला, अधिक क्लेद-खुजली-स्राव और क्रिमिवाला, धीरेसे फैलने-उत्पन्न होने और फटनेवाला, एक दूसरेसे मिले हुए मण्डलोवाला और गोल आकारका हो उसको **मण्डलकुष्ठ** कहते हैं। यह कृच्छ्रसाध्य होता है। जो कुष्ठ कठिन, वाहरसे अरुण और भीतरसे श्याव वर्णका, गहरे आसमानी–पीले और ताम्र वर्णकी झलकवाला, शीघ्र फैलने और उत्पन्न होनेवाला, अल्प खुजली-गीलापन और कृमिवाला, दाह-भेद (फटना) और सूई चुभने सी वेदनाकी अधिकतावाला, काँटे चुभते हों ऐसी वेदनावाला, वीचमे उभरा हुआ, पतले सिरेवाला, कर्कश पिडकाओसे व्याप्त, लम्बे मण्डलोवाला और रीछकी जीभ जैसा दिखता हो उसको **ऋक्षजिह्व** जानना चाहिए। जो कुष्ठ रक्त और श्वेत झलकवाला, रक्त सिरेवाला, रक्त वर्णकी रेखा और सिराओंसे व्याप्त, उभरा हुआ, वहुत तथा गाढे रक्त–पूय–लसीका–खुजली–कृमि–दाह और पाकवाला, शीघ्र उत्पन्न होने–फैलने और फटनेवाला तथा पुण्डरीक (कमल) की पँखडीके सदृश दिखता हो उसको **पुण्डरीक** जानना चाहिए। जो कुष्ठ कडा, अरुणवर्ण, विशीर्ण (फटा हुआ), वाहरसे पतला, भीतर स्निग्ध, श्वेत और रक्त झलकवाला, अधिक–फैला हुआ, अल्प वेदना–खुजली–दाह–पूय और लसीकावाला, शीघ्र उत्पन्न होनेवाला, थोडे फटने और क्रिमिवाला तथा लौकी (अलावु) के पुष्पके सदृश दिखता हो उसको **सिध्म** जानना चाहिए। सिध्म कुष्ठको रगडने पर उससे रज गिरती है। सिध्म कुष्ठ प्राय छाती पर होता है। जो कुष्ठ प्रारम्भमे घुघची–गुञ्जाके सदृश रक्त वर्णका और पीछे सर्व कुष्ठोके लक्षण और वर्ण(अनेक वर्ण)वाला, पाकरहित तथा तीव्र वेदनायुक्त हो उसको **काकणक** जानना चाहिए। काकणक कुष्ठ असाध्य है और इतर छ कुष्ठ साध्य हैं[1]।

---

१ "रूक्षारुण-परुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि तनूनि सुप्तसुप्तानि हृषितलोमाञ्चितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डू-दाह-पूय-लसीकान्याशुगति-समुत्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुण-कपालवर्णानि च कपालकुष्ठानीति विद्यात्। ताम्राणि ताम्र-खररोमराजीभिरवनद्धानि वहलानि बहु-बहल-पूय-रक्त-लसीकानि कण्डू-क्लेद-कोथ-दाह-पाकवन्त्याशुगति समुत्थान-भेदीनि ससताप-क्रिमीणि

चरकोक्त एकादश क्षुद्र कुष्ठोंके लक्षण—

जो कुष्ठ स्वेदरहित, अधिक स्थानमें फैला हुआ और मत्स्यके कवचके सदृश दिखता हो उसको **एककुष्ठ** कहते हे। जो हाथीके चमडे जैसे खर स्पर्शवाला और मोटा-स्थूल हो उसको **चर्मकुष्ठ** जानना चाहिए। जो कुष्ठ श्याव वर्णका तथा रूढ (भरे हुए) व्रणस्थानसदृश खर-कर्कश स्पर्शवाला हो उसको **किटिभ** कहते हैं। जिस कुष्ठमें हाथ-पाँवकी त्वचा फट जाय और तीव्र वेदना हो उसको **विपादिका** कहते हैं।

पक्वोदुम्बरफलवर्णान्यौदुम्बरकुष्ठानीति विद्यात्। स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्ण-स्थिर-पीत-पर्यन्तानि शुक्ल-रक्तावभासानि शुक्लरोमराजीसन्तानानि बहु-बहल-शुक्ल पिच्छास्रावीणि बहुक्लेद-कण्डू-क्रिमीणि सक्तगति-समुत्थान-भेदीनि परिमण्डलानि **मण्डलकुष्ठानि** विद्यात्। परुषाण्यरुण-वर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नील-पीत-ताम्रावभासान्याशुगति-समुत्थानान्यल्पकण्डू-क्लेद-क्रिमीणि दाह-भेद-निस्तोद-बहुलानि शूकोपहतोपमवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिडकाचितानि दीर्घपरिमण्डलान्यृक्षजिह्वाकृतीनि **ऋक्षजिह्वानीति** विद्यात्। शुक्ल-रक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि रक्तराजी-सिरासततान्युत्सेधवन्ति बहु-बहलरक्त-पूय-लसीकानि कण्डू-क्रिमि-दाह-पाकवन्त्या-शुगति-समुत्थान-भेदीनि पुण्डरीकपलाशसकाशानि **पुण्डरीकाणीति** विद्यात्। परुषारुण विशीर्णानि बहिस्तनून्यन्त स्निग्धानि शुक्ल-रक्तावभासानि बहून्यल्पवेदनान्यल्पकण्डू-दाह-पूय-लसीकानि लघु-समुत्थानान्यल्पभेद-क्रिमीण्यलाबुपुष्पसकाशानि **सिध्मकुष्ठानीति** विद्यात्। काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्तु सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानि पापीयसा सर्वकुष्ठलिङ्गसभवेनानेकवर्णानि **काकणकानीति** विद्यात्। तान्यसाध्यानि, साध्यानि पुनरितराणि।" (च नि अ ५)। "कृष्णारुणकपालाभ यद्रूक्ष परुष तनु। **कापालं** तोदबहुल तत् कुष्ठ विषम स्मृतम्॥ दाह-कण्डू-रुजा-रागपरीत लोमपिञ्ज-रम्। उदुम्बरफलाभास **कुष्ठमौदुम्बरं** विदु॥ श्वेत रक्त स्थिर स्त्यान स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्। कृच्छ्रमन्योन्यससक्त कुष्ठ **मण्डलमुच्यते**॥ कर्कश रक्तपर्यन्तमन्त श्याव सवेदनम्। यदृक्षजिह्वा-सस्थानमृ**क्षजिह्वं** तदुच्यते॥ सश्वेत रक्तपर्यन्त पुण्डरीकदलोपमम्। सोत्सेध च सदाह च **पुण्डरीकं** तदुच्यते॥ श्वेत ताम्र तनु च यद्रजो घृष्ट विमुञ्चति। अलाबूपुष्पवर्ण तत् **सिध्मं** प्रायेण चोरसि॥ यत् काकणन्तिकावर्णमपाक तीव्रवेदनम्। त्रिदोषलिङ्ग तत् कुष्ठ **काकणं** नैव सिध्यति॥" (च चि अ ७)। "कृष्णारुणकपालाभ रूक्ष सुप्त खर तनु। विस्तृतासमपर्यन्त दूषितैर्लोमभिश्चितम्। तोदाढ्यमल्पकण्डूक **कापालं** शीघ्रसर्पि च॥ पक्वोदुम्बरताम्रत्वग्रोम गौरसिराचितम्। बहल बहुलक्लेद रक्त दाह-रुजाकरम्। आशूत्थानावदरण-क्रमि विद्यादुदुम्बरम्॥ स्थिर स्त्यान गुरु स्निग्ध श्वेत-रक्तमनाशुगम्। अन्योन्यासक्तमुत्सन्न बहुकण्डू-स्रुति-क्रमि॥ श्लक्ष्ण-पीताभपर्यन्त **मण्डलं** परिमण्डलम्। परुष तनु रक्तान्तमन्त श्याव समुन्नतम्॥ सतोद-दाह-रुक्-क्लेद कर्कशैः पिटकैश्चितम्। ऋक्षजिह्वाकृति प्रोक्तमृक्षजिह्व बहुक्रमि॥ रक्तान्तमन्तरापाण्डु कण्डू-दाह-रुजान्वितम्। सोत्सेधमाचित रक्तैः पद्मपत्रमिवाशुभि॥ घन-भूरिलसीकास्रवप्रायमा-शुविभेदि च। **पुण्डरीकं**। ×××। **काकणं** तीव्रदाह-रुक्। पूर्व रक्त च कृष्ण च काकणन्ती-फलोपमम्॥ कुष्ठलिङ्गैर्युत सर्वैर्नैकवर्ण ततो भवेत्।" (अ. स. नि अ. १४)।

कण्डूयुक्त लाल झलकवाली ग्रन्थियों (गण्डों) से व्याप्त कुष्ठको **अलसक** जानना चाहिए। उभरे हुए और खुजली-ललाई तथा फुन्सियोंसे युक्त कुष्ठको **दद्रु** जानना चाहिए। जो कुष्ठ रक्तवर्ण, कण्डू-स्फोट और पीडायुक्त और फटनेवाला हो, तथा जिसमें स्पर्श सहन न हो उसको **चर्मदल** जानना चाहिए। श्वेत-अरुण और श्याववर्णकी तथा अति कण्डू-युक्त जो पिडकाएँ होती हैं उनको **पामा** कहते हैं। श्वेत और अरुण वर्णके तथा पतली त्वचा वाले जो फोड़े होते हैं, उनको **विस्फोटक** कहते हैं। जिस कुष्ठमें रक्त और श्याववर्ण तथा दाहयुक्त अनेक व्रण होते हैं उसको **शतारु** कहते हैं। जिस कुष्ठमें कण्डूयुक्त, श्याव वर्णकी और बहुत स्राववाली पिडकाएँ होती हैं उसको **विचर्चिका** कहते हैं[१]।

सुश्रुतके मतसे सप्त महाकुष्ठोंके लक्षण—

जो कुष्ठ वातसे अरुणवर्णका, पतला, फैलनेवाला, सूई चुभने सी वेदना और सुन्नतायुक्त होता है उसको **अरुण** कहते हैं। जो पित्तसे पके हुए गूलरके फलके सदृश आकृति और वर्णवाला होता है उसको **औदुम्बर** कहते हैं। जो कुष्ठ पित्तसे रीछकी जीभके सदृश आकृतिवाला और खर स्पर्शवाला होता है उसको **ऋक्षजिह्व** कहते हैं। जो कुष्ठ काले रंगके ठीकरेके सदृश वर्णका होता है उसको **कपाल** कहते हैं। जो कुष्ठ गुञ्जाके सदृश अति रक्त और (कुछ) काले रंगका होता है उसको **काकणक** कहते हैं। औदुम्बर, ऋक्षजिह्व, कपाल और काकणक इन चार कुष्ठोंमें ओष (पार्श्वमें आग रखी हो ऐसा दाह), चूसने सी पीडा, जलन, भीतरसे धुआँ उठता हो ऐसी प्रतीति, शीघ्र उत्पन्न होना-पकना और फटना तथा कृमि उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण होते हैं। कफसे जो रक्तकमलके पत्रके सदृश वर्णका कुष्ठ होता है उसको **पुण्डरीक** कहते हैं। कफसे अलसी (तिसी) के पुष्पके सदृश वर्णका अथवा ताँबे जैसे लाल रंगका, फैलने-वाला तथा छोटी फुन्सियोंसे व्याप्त जो कुष्ठ होता है उसको **दद्रुकुष्ठ** (**दाद**) कहते

---

१ "अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्। तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ॥ श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्। वैपादिकं पाणि-पादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥ कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्। सकण्डू-रागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥ रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्। तच्चर्मदलमाख्यातं सस्पर्शासहमुच्यते ॥ पामा श्वेतारुणश्यावा कण्डूला. पिटका भृशम्। स्फोटा श्वेतारुणाभासा विस्फोटा स्युस्तनुत्वच. ॥ रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारु स्याद्बहुव्रणम्। सकण्डू पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका" ॥ (च. चि अ ७)। "सकण्डूपिटका श्यावा लसीकाढ्या विचर्चिका। हस्तिचर्मखरस्पर्शं चर्म, एकाख्यं तु महा-श्रयम्। अस्वेदं मत्स्यशकलसन्निभं, किटिभं पुन.। रूक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत् परुषासितम्। ×× । गण्डै. कण्डूयुतैश्चितम्। रक्तैरलसकं। ××। पाणि-पाददार्यो विपादिका.। तीव्रार्त्यो मन्दकण्ड्वश्च सराग-पिटकाचिता । × × । तनुत्वग्भिश्चित स्फोटै. सितारुणै । विस्फोट" (अ स. नि अ १४)।

हैं। पुण्डरीक और दद्रु दोनों कुष्ठोंमें उभार, गोल आकृति, खुजली और देरीसे (धीरे-धीरे) उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण होते हैं[1]।

सुश्रुतोक्त एकादश क्षुद्र कुष्ठोंके लक्षण—

स्थूलारुष् (स्थूलारुष्क) कुष्ठमें सन्धिस्थानोमे स्थूल और कठिन व्रण होते है। यह अति दारुण—कृच्छ्रसाध्य होता है। **महाकुष्ठ** (नामके कुष्ठ) मे त्वचाका सकोच—फटना-और सुन्नता (अचेतनता) तथा शरीरका अवसाद (ग्लानि) ये लक्षण होते हैं। जिस कुष्ठसे शरीर काला या अरुण वर्णका हो जाय उसको **एककुष्ठ** कहते हैं। जिस कुष्ठमें हाथ-पाँवके तलोमे खुजली, व्यथा-पीडा, पार्श्वमे आग रखी है ऐसी प्रतीति और चूसने सी पीड़ा हो उसको **चर्मदल** कहते है। जो कुष्ठ त्वचा-रक्त और मासको दूषित करके विसर्पके समान शीघ्र फैले तथा जिसमे मूर्च्छा-विदाह-बेचैनी-सूई चुभने सी वेदना और पाक हो उसको **विसर्प कुष्ठ** कहते है। जिस कुष्ठमे स्रावयुक्त पिडकाएँ शरीरमे धीरे-धीरे फैलें उसको **परिसर्प कुष्ठ** कहते हैं। प्राय शरीरके ऊपरके प्रदेशमे (कुछ) कण्डूयुक्त श्वेत वर्णका और कष्ट न देनेवाला जो कुष्ठ होता है उसको **सिध्म** कहते हैं। **विचर्चिका** कुष्ठमें हाथमे अति कण्डू और पीडायुक्त रूक्ष रेखाएँ होती हैं। इसी कुष्ठमे यदि पॉवमे कण्डू—दाह और पीडायुक्त रेखाएँ उत्पन्न हों तो उसको **विपादिका** कहते हैं। जो कुष्ठ स्रावयुक्त, गोल, गाढा, स्निग्धस्पर्श, अति कण्डूयुक्त और कृष्ण वर्णका हो उसको **किटिभ** कहते हैं। जिम कुष्ठमें स्राव-खुजली और दाहयुक्त छोटी पिडकाएँ हों उसको **पामा** कहते हैं। यही नितम्ब-हाथ और पॉवमे दाहयुक्त फोडेके रूपमें उत्पन्न हो तो उसको **कच्छू** कहते है। शरीरमे स्रावरहित और कण्डूयुक्त जो पिडकाएँ (फुसियाँ) होती हैं उनको **रकसा** कहते हैं[2]।

---

१ "तत्र वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोद-भेद-स्वापयुक्तान्यरुणानि। पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृति-वर्णान्यौदुम्बराणि, ऋक्षजिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋक्षजिह्वानि, कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि, काकणन्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्त-कृष्णानि काकणकानि, तेषा चतुर्णामप्योष-चोष-परिदाह-धूमायनानि क्षिप्रोत्थान-प्रपाक-भेदित्वानि क्रिमिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि। श्लेष्मणा पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पुण्डरीकाणि, अतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च दद्रुकुष्ठानि, तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता कण्डूश्चिरोत्थानत्व चेति सामान्यानि रूपाणि॥" (सु नि अ ५)। २ "क्षुद्रकुष्ठान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्याम —स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि स्थूलारुषि स्यु कठिनान्यरूषि। त्वक्कोच-भेद-स्वपनाङ्गसादा कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति॥ कृष्णारुण येन भवेच्छरीर तदेककुष्ठ प्रवदन्ति कुष्ठम्। स्युर्येन कण्डू-व्यथनोषचोषास्तलेषु तच्चर्मदल वदन्ति॥ विसर्पवद् सर्पति सर्वतो यस्त्वग्रक्त-मासान्यभिभूय शीघ्रम्। मूर्च्छाविदाहारति-तोद-पाकान् कृत्वा विसर्प स भवेद्विकार॥ शनै शरीरे पिडका स्रवत्य सर्पन्ति यास्त परिसर्पमाहु। कण्ड्वन्वित श्वेतमपायि सिध्म विद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाये॥ राज्योऽतिकण्ड्वर्ति-रुज सरूक्षा भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्। कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना विपादिका

कुष्ठमें वातादि दोषोंके लक्षण—

कुष्ठमें वायुसे रूक्षता, शोष (सूखना), सूई चुभने सी वेदना, शूल, अंगका संकुचित या विस्तृत होना, कर्कशता, काठिन्य, रोमहर्ष तथा श्याव या अरुण वर्ण ये लक्षण होते हैं। कुष्ठमें पित्तसे दाह, ललाई, स्राव, पकना, कच्चे मासके तुल्य गन्ध, गीलापन तथा अंग गलना ये लक्षण होते हैं। कुष्ठमें कफसे श्वेत वर्ण, शैत्य, खुजली, कठिनता, उभार, भारीपन, स्निग्धता, गीलापन तथा क्रिमि पड़ना ये लक्षण होते हैं[1]।

रसादि धातुगत कुष्ठोंके लक्षण—

रस धातुगत कुष्ठमें स्पर्श कम मालूम होना, पसीना आना, थोड़ी खुजली होना, त्वचा विवर्ण (विकृत-वर्ण) होना और त्वचामें रूक्षता आना ये लक्षण होते हैं। रक्तधातुगत कुष्ठमें त्वचाकी सुन्नता, रोएँ खड़े होना, स्वेदकी अति प्रवृत्ति होना, खुजली तथा दुर्गन्ध आना ये लक्षण होते हैं। मांसगत कुष्ठमें कुष्ठके मण्डलका स्थूल होना, मुँह सूखना, कर्कशता, फुंसियाँ निकलना, सूई चुभने सी वेदना, फोड़े निकलना और कुष्ठके

पादगतेयमेव ॥ यत् स्रावि वृत्त घनमुग्रकण्डु तत् स्निग्ध-कृष्ण किटिभं वदन्ति । सास्राव-कण्डू-परिदाहकाभि पामाऽणुकाभि पिडकाभिरुक्ता ॥ स्फोटैः सदाहैरति सैव कच्छूः स्फिक्पाणि-पाद-प्रभवैर्निरूप्या । कण्ड्वन्विता या पिडका शरीरे सस्रावहीना रकसोच्यते सा ॥" (सु नि. अ ५)। "स्थूलानि अरूपि व्रणा । सन्धिषु पर्वणाम् । स्थूलारुष्क कफात् । स्थूलारुष्कमित्यस्य सान्वय नाम । क्षुद्रपठितस्यापि महाकुष्ठमिति सान्वय नाम, तस्मिन् त्वक्सकोचादीना सर्वाङ्गत्वात् । एककुष्ठेऽपि कृष्णारुणैकवर्णत्वेन कृत्स्नशरीरगतस्यैककुष्ठमित्यस्य सान्वय नाम । महाकुष्ठमेककुष्ठमपि वातात्, तोद-स्वाप-त्वक्सकोचादीना महाकुष्ठे वातकार्यत्वात्; एककुष्ठेऽपि कृष्णारुणयोर्वातकार्यत्वात् । ×× । प्रायशश्चोर्ध्वकाये इति 'प्राय 'शब्दादध कायेऽपि कदाचित् । × । यैव पाण्योर्विचर्ची सैव पादयोर्विपादिका । अत्रैव भोजः—"दोषा प्रदूष्य त्वङ्मास पाणि-पादतलाश्रिता । पिडका जनयन्त्याशु दाह-कण्डूसमन्विता ॥ दाल्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका । पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका ॥" इति (गयदास)। "दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छवि । उत्सन्नमण्डला दद्रु कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ॥ × । पिटका पामा कण्डू-क्लेदरुजाधिका । सूक्ष्मा श्यावारुणा बह्वय प्राय स्फिक्पाणि-कूर्परे ॥ सस्फोटमस्पर्शसह कण्डूषा-तोद-दाहवत् । रक्त दलच्चर्मदल" (अ स नि अ. १४)।

१ "रौक्ष्य शोपस्तोद शूल सकोचन तथाऽऽयाम । पारुष्य खरभावो हर्ष श्यावारुणत्व च ॥ कुष्ठेषु वातलिङ्ग, दाहो राग परिस्रव पाक । विस्रो गन्ध क्लेदस्तथाऽङ्गपतन पित्तकृतम् ॥ श्वैत्य शैत्य कण्डू. स्थैर्यं चोत्सेध-गौरव-स्नेहा । कुष्ठेषु तु कफलिङ्ग जन्तुभिरभिभक्षण क्लेद ॥" (च चि म ७)। "कुष्ठेषु तु त्वक्सकोच-स्वाप-स्वेद-शोफ-भेद-कौण्य-स्वरोपघाता वातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतन-कर्णनासाभङ्गाक्षिराग-सत्त्वोत्पत्तय पित्तेन, कण्डू-वर्णभेद-शोफास्राव-गौरवाणि श्लेष्मणा ।" (सु नि अ. ५)। "दोषभेदीयविहितैरादिशेल्लिङ्ग-कर्मभि । कुष्ठेषु दोषल्वणता" (अ. स नि अ १४)।

मण्डल कठिन होना ये लक्षण होते हैं। मेदोगत कुष्ठमें दुर्गन्धि, मैलकी अधिकता, पूय, कृमि और शरीरावयवका फटना ये लक्षण होते हैं। अस्थि और मज्जागत कुष्ठमें नासाभङ्ग (नाक सड कर गलना), आँखें लाल होना, कृमि उत्पन्न होना तथा स्वर-आवाज बैठ जाना ये लक्षण होते है। शुक्रगत कुष्ठमें कोहनीके नीचेका हाथ निश्चेष्ट होना, अंगोकी गति (हलन-चलन)का क्षय, भेदवत् पीडा, क्षतका फैलना तथा ऊपर कहे हुए रसादि धातुगत कुष्ठके लक्षण भी होते हैं। स्त्रीके आर्तवगत और पुरुषके शुक्रगत बीजभाग कुष्ठद्वारा दूषित होने पर उनकी जो प्रजा होती है वह भी कुष्ठवाली होती है[1]।

कुष्ठके साध्यासाध्य लक्षण—

जो कुष्ठ सर्व (दोषोंके) लक्षणोंसे युक्त हो, रोगी दुर्बल हो, तृषा और दाह अधिक हो, जठराग्नि मन्द हो, कुष्ठ प्रदेशको जन्तु-कृमि खा गये हों, जिसमें रिष्ट लक्षण उत्पन्न हुए हों, जो अस्थि-मज्जा और शुक्र तक प्रविष्ट हुआ हो वह असाध्य होता है। जो रोग असाध्य हो गया हो वह अपनी असाध्यताको नहीं छोडता है (साध्य नहीं होता है)। साध्य रोग भी कभी अपचार (अपथ्य सेवन और मिथ्या उपचार) से असाध्य हो जाता है। काकणकको छोडकर अन्य छ कुष्ठ साध्य होते हैं। ये साध्य कुष्ठ भी अपचार (अपथ्य सेवन) से, चिकित्सा न करनेसे और दोषोकी अधिकतासे असाध्य हो जाते है। साध्य कुष्ठोंकी उपेक्षा (चिकित्सा न) करनेसे त्वचा-रक्त-मास और लसीकाका कोथ (सडान)—क्लेद (गीलापन) और अधिक स्वेदके कारण क्रिमि पडते हैं। वे कृमि त्वचा आदिको भक्षण करते हुए तथा वातादि दोष उनको फिर दूषित करते हुए ये उपद्रव-लक्षण उत्पन्न करते हैं। वायु श्याव या अरुण वर्ण, कडापन, रूक्षता, शूल, सूखना, सूई

---

१ "स्पर्शहानि स्वेदनत्वमीपत्कण्डूश्च जायते। वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते॥ त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्याभिप्रवर्तनम्। कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसश्रिते॥ बाहुल्य वक्त्रशोषश्च कार्कश्य पिडकोद्गम। तोद॰ स्फोट स्थिरत्व च कुष्ठे मासससमाश्रिते। दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ क्रिमयस्तथा। गात्राणा भेदन चापि कुष्ठे मेद समाश्रिते॥ नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च क्रिमिसभव। भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थि मज्जासमाश्रिते॥ कौण्य गतिक्षयोऽङ्गाना सभेद. क्षतसर्पणम्। शुक्रस्थानगते लिङ्ग प्रागुक्तानि तथैव च॥ स्त्री-पुसयो कुष्ठदोषाद्दुष्टशोणित-शुक्रयो। यदपत्य तयोर्जात ज्ञेय तदपि कुष्ठितम्॥" (सु नि अ ५)। "विपूयको दुर्गन्धता। बाहुल्य स्थूलमण्डलता। स्फोट त्वच स्फुटनम्। स्थिरत्व कठिनमण्डलता। उपदेहो मलवृद्धि। कुष्ठित सजातकुष्ठम्। यदा स्त्री-पुसयो कुष्ठिनोर्बीजमुपहत स्यात्तदा तयो प्रजा नोत्पद्यते, उपतप्तमात्र-बीजयो पुन प्रजोपताप उत्पद्यते।" (ड)। "त्वचीति त्वक्स्थे रसस्थिते इत्यर्थ। कौण्य करभङ्ग।" (गयदास.)। "तत्र त्वचि स्थिते कुष्ठे तोद-वैवर्ण्य-रूक्षता। स्वेद-स्वाप-श्वयथव शोणिते, पिशिते पुन॥ पाणि-पादाश्रिता स्फोटा क्लेद सन्धिषु चाधिकम्। कौण्य गतिक्षयोऽङ्गाना दलन स्याच्च मेदसि॥ नासाभङ्गोऽस्थि-मज्जस्थे नेत्रराग स्वरक्षय। क्षते च कृमय, शुक्रे स्वदारापत्यबाधनम्। यथापूर्वं च सर्वाणि स्युर्लिङ्गान्यसृगादिषु।" (अ. स. नि. अ. १४)।

चुभने सी वेदना, कंप, रोमहर्ष, संकोच, थकावट, स्तब्धता, स्पर्शाज्ञान तथा भेदनवत् और भञ्जवत् पीडा ये लक्षण उत्पन्न करता है। पित्त दाह, स्वेद, गीलापन, सड़ान, स्राव, पाक और ललाई ये लक्षण उत्पन्न करता है। कफ श्वेतवर्ण, ठण्डापन, स्थिरता, गौरव, उभार, स्निग्धता और उपलेप ये लक्षण उत्पन्न करता है। क्रिमि त्वचा, मास, रक्त, लसीका, सिरा, स्नायु और तरुणास्थिको खाते हैं। इस अवस्थामे कुष्ठवालेको स्राव, अगभेद, शरीरावयवका अलग होकर गिरना, तृषा, ज्वर, अतिसार, दाह, दुर्बलता, अरुचि और अन्न न पचना ये उपद्रव होते हैं। इस प्रकारके उपद्रवोंसे पीड़ित रोगीको असाध्य जानना चाहिए। जो वैद्य या रोगी यह रोग सुखसाध्य है यह मान कर उसकी उपेक्षा करता है वह रोग कुछ समयके अनन्तर असाध्यावस्थाको प्राप्त होकर रोगीको मारता है, परन्तु जो वैद्य पूर्वरूपावस्थामे अथवा तरुणावस्थामे रोगीकी चिकित्सा करता है वह रोगी सुख-रोगमुक्ति-आरोग्यको प्राप्त होता है। जैसे तरुण वृक्ष अल्प यत्नसे काटा जा सकता है परन्तु वह अति वढने पर अति प्रयत्नसे काटा जा सकता है, इसी प्रकार तरुण-नया रोग सुखसे अच्छा किया जा सकता है, परन्तु वही रोग वढने पर कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाता है। वात-कफाधिक और एकदोषाधिक कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य नही होता है, परन्तु कफ-पित्ताधिक या वात-पित्ताधिक कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य होता है (च.)। यदि रोगी जितेन्द्रिय-पथ्य पालनेवाला हो तो त्वचा-रक्त और मासगत कुष्ठ साध्य होता है। मेदोगत कुष्ठ याप्य तथा अस्थि, मज्जा और शुक्रगत कुष्ठ असाध्य होता है[1]। जिस कुष्टमे त्वचा फट गई हो, जिससे स्राव होता हो, जिस रोगीकी ऑखें लाल हों तथा स्वर वैठ गया हो और जिसको वमनादि पञ्चकर्म चिकित्सासे लाभ नही होता हो, वह कुष्ठवाला मरता है। (सु.)। जो कुष्ठ पित्तज, द्वन्द्वज तथा रक्त और मासगत हो वह कृच्छ्रसाध्य होता है। जो कुष्ठ कफ-वाताधिक, त्वग्गत और एक दोपज हो वह साध्य होता है[1] (वा.)।

---

१ "तत्र यदसाध्य तदसाध्यता नातिवर्तते, साध्य पुन किंचित् साध्यतामतिवर्तते कदाचिद-पचारात्। साध्यानि हि पट् काकणकवर्ज्यान्यचिकित्स्यमानान्यपचारतो वा दोषैरभिष्यन्दमानान्य-साध्यतामुपयान्ति। साध्यानामपि ह्युपेक्ष्यमाणाना त्वङ्मासशोणितलसीका-कोथ-क्लेद-सस्वेदजा क्रिमयोऽभिमूर्च्छन्ति, ते भक्षयन्तस्त्वगादीन् दोपान् पुनर्दूषयन्त इमानुपद्रवान् पृथक् पृथगुत्पाद-यन्ति—तत्र वात श्यावारुणवर्णं परुपतामपि च रौक्ष्य-शूल-शोप-तोद-वेपथु-हर्ष-सङ्कोचायास-स्तम्भ-सुप्ति-भेद-भङ्गान्, पित्त दाह स्वेद-क्लेद-कोथ-स्राव-पाक रागान्, श्लेष्मा त्वस्य श्वैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरवोत्सेधोपस्नेहोपलेपान्, क्रिमयस्तु त्वगादीश्चतुर सिरा स्नायूश्चास्थीन्यपि च तरुणान्याददते। अस्या चैवावस्थायामुपद्रवा कुष्ठिन स्पृशन्ति, तद्यथा—प्रस्रवणमङ्गभेद पतना-न्यङ्गावयवाना तृष्णा-ज्वरातीसार-दाह-दौर्वल्यारोचका-विपाकाश्च, तथाविधमसाध्य विद्यादिति। साध्योऽयमिति य पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते। स किंचित्कालमासाद्य मृत एवाववुध्यते॥ यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेपज कुरुते सम्यक् स चिर सुखमश्नुते॥ यथा ह्यल्पेन यत्नेन छिद्यते

कुष्ठ आदि रोगोंका संक्रमणशीलत्व—

वार-वार किये हुए शरीरस्पर्श, नि श्वासग्रहण, साथ भोजन करना, एक शय्या और आसन पर सोना-बैठना, रोगीके धारण किए हुए वस्त्र-पुष्पमाला और लेपका धारण करना—इन कारणोंसे कुष्ठ, ज्वर, राजयक्ष्मा, नेत्राभिष्यन्द तथा मसूरिका-शीतला आदि संक्रामक-औपसर्गिक रोग एक मनुष्यके शरीरसे दूसरे मनुष्यके शरीरमें आवेश करते हैं[1]।

किलास(श्वित्र) का वर्णन—

दारुण, अरुण (वारुण) और **श्वित्र** ये तीन **किलास**के पर्याय नाम हैं। किलास-श्वित्र भी कुष्ठ (त्वग्रोग-त्वग्दोष-त्वचाके रोग) का ही एक भेद है। कुष्ठ और किलासमें अन्तर-भेद यह है कि—किलास त्वचामें ही होता है और उससे स्राव नही होता है (किलासमें क्लेद और कृमि भी नही होते हैं)। यह प्राय त्रिदोपके प्रकोपसे होता है (कदाचित् एकदोपज या द्विदोपज भी होता है)। वातसे जो किलास होता है वह मण्डलाकार (गोलाकार), अरुण वर्णका, कर्कश तथा घर्पण करनेसे रजको छोडनेवाला होता है (घिसनेसे उससे रज-धूली सा पदार्थ गिरता है), पित्तसे जो किलास होता है वह लाल कमलके पत्र जैसी झलकवाला और दाहयुक्त होता है तथा कफसे

तरुणस्तरु । स एवातिप्रवृद्धस्तु छिद्यतेऽतिप्रयत्नत ॥ एवमेव विकारोऽपि तरुण साध्यते सुखम्। विवृद्ध साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते ॥" (च नि अ ५)। "सर्वलिङ्गैर्युक्त कुष्ठ मतिमान् विवर्जयेदबलम्। तृष्णा-दाहपरीत शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ॥ वातकफप्रवल यच्चदेकदोपोल्बण न तत् कृच्छ्रम्। कफपित्त-वातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि ॥" (च चि अ ७)। "साध्यं त्वग्रक्तमासस्थ वात-श्लेष्माधिक च यत्। मेदसि द्वन्द्वज याप्य, वर्ज्यं मज्जास्थिसश्रितम्॥ क्रिमि-तृड्-दाह-मन्दाग्निसयुक्त यत्त्रिदोपजम्। (मा नि अ ४९)।"। "कुष्ठमात्मवत साध्य त्वग्रक्त-पिशिताश्रितम्। मेदोगत भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम् ॥ तत्रादिवलप्रवृत्त पौण्डरीक काकण चासाध्यम्।" (सु नि अ ५)। "प्रभिन्न प्रस्रुताङ्ग च रक्तनेत्र हतस्वरम् ॥ पञ्चकर्मगुणातीत कुष्ठ हन्तीह मानवम् ॥" (सु सू अ ३३)। "पञ्चकर्मगुणातीतमिति। पञ्चकर्माणि वमनादीनि, तेषा गुणा फलानि। तान्यतीतम्।" (श्री क)। "सर्वदोपोल्बण त्यजेत्। रिष्टोक्त यच्च यच्चास्थि-मज्ज-शुक्रसमाश्रयम् ॥ याप्य मेदोगत, कृच्छ्र पित्ताद्द्वन्द्वास्र-मासगम्। अकृच्छ्र कफावाताढ्य त्वक्स्थमेकमल च यत्।" (अ स नि. अ १४)।

१ "प्रसङ्गाद्गात्रसस्पर्शान्नि श्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्र-माल्यानुलेपनात् ॥ कुष्ठ ज्वरश्च शोपश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥" (सु नि अ ५) "प्रसङ्गादिति प्रसङ्गेन अभ्यासेन कृतात्, पुन पुन कृतादित्यर्थ। इद विशेषण गात्रसस्पर्शादिभि. सर्वै सह प्रत्येक सबध्यते। सहशय्यासनात् एकशय्यासनस्थिते। माल्य पुष्पम्। औपसर्गिकरोगा शीतलिकादय। सक्रामन्ति आविशन्ति।" (ड)। "स्पर्शैकाहार-शय्यादिसेवनात् प्रायशो गदा। सर्वे सचारिणो नेत्र-त्वग्विकारा विशेषत ॥" (अ स नि अ. १४)।

जो किलास होता है वह श्वेतवर्णका, स्निग्ध, स्थूल त्वचावाला और कण्डूयुक्त होता है। किलास जब रक्तमें आश्रित दोषसे होता है तब (किंचित्) रक्त वर्णका, जब मांसमें आश्रित दोषसे होता है तब (किंचित्) ताम्र वर्णका और जब मेदमें आश्रित दोषसे होता है तब (बिल्कुल) श्वेत वर्णका होता है। रक्ताश्रितसे मांसाश्रित और मांसाश्रितसे मेदःश्रित श्वित्र उत्तरोत्तर गुरु=कृच्छ्रसाध्य होता है। जिस श्वित्रमें रोम श्वेत या लाल न हो गये हो, जो पतला, पाण्डुवर्णका, थोडे समयसे उत्पन्न हुआ हो, नया, मध्यमें किंचित् उभरा हुआ, जिसके मण्डल परस्परमें एक-दूसरेसे मिले हुए न हों तथा जो अग्निसे जलनेसे न हुआ हो वह साध्य होता है। इनके विपरीत जो संबद्ध (परस्पर मिले हुए) मण्डलवाला हो, होंठ-हाथ-पाँवके तले और गुह्यस्थानमें उत्पन्न हुआ हो, अग्निसे जलनेसे (या व्रणसे) उत्पन्न हुआ हो, दीर्घकाल (बहुत वर्षों)से उत्पन्न हुआ हो और जिसमें रोम लाल या श्वेत हो गये हों वह असाध्य होता है। अग्निसे जलनेसे और व्रणके मिथ्योपचारसे भी श्वित्र होता है। श्वित्रको भाषामें **सफेद कोढ़** या **सफेद दाग** कहते हैं।

---

१ "दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः। विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥ दोषे रक्ताश्रिते रक्तं, ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं, मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ यत् परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति ॥ अरक्तलोम तनु यत् पाण्डु नातिचिरोत्थितम्। मध्यावकाशे चोच्छूनं श्वित्रं तत् साध्यमुच्यते ॥" (च. चि. अ. ७)। "प्रायःशब्देनैकदोषं द्विदोषं च भवति। दोषे इत्यादिनोक्तं त्रैविध्यं विभजति। सुश्रुते तु "त्वग्गतमेव किलासं" (सु. नि. अ. ५) इत्युक्तं, तच्च न कुष्ठवद्रक्तादिगत(समस्त)-कुष्ठलक्षणकारकं श्वित्रमित्यभिप्रायेणोक्तम्, इह तु यद्रक्ताद्याश्रयित्वं श्वित्रस्योच्यते, तद्रक्तादि-दोषमात्राभिप्रायेण, न तु रक्तादिगतसमस्तकुष्ठलक्षणकारितया, तेनात्रापि त्वङ्मात्रविकृतिकारकत्वं श्वित्रस्य सम्मतमेवेति न विरोधः। गुर्विति अनुपक्रमम्।" (च. द.)। "किलासमपि कुष्ठ-विकल्पमेव। तत्त्रिविधं—वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा चेति। कुष्ठ-किलासयोरन्तरं—त्वग्गतमेव किलास-मपरिस्रावि च। तद्वातेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च, पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च। तेषु संबद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धजं च।" (सु. नि. अ. ५)। "परिध्वंसीति घृष्टं सद्रजो मुञ्चतीत्यर्थः। अन्ते जातं ओष्ठ-पाणि-पाद-गुह्यजम्।" (ड.)। "कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं चारुणं च तत्। निर्दिष्टमपरि-स्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ वाताद्रूक्षारुणं, पित्तात् ताम्रं कमलपत्रवत्। सदाहं रोमविध्वंसि, कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥ सकण्डु च, क्रमाद्रक्त-मांस-मेदःसु चादिशेत्। वर्णेनैवेदृगुभयं, कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ अशुक्लरोम बहलमसंसृष्टं मिथो नवम्। अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं, वर्ज्यमतो-ऽन्यथा ॥ गुह्य-पाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्। वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥" (अ. सं. नि. अ. १४)। "श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा। तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम्।" (इति मधुकोशव्याख्यायामुद्धृतं भोजवचनम्)।

शीतपित्तोदर्द-कोठ-विस्फोट-मसूरिका-रोमान्तिका-निदानाध्याय–चतुर्दश।

शीतपित्त और उदर्द रोगकी सम्प्राप्ति—

ठण्ढी हवा के सेवनसे प्रकुपित कफ और वायु अपने हेतुओंके सेवनसे प्रकुपित पित्तके साथ मिलकर बाहर त्वचामें और भीतर रक्तादि धातुओंमें फैलकर **शीतपित्त** और **उदर्द** रोगको उत्पन्न करते हैं[1]।

शीतपित्त और उदर्दके पूर्वरूप—

प्यास अधिक लगना, अरुचि, जी मिचलाना, शरीरका अवसाद, अंगोंमें भारीपन और आँखें लाल होना ये शीतपित्त और उदर्दके पूर्वरूप हैं[2]।

शीतपित्त और उदर्दके लक्षण—

त्वचा पर वरटी (भिड़-बर्र-ततैया) के काटनेसे उत्पन्न शोथके सदृश जो शोथ होता है उसको **उदर्द** या **शीत-पित्त** कहते हैं। इस व्याधिमें खुजली, सूई चुभने सी वेदना, वमन, ज्वर और अन्नका विदाह होता है। शीतपित्तमें वायुकी और उदर्दमें कफकी अधिकता रहती है। (कई आचार्य) उत्सङ्ग (मध्यमें निम्नता–नीचाई) और कण्डुयुक्त, रक्तवर्णके जो मण्डल (चकत्ते-ददोड़े) शिशिर ऋतुमें कफके प्रकोपसे होते हैं उनको **उदर्द** कहते हैं[3]।

उत्कोठ और कोठके लक्षण—

वमनके असम्यग्योग-मिथ्यायोगसे तथा पित्त, कफ और अन्नके उदीर्ण वेगको रोकनेसे त्वचापर कण्डुयुक्त लाल रंगके जो अनेक मण्डल (चकत्ते-ददोड़े) निकलते हैं उनको **कोठ** कहते हैं। यदि ये मण्डल बार-बार निकलें तो उनको **उत्कोठ** कहा जाता है[4]।

---

१ "शीतमारुतसम्पर्शात् प्रदुष्टौ कफ-मारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥" (मा नि अ ५०)। "पित्तेन सह सम्भूयेति स्वहेतूपचितेन पित्तेन, सम्भूय मिलित्वा। बहिरन्तरिति बहिः त्वचि, अन्तः शोणितादौ।" (श्री क)। २ "पिपासारुचि हृल्लास-देहसादाङ्ग-गौरवम्। रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥" (मा. नि अ ५०)। ३ "वरटीदष्टसंस्थानः शोथः सञ्जायते बहिः। सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दि-ज्वर-विदाहवान् ॥ उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे। वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥ सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः। शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥" (मा नि अ ५०)। ४ "असम्यग्वमनोदीर्णपित्त-श्लेष्मान्ननिग्रहैः। मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ॥ उत्कोठः सानुबन्धश्च (सोऽनुबद्धस्तु–पा०) कोठ इत्यभिधीयते।" (अ स नि अ ३६)। "कोठो निरनुबन्धः, तथा चोक्तं–"क्षणिकोत्पाद-विनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः।" इति। सानुबन्धः उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनः पुनर्भवनेन।" (श्री कं.)।

विस्फोटकके हेतु और संप्राप्ति—

कटु (चरपरे)-अम्ल-उष्णवीर्य-विदाही-रूक्ष और क्षार पदार्थोंका भोजन, अपक्व (अध कच्चे-पक्के) अन्नका भोजन, अध्यशन, धूपका सेवन और ऋतुओंका विपर्यास—इन कारणोंसे प्रकुपित वातादि दोष रक्त-मास और अस्थि—इन धातुओंको दूषित कर तथा त्वचामें स्थानसंश्रय करके **विस्फोटक** उत्पन्न करते हैं। विस्फोटकके पूर्वरूपमें ज्वर होता है[1]।

विस्फोटकका सामान्य लक्षण—

रक्त और पित्तके प्रकोपसे शरीरके किसी एक प्रदेशमें या समग्र शरीरमें ज्वर-दाह और तृषाके साथ जो आगसे जलनेसे होनेवाले सदृश फफोलेके फफोले निकलें उनको **विस्फोटक** कहते हैं[2]।

दोषभेदसे विस्फोटकके लक्षण—

वातज विस्फोटकमें शिरमें पीडा, अधिक शूल, ज्वर, तृषा, सन्धिस्थानोंमें भेदवत् (टूटने सी) पीडा तथा फोडोंका वर्ण कालाई लिए होना ये लक्षण होते हैं। पित्तज विस्फोटकमें ज्वर, दाह, पीडा, स्राव, पकना, तृषा तथा फोडोंका वर्ण पीला या लाल होना ये लक्षण होते हैं। कफज विस्फोटकमें उलटी, अरुचि, जडता, खुजली, कठिनता, पाण्डुवर्ण, वेदना अल्प होना और देरीमें पकना ये लक्षण होते हैं। वातपित्तज विस्फोटकमें तीव्र पीडा होती है। कफवातज विस्फोटकमें खुजली, जडता और भारीपन ये लक्षण होते हैं। कफ-पित्तज विस्फोटकमें खुजली, दाह, ज्वर और उलटी ये लक्षण होते हैं। सन्निपातज विस्फोटक मध्यमें नीचा और सिरे पर ऊँचा, कठिन, कम पकनेवाला तथा दाह, ललाई, तृषा, इन्द्रियोंका मोह, वमन, मूर्च्छा, वेदना, ज्वर, प्रलाप, कम्प और तन्द्रा इन लक्षणोंसे युक्त होता है। सान्निपातिक विस्फोटक असाध्य है। रक्त

---

१ "कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च । तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषा पवनादयस्तु ॥ त्वचमाश्रित्य ते रक्त-मांसास्थीनि प्रदूष्य च । घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वाञ्ज्वरपुर सरान् ॥" (मा. नि अ ५३)। २ "अग्निदग्धनिभा स्फोटाः सज्वरा रक्त-पित्तजा । क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृता ॥" (सु नि. अ १३)। "विस्फोटका· सर्वशरीरगास्तु स्फोटा सदाहा ज्वर-तर्षयुक्ता ।" (च. चि. अ १२)। "तत· कष्टतरा स्फोटा विस्फोटाख्या महारुजा ।" (अ. स उ अ ३६)। "ततो मसूरिकाया । विस्फोटकस्य पित्तजत्वमाह भोज·—"पित्तं प्रकुपित स्थानात्त्वच वाह्या समाश्रितम् । करोति त्वग्गतान् स्फोटानग्निदग्धोपमान् वहून् ॥ सर्वदेहाश्रयाजन्तोर्ज्वर-दाह-समन्वितान् । नानाप्रकारसस्थानान् विद्याद्विस्फोटकान् नृप ॥" जातूकर्णेऽपि "ऊषा-चोष-परीदाह-ज्वरा-ङ्गसदनान्विता । जायन्ते पित्तवैषम्याद्विस्फोटा सर्वदेहगा ॥" (इन्दुः)।

और पित्तके प्रकोपसे होनेवाले रक्तज विस्फोटक गुञ्जा और प्रवालके सदृश रक्तवर्णके होते हैं। ये असाध्य हैं[1]।

मसूरिकाके हेतु और संप्राप्ति—

कटु (चरपरे)-अम्ल-लवण-क्षार-परस्पर विरुद्ध पदार्थ—एक वार खाया हुआ अन्न पचन होनेके पहले दूसरी वार खाना-विगड़ा हुआ अन्न-सेमके बीज-विगड़ा हुआ शाक—इनका खाना, दूषित वायु और जलका सेवन तथा देश पर शनि आदि क्रूर ग्रहकी दृष्टि-इन कारणोंसे प्रकुपित वातादि दोष दुष्ट रक्तके साथ मिल कर शरीरमें तथा मुँहके भीतर मसूरकी आकृतिकी, दाह ज्वर और पीडायुक्त, ताम्र-पीत मसूरके रंगकी पिड़काएँ उत्पन्न करते है, उनको **मसूरिका** कहते हैं[1]। मसूरिकाको भाषामें **शीतला, चेचक** या **माता** कहते हैं[2]।

मसूरिकाके पूर्वरूप—

ज्वर, शरीरमें खुजली, शरीर टूटना, बेचैनी, चक्कर आना, त्वचामें शोथ, शरीरका वर्ण विकृत (प्राय लाल) होना, आँखें लाल होना, अरुचि, रोमहर्ष, नेत्ररोग और प्रतिश्याय ये मसूरिकाके पूर्वरूप हैं[3]।

---

१ "शिरोरुक्-शूलभूयिष्ठ ज्वर-तृट्-पर्वभेदनम्। सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ज्वर-दाह-रुजा-स्राव-पाक-तृष्णाभिरन्वितम्। पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ छर्द्यरोचक जाड्यानि कण्डू-काठिन्य-पाण्डुता। अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोट कफात्मक ॥ वात-पित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम्। कण्डूस्तैमित्य-गुरुभिर्जानीयात् कफ वातिकम् ॥ कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफ पैत्तिक। मध्ये निम्नो-न्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥ दाह-राग-तृषा-मोह-च्छर्दि-मूर्च्छा-रुजा ज्वरा। प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्य स्यात्त्रिदोषज ॥ रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जा-विद्रुमसन्निभा। वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना। न ते सिद्धि समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि।" (मा नि अ ५३)। २ "या सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिका पित्त-कफात् प्रदिष्टा।" (च चि अ १२)। "दाह-ज्वर-रुजावन्त-स्ताम्रा स्फोटा सपीतका। गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिका ॥" (सु नि अ. १३)। "गात्रेष्वन्तश्च वक्त्रस्य दाह-ज्वर-रुजान्विता। मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्सञ्ज्ञा पिडका घना.।" (अ स. उ अ ३६)। "कट्वम्ल-लवण-क्षार-विरुद्धाध्यशनाशने। दुष्टनिष्पाव-शाकाद्य प्रदुष्टपवनोदकै ॥ क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषा समुद्धता। जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गता। मसूराकृतिसंस्थाना पिडका स्युर्मसूरिका।" (मा -नि. अ ५४)। ३ "तासा पूर्वं ज्वर कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रम। त्वचि शोथ सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ॥" (मा. नि अ ५४)। "ज्वरास्यशोषाङ्गविमर्द-कास-सन्धिश्लथत्वारुचि-रोमहर्षा। शिरोर्ति-नेत्रामय-पीनसाश्च मसूरिकाणां प्रभवन्ति चाग्रे ॥" इतीन्दुव्याख्यायामुद्धृत तन्त्रान्तरवचनम्।

वातज मसूरिकाके लक्षण—

वातज मसूरिकामें श्याव या अरुण वर्णकी, रूक्ष, तीव्र वेदनायुक्त, कठिन और देरीसे पकनेवाली पिडकाएँ निकलती हैं तथा सन्धि और अस्थिओंमें टूटने सी पीडा, खाँसी, शरीरका कम्प, बेचैनी। विना परिश्रमके थकावट, तालु–होंठ और जीभका सूखना, तृषा तथा अरुचि ये लक्षण होते हैं[1]।

पित्तज और रक्तज मसूरिकाके लक्षण—

पित्तज मसूरिकामें लाल-पीले या काले रंगकी, दाहयुक्त, तीव्र वेदनावाली और शीघ्र पकनेवाली पिडकाएँ निकलना, मल पतला आना, अंगोंमें मर्दनवत् पीडा, दाह, तृषा, अरुचि, मुँह पकना, आँखें लाल होना और तीव्र ज्वर आना ये लक्षण होते हैं। रक्तज मसूरिकामें पित्तज मसूरिकाके सदृश लक्षण होते हैं[2]।

कफज मसूरिकाके लक्षण—

कफज मसूरिकामें श्वेत वर्णकी, स्निग्ध, अति स्थूल, कण्डूयुक्त, मन्द वेदनावाली और देरीसे पकनेवाली पिडकाएँ निकलती हैं तथा लालाका अधिक स्राव, जडता, सिरकी पीडा, शरीरका भारीपन, मिचली, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य ये लक्षण होते हैं।[3]

सन्निपातज मसूरिकाके लक्षण—

सन्निपातज मसूरिकामें नील वर्णकी, चिपटी, विस्तीर्ण–फैली हुई, मध्यमें बैठी हुई, अधिक पीडावाली, देरीसे पकनेवाली, दुर्गन्धि स्राववाली अनेक पिडकाएँ होती हैं, तथा कण्ठ रुकना, अरुचि, स्तब्धता, प्रलाप और बेचैनी ये लक्षण होते हैं।[4]

धातुगत मसूरिकाओंके लक्षण—

त्वग्गत मसूरिकाकी पिडकाएँ पानीके बुलबुले जैसी और अल्प दोषवाली होती हैं। ये फूटनेपर उनसे पानी जैसा स्राव होता है। रक्तगत मसूरिकाकी पिडकाएँ लाल रंगकी, शीघ्र पकनेवाली, पतली त्वचावाली और साध्य होती हैं। ये फूटने पर उनसे किञ्चित्

---

१ "स्फोटा श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विता। कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवा॥ सन्ध्यस्थिपर्वणा भेद कास कम्पोऽरति क्लम। शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वाना तृष्णा चारुचिसंयुता॥" (मा नि अ ५४)। २ "रक्ता पीताऽसिता स्फोटा सदाहास्तीव्रवेदना। भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवा॥ विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा। मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्र सुदारुण॥" (मा नि अ ५४)। रक्तजाया भवन्त्येते विकारा पित्तलक्षणा।
३ "कफप्रसेक स्तैमित्य शिरोरुग्गात्रगौरवम्। हृल्लास. सारुचिर्निद्रा तन्द्राऽऽलस्यसमन्विता॥ श्वेता स्निग्धा भृश स्थूला कण्डुरा मन्दवेदना। मसूरिका कफोत्थाश्च चिरपाका प्रकीर्तिता॥" (मा नि अ ५४)। ४ "नीलाश्चिपिट-विस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुज। चिरपाका. पूतिस्रावा प्रभूता सर्वदोषजा॥ कण्ठरोधारुचि स्तम्भ-प्रलापारतिसंयुता.। दुश्चिकित्स्या समुद्दिष्टा पिडकाश्चर्मसंश्रिता॥" (मा. नि. अ. ५४)।

दुष्ट रक्तका स्राव होता है। मांसगत मसूरिकाकी पिडकाएँ कठिन, स्निग्ध, देरीसे पकने-वाली और घन-स्थूल त्वचावाली होती हैं। उनमें शरीरमें शूल, तृषा, खुजली, ज्वर और बेचैनी ये लक्षण होते हैं। मेदोगत मसूरिकाकी पिडकाएं मण्डलाकार-गोलाकार, मृदु, कुछ उभरी हुई, स्थूल, स्निग्ध, अल्प वेदनावाली और घोर (अति) ज्वरयुक्त होती हैं। उनमें रोगीको इन्द्रियोंका संमोह, बेचैनी और संताप ये लक्षण होते हैं। इनसे पीडित रोगी कोई ही बचता है। अस्थि और मज्जागत मसूरिकाकी पिडकाएँ छोटी, त्वचाके समान वर्णवाली, रूक्ष, चिपटी तथा कुछ उभरी हुई होती हैं। उनमें अति संमोह (इन्द्रियमोह), वेदना, बेचैनी, मर्मस्थानोंमें कटने जैसी पीडा तथा अस्थि-योंमें भौंरें काटते हों ऐसी वेदना होती है। शुक्रगत मसूरिकाकी पिडकाएँ पकी सी, स्निग्ध, सूक्ष्म तथा अत्यन्त वेदनायुक्त होती हैं। उनमें जडता, बेचैनी, इन्द्रियोंका मोह (अपने विषयोंमें अयथावत् प्रवृत्ति), दाह और उन्माद सा रहना—ये लक्षण होते हैं। ये असाध्य होती हैं। इन मसूरिकाओंमें दोषोंके लक्षण देखकर इनके **वातज, पित्तज, कफज,** द्वन्द्वज और सान्निपातिक भेद जानने चाहिए[1]।

मसूरिकाके साध्यासाध्य लक्षण—

त्वग्गत, रक्तज, पित्तज, श्लेष्मज और श्लेष्मपित्तज मसूरिका साध्य होती है। वातज, वात-पित्तज और श्लेष्म-वातज मसूरिका कृच्छ्रसाध्य होती है। इसलिए उनकी चिकित्सा अति यत्नसे करनी चाहिए। सन्निपातज मसूरिका असाध्य होती है। सन्नि-पातज मसूरिकामें दोषभेदसे कई पिडकाएँ प्रवालसदृश, कई जामुनके सदृश, कई लोहेकी जालीके सदृश और कई अलसीके फल-बीजके सदृश नानाविध वर्णकी होती है। जिस मसूरिकावालेको खाँसी, हिक्का, प्रमोह, तीव्र ज्वर, प्रलाप, बेचैनी, मूर्च्छा, तृषा, दाह, निद्रा, मुँह नासिका और नेत्रसे रक्तका स्राव होना तथा कण्ठमें घुरघुराहट और शरीरमें पीडाके साथ अति श्वास हो वह असाध्य होता है। जिस मसूरिकावालेका नाकसे ही अति श्वास चलता

---

१ "तोयबुद्बुदसङ्काशास्त्वग्गतास्तु मसूरिका। स्वल्पदोषा प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च॥ रक्तस्था लोहिताकारा शीघ्रपाकास्तनुत्वच। साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च॥ मांसस्था कठिना स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वच। गात्रशूल-तृषा-कण्डू-ज्वरारतिसमन्विता॥ मेदोजा मण्डलाकारा मृदव किञ्चिदुन्नता। घोरज्वरपरीताश्च स्थूला स्निग्धा सवेदना॥ समोहारति-सन्तापा कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत्। क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटा किञ्चिदुन्नता॥ मज्जोत्था भृशसमोह-वेदनारतिसंयुता। छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति च॥ भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वत। पक्काभा पिडका स्निग्धा सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदना॥ स्तैमित्यारति-समोह-दाहोन्मादसमन्विता॥ शुक्रजाया मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि॥ निर्दिष्ट केवल चिह्न दृश्यते न तु जीवितम्॥ दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणै॥" (मा नि. अ ५४)।

हो (वह मुँहसे श्वास न ले सकता हो) वह असाध्य होता है। जिन मसूरिकाओंके अन्तमें कोहनी-मणिवन्ध (कलाई) तथा कन्धेमें दारुण शोथ हो वह असाध्य होता है[1]।

रोमान्तिकाका लक्षण—

पित्त और कफके प्रकोपसे सारे शरीरमें क्षुद्र प्रमाणकी तथा ज्वर, दाह, तृषा, खुजली, अरुचि और लालास्राव इन लक्षणोंसे युक्त जो पिडकाएं निकलती हैं उनको **रोमान्तिका** कहते हैं[2]।

क्षुद्ररोगनिदानाध्याय-पञ्चदश ।

अजगल्लिकाका लक्षण—

स्निग्ध स्पर्शवाली, त्वचाके समान वर्णवाली, गाँठ युक्त (गाँठ सदृश), पीडारहित और मूगके बराबर कफ तथा वातसे बालकोंको जो पिडका होती है उसको **अजगल्लिका** कहते हैं[3]।

यवप्रख्याका लक्षण—

कफ तथा वातके प्रकोपसे मासमें आश्रय करके जौके आकारकी, कठिन और गाँठदार जो पिडका होती है उसको **यवप्रख्या** कहते हैं[4]।

---

१ "त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजा श्लेष्मजास्तथा। श्लेष्म-पित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिका ॥ वातजा वात-पित्तोत्था श्लेष्म-वातकृताश्च या । कृच्छ्रसाध्यतमास्तस्माद्यत्नादेना उपाचरेत् ॥ असाध्या सन्निपातोत्थास्तासा वक्ष्यामि लक्षणम्। प्रवालसदृशा काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमा ॥ लोहजालसमा काश्चिदतसीफलसन्निभा. । आसा बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदत ॥ कासो हिक्का प्रमोहश्च ज्वरस्तीव्र सुदारुण । प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता॥ मुखेन प्रस्रवेद्रक्त तथा घ्राणेन चक्षुषा। कण्ठे घुर्घुरक कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरै । लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम् ॥ मसूरिकाभिभूतो यो भृश घ्राणेन नि श्वसेत् । स भृश त्यजति प्राणास्तृषार्तो वायुदूषित ॥ मसूरिकान्ते शोथ स्यात् कूर्परे मणिबन्धके। तथाऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्य सुदारुण ॥" (मा. नि. अ. ५४)।

२ "क्षुद्रप्रमाणा पिटका शरीरे सर्वाङ्गगा सज्वर-दाह-तृष्णा· । कण्डूयुता. सारुचिस-प्रसेका रोमान्तिका पित्त-कफात् प्रदिष्टा ॥" (च चि. अ. १२)। "रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्य कफ-पित्तजा । कासारोचकसयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विका ॥" (मा नि अ ५४)।

३ "स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा। कफ-वातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका॥" (सु नि अ. १३)। ×। "× पिडका कफ-वाताभ्या ×।" (अ. हृ. उ अ. ३१)।

४ "यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससश्रिता। पिडका श्लेष्म-वाताभ्या यवप्रख्येति सोच्यते॥" (सु. नि अ. १३)। "यवप्रख्या यवाकारा ताभ्या मासाश्रिता घना।" (अ. हृ. उ. अ. ३१)।

अन्धालजीका लक्षण—

कफ और वातके प्रकोपसे मोटी-स्थूल, मुखरहित, उन्नत-उभरी हुई, मण्डलाकार और अल्पपूययुक्त जो पिड़का होती है उसको **अन्धालजी (अलजी-वा.)** कहते हैं।

विवृताका लक्षण—

पित्तसे चौड़े मुँहवाली, अधिक दाहयुत, गोल आकारकी तथा पके हुए गूलरके फल-सदृश जो पिडका होती है उसको **विवृता** कहते हैं[१]।

कच्छपिकाका लक्षण—

कफ और वातसे जो गॉठदार, कठिन और कछुएकी पीठ जैसी उभरी हुई पॉच या छ· पिडकाएँ होती हैं उनको कच्छपिका कहते हैं[२]।

वल्मीक का लक्षण—

कफ और पित्तसे (सन्निपातसे—वा.) हाथ-पॉवके तलोमे, सन्धिस्थानमें-ग्रीवामे या ग्रीवाके ऊपरके प्रदेश(ऊर्ध्वजत्रु)मे बहुत शिखर और ऊँचाईके कारण वॉबी जैसी दिखनेवाली, धीरे-धीरे बढनेवाली तथा सूई चुभने सी वेदना-क्लेद-दाह तथा खुजलीयुक्त मुखवाली जो ग्रन्थि होती है उसको **वल्मीक** कहते हैं[३]।

इन्द्रविद्धाके लक्षण—

वात और पित्तसे मध्यमे कमलगट्टेके सदृश पिडकाओंसे व्याप्त जो पिडका-होती है, उसको **इन्द्रविद्धा (विद्धा-वा.)** कहते हैं[४]।

"घनामवक्त्रा पिटकामुन्नता परिमण्डलाम् । अन्धालजीमल्पपूया ता विद्यात् कफ-वातजाम् ॥" (सु नि. अ १३)। "श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायु पिटका परिमण्डलाम् । दुष्टौ जन-यतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसकाशा विद्यादन्धालजी तु ताम् ।" (**गय-दासव्याख्यायामुद्धृतं भोजवचनम्**)। "अवक्त्रा चालजी वृत्ता स्तोकपूया घनोन्नता ।" (अ हृ उ. अ. ३१)।

१ "विवृतास्या महादाहा पक्वोदुम्बरसन्निभाम् । विवृतामिति ता विद्यात् पित्तोत्था परिमण्ड-लाम् ॥" (सु. नि अ. १३)। "पित्तेन पिटिका वृत्ता पक्वोदुम्बरसन्निभा । महादाहज्वरकरी विवृता विवृतानना ॥" (अ. हृ उ. अ ३१)। २ "ग्रन्थय पञ्च वा षड्वा दारुणा कच्छपोन्नता । कफानिलाभ्यामुद्भूता विद्यात्ता कच्छपीमिति ॥" (सु नि अ १३)। "ग्रन्थय पञ्च वा षड्वा कच्छपी कच्छपोन्नता ।" (अ हृ उ अ ३१)। ३ "पाणि-पादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि । ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनै समुपचीयते ॥ तोद-क्लेद-परीदाह-कण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृत । व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफ पित्तानिलोद्भव ॥" (सु नि. अ. १३)। "पाणि-पादतले सन्धौ जत्रूर्ध्वं चोपचीयते । वल्मीकवच्छनैर्ग्रन्थिस्तद्वद्बहुसूक्ष्मुखे । रुग्दाह-कण्डू-क्लेदाढ्यैर्वल्मीकोऽसौ समस्तज ॥" (अ. स उ. अ. ३६)। ४ "पद्मपुष्करवन्मध्ये पिड-काभि. समाचिताम् । इन्द्रविद्धा तु ता विद्याद्वातपित्तोत्थिता भिषक् ।" (सु नि. अ. २३)। "या पद्मकर्णिकाकारा पिटिका पिटिकाचिता । सा विद्धा कफ वाताभ्या" (अ. स उ. अ. ३६)।

गर्दभिकाका लक्षण—

वात और पित्तसे वृत्त-गोल, उभरा हुआ, कुछ रक्तवर्णका, पीडायुक्त और पिडका-ओंसे व्याप्त जो मण्डल होता है उसको **गर्दभिका** कहते हैं[1] ।

पनसिकाका लक्षण—

कानके ऊपर या चारो ओर अथवा पीठके ऊपर कफ और वातसे उग्र पीडावाली तथा कमलके कन्दके आकारकी जो पिडका होती है उसको **पनसिका** कहते हैं[2] ।

पाषाणगर्दभका लक्षण—

कफ और वायुसे हनुसन्धिमें अल्प पीडावाला और कठिन जो शोथ होता है उसको **पाषाणगर्दभ** कहते हैं[3] ।

जालगर्दभका लक्षण—

पित्तसे उत्पन्न, दाह और ज्वरयुक्त तथा पाकरहित जो पतला शोथ विसर्पके जैसे शरीर पर फैले उसको **जालगर्दभ** कहते हैं[4] ।

इरिवेल्लिकाका लक्षण—

सिरमें तीनों दोषों(सन्निपात)से गोल, उग्र पीडा और ज्वरवाली तथा सब दोषोंके लक्षणोंसे युक्त जो पिडका होती है उसको **इरिवेल्लिका** कहते हैं[5] ।

कक्षाका लक्षण—

कॉख-बगलके समीपके बाहु-पार्श्व और कन्धेके प्रदेशमें पित्तके प्रकोपसे वेदनायुक्त काले रंगके जो फफोले होते हैं उनको **कक्षा** कहते हैं[6] ।

---

१ "मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् । रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वात-पित्तजाम् ॥" (मा नि अ ५५) । "ताभ्यामेव च गर्दभी । मण्डला विपुलोत्सन्ना सरागपिडकाचिता ॥" (अ हृ उ अ ३१) । २ "कर्णौ परिसमन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक् । शालूकवत् पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्म-वातजाम् ("कर्णस्याभ्यन्तरे जाता पिटकामुग्रवेदनाम् । स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वात-कफोत्थिताम् ॥ "इति ताडपत्रपुस्तके पाठान्तरम्) ।" (सु नि अ १३) । "कर्णस्योर्ध्वं समन्ताद्वा पिटिका कठिनोग्ररुक् । शालूकाभा पनसिका" (अ स. उ अ ३६) । ३ "हनुसन्धौ समुद्भूतं शोथमल्परुजं स्थिरम् । पाषाणगर्दभं विद्याद्बलास-पवनात्मकम् ॥" (सु नि. अ १३) । "शोथस्त्वल्परुजः स्थिरः । हनुसन्धिसमुद्भूतस्ताभ्यां पाषाणगर्दभः ॥" (अ हृ. उ अ ३१) । ४ "विसर्पवत् सर्पति यो दाह-ज्वरकरस्तनुः । अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥" (सु नि अ १३) । "दोषैः पित्तोल्बणैर्मन्दैर्विसर्पति विसर्पवत् । शोथोऽपाकस्तनुस्ताम्रो ज्वरकृज्जालगर्दभः ।" (अ स. उ अ ३६) । ५ "पिडिकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजां ज्वराम् । सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥" (सु. नि अ १३) । "त्रिलिङ्गा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका ।" (अ. स उ अ ३६) । ६ "बाहु-पार्श्वांस-कक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् । पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥" (सु नि अ. १३) । "कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषु साऽनिलात् । पित्ताद्भवन्ति पिटिका

गन्धनामाका लक्षण—

यदि पित्तके प्रकोपसे त्वचामें कक्षामें कहे हुए स्थानोमें एक ही वेदनायुक्त फफोले जैसी पिडका हो तो उसको **गन्धनामा** कहते हैं[1]।

अग्निरोहिणीका लक्षण—

तीनों दोषोंके प्रकोपसे बगलके भाग (कॉख) में आगसे जलनेसे होनेवाले फफोले सदृश तथा भीतर दाह और ज्वर करनेवाले जो फफोले होते हैं उनको **अग्निरोहिणी** कहते हैं। यह रोग असाध्य है। इससे पॉच, सात, दश या पन्द्रह दिनमे रोगीकी मृत्यु होती है[2]।

चिप्परोगका लक्षण—

पित्त और वात नखके मासमें आश्रित होकर दाह और पाकयुक्त शोथ उत्पन्न करते हैं। इस व्याधिको **चिप्प, उपनख और अक्षत** कहते है।[3]

कुनखका लक्षण—

जो अभिघातसे दूषित नख रूक्ष, कर्कश और काला हो जाय उसको **कुनख** और **कुलीन** कहते हैं[4]।

अनुशयीका लक्षण—

सिरमे अल्प शोथवाली, त्वचाके समान वर्णवाली और भीतर-गहराईमें पाकवाली जो पिडका होती है उसको **अनुशयी** कहते हैं[5]।

सूक्ष्मा लाजोपमा घना ।" (अ हृ. उ अ ३१)। "यज्ञोपवीतप्रतिमा प्रभूता पित्तानिलाभ्या जनितास्तु कक्षा ।" (च चि अ १२)।

१ "एकामेवविधा दृष्ट्वा पिटिका स्फोटसनिभाम्। त्वग्गता पित्तकोपेन गन्धनामा प्रचक्षते ॥" (सु. नि. अ १३)। "तादृशी (आकृत्या कक्षासदृशी) महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता।" (अ. स उ अ ३६)। २ "कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मासदारणा । अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभा ॥ सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम् । तामग्निरोहिणी विद्यादसाध्या सन्निपानत ॥" (सु नि अ १३)। "मलै पित्तोल्बणै स्फोटा ज्वरिणो मासदारणा । कक्षाभागेषु जायन्ते येऽग्न्याभा साऽग्निरोहिणी ॥ पञ्चाहाद् सप्तरात्राद्वा पक्षाद्वा हन्ति जीवितम् ।" (अ. स उ अ ३६)। ३ "कुर्याद् पित्तानिल पाक नखमासे सरुग्ज्वरम्। चिप्पमक्षतरोग च विद्यादुपनख च तम् ॥" (अ स उ अ ३६)। "नखमासमधिष्ठाय पित्त वातश्च वेदनाम्। करोति दाह-पाकौ च त व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥ तदेवाक्षतरोगाख्य तथोपनखमित्यपि ।" (सु नि अ १३)। "शोफोऽक्षतश्चर्म-नखान्तरे स्यान्मासात्वदूषी भृश-शीघ्रपाक ।" (च चि अ १२)। ४ "अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसित खर. । भवेत्त कुनख विद्यात् कुलीनमिति सज्ञितम् ॥" (सु नि अ. १३)।

विदारिकाका लक्षण—

तीनों दोपोंके प्रकोपसे कॉख-बगल और वंक्षणसन्धिमें विदारीकन्दके समान गोल, रक्तवर्णकी और तीनों दोषोंके लक्षणोंसे युक्त जो ग्रन्थि होती है उसको **विदारिका** कहते हैं[१]।

शर्करार्बुदका लक्षण—

प्रकुपित कफ और वायु मास-सिरा-स्नायु और मेदमें प्राप्त हो कर (उनको दूषित करके) ग्रन्थि उत्पन्न करता है। वह ग्रन्थि पक कर फूटने पर उससे मधु-घृत और वसाके समान अति स्राव होता है। उसमे धातुक्षयसे प्रकुपित वायु मासको सुखाकर गॉठदार शर्करा (कङ्कर-सा) उत्पन्न करता है। उससे सिराओंद्वारा दुर्गन्धयुक्त, सड़ा सा नानावर्णका रक्तका स्राव होता हे। इस व्याधिको **शर्करार्बुद** कहते हैं[२]।

पाददारीका लक्षण—

अति भ्रमण करने-चलनेसे प्रकुपित वायु अत्यन्त रुक्ष पॉवके तलोंमें पीडायुक्त दारी-दरार उत्पन्न करता है, इस व्याधिको **पाददारी** कहते हैं[३]।

"कृष्णोऽभिघाताद्रूक्षश्च खरश्च कुनखो नख ।" (अ. स उ. अ. ३६)। ५ "गम्भीरामल्प-सरम्भा सवर्णामुपरि स्थिताम् । कफादन्त प्रपाका ता विद्यादनुशयीं भिषक् ॥" (सु नि अ १३)। "उपरि मूर्धनि। सरम्भ शोथ । अन्त पाकेन गम्भीरा।" (गयदास.)।

१ "विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षा-वङ्क्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिका विद्यात् सर्वजा सर्वलक्षणाम् ॥" (सु नि अ १३)। "ज्वरान्विता वङ्क्षण-कक्षना या वर्तिर्निरर्ति. कठिनाऽऽयता च। विदारिका सा कफ-मारुताभ्या" (च चि अ. १२)। "विदारीकन्दकठिना विदारी कक्ष-वङ्क्षणे।" (अ स. उ अ ३६)। २ "प्राप्य मास-सिरा-स्नायू श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिल । ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधु सर्पिर्वसानिभम् ॥ स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिल । मास विशोष्य ग्रथिता शर्करा जनयेत् पुन ॥ दुर्गन्ध क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं तत. सिरा. । स्रवन्ति सहसा रक्त तद्विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥" (सु नि अ. १३)। "तत्र शर्कराया कफानिला दोषौ, मास सिरा-स्नायु-मेदासि तु दूष्याणि, मधु-घृत-वसासदृश. स्राव । धातुक्षयेण वृद्धिं गतोऽनिलो मास विशोष्य ग्रथिता कठिना शर्करा करोति, काठिन्यादेव शर्करासादृश्येन शर्करा, अवगाढोच्छ्रायाभ्यामर्बुदम्। तत इति शर्कराया सिरा रक्त स्रवन्ति। तथा हि भोजः—"वायु श्लेष्माणमादाय मेद -स्नायु-सिरागत । करोति विषम ग्रन्थिं ज्वर-दाहसमन्वितम् ॥ अवगाढ सुकठिनमर्बुद त विदुर्बुधा । तदेव भिन्न दुर्गन्ध घृत-मेदोपम सिरा । स्रवन्ति स्रावमनिश तदा त शर्करार्बुदम्।" (गयदास)। "मेदोनिल-कफैर्ग्रन्थि स्नायु-मास-सिराश्रयै.। भिन्नो वसाज्य-मध्वाभ स्रवेत्तत्रोल्बणोऽनिल ॥ मास विशोष्य ग्रथिता शर्करामुपपादयेत् । दुर्गन्धि रुधिर क्लिन्न नानावर्णं ततो मला । ता स्रावयन्ति निचिता विद्यात्तच्छर्करार्बुदम्। (अ स उ. अ ३६)। ३ "परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयो.। पादयो. कुरुते दारी सरुजा तल-सश्रिताम् ॥" (सु. नि. अ. १३)।

कदरका लक्षण—

पाँवके तलेमें कंकर-काटे आदि लगने पर मेद और रक्तगत दोषोंसे कीलके समान कठिन, मध्यमें नीचा या उभरा हुआ, स्राव और पीडायुक्त छोटे वेरके समान जो ग्रन्थि होता है उसको **कदर** कहते हैं[1]।

अलसकका लक्षण—

दूषित कीचड़के स्पर्शसे पाँवकी अगुलियोंके बीच खुजली-दाह और पीडाके साथ जो क्लेद (सड़ान सा) होता है उसको **अलस** कहते हैं[2]।

इन्द्रलुप्तका लक्षण—

सिरके रोमकूपोंमें दूषित पित्त वायुके साथ मिल कर सिरके बालोंको गिराता है, पीछे रक्तसहित कफ रोमकूपोंको अवरुद्ध करता है, जिससे अन्य बाल उगते नहीं है, इस व्याधिको **इन्द्रलुप्त, खालित्य** और **रुह्या** कहते हैं[3]।

दारुणकका लक्षण—

जिस रोगमें कफ और वायुके प्रकोपसे केशभूमि कठिन, सुप्त, कण्डुयुक्त और रूक्ष होकर फटने लगती है तथा बाल गिरते हैं, उसको **दारुणक** कहते हैं[4]।

---

१ "शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभि । मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम् ॥ सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा। कोलमात्र सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु स ॥" (सु नि अ १३)। "शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभि । ग्रन्थि की(को)-लवदुत्सन्नो जायते कदर तु तत् ॥" (अ स उ अ ३६)। २ "क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डू-दाह-रुगन्वितौ। दुष्टकर्दमसस्पर्शादलस त विनिर्दिशेत् ॥" (सु नि अ १३)। "अथ कफेन सशोणितेन, तत्र कण्डू कफस्य, शोणितस्य दाह-रुजे ।" (गयदास)। "दुष्टकर्दमसंस्पर्शात् कण्डू-क्लेदान्वितान्तरा । अङ्गुल्योऽलसमित्याहु " (अ स उ अ ३६)। "दुष्टकर्दमसम्पर्शात् कृम्यादिमलमयपङ्कसस्पर्शशीलनात् । अत्र कफ-पित्तकारणत्व शास्त्रान्त-रादवगन्तव्यम्, उक्त च–"दुष्टकर्दमसस्पर्शात् पादाङ्गुल्यन्तरे व्रणम् । कण्डूपाक्लेद-कोथाढ्य सपित्त कुरुते कफ ।" (इन्दु)। ३ "रोमकूपानुग पित्त वातेन सह मूर्च्छितम् । प्रच्यावयति रोमाणि तत श्लेष्मा सशोणित ॥ रुणद्धि रोमकूपास्तु ततोऽन्येषामसभव । तदिन्द्रलुप्त खालित्य रुह्येति च विभाव्यते ॥" (सु नि अ १३, अ स उ अ २७)। "इन्द्रलुप्ते भोज – "पित्त शिरसि सदुष्ट लोमकूपानुग यदा । तदा रोमाणि शीर्यन्ते तत्र श्लेष्मानिलौ श्रितौ । × × ×। तदिन्द्रलुप्तमित्याहु खल्ली रुह्यां च केचन ॥" (गयदास)। ४ "दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमि प्रपाट्यते। कफ-वातप्रकोपेण विद्याद्दारुणक तु तत् ॥" (सु नि अ. १३)। "कण्डू-केशच्युति-स्वाप-रौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वच । सुसूक्ष्म कफ वाताभ्यां विद्याद्दारुणक तु तत् ॥" (अ. स उ. अ २७)।

अरुंषिकाका लक्षण—

जिस रोगमें कफ, रक्त और कृमिके प्रकोपसे अनेक मुखवाले और बहुत क्लेदवाले व्रण होते हैं, उस रोगको **अरुंषिका** कहते हैं[1] ।

पलितका लक्षण—

जिस रोगमें क्रोध, शोक और श्रमसे उत्पन्न शरीरकी ऊष्मा-गरमी तथा पित्त सिरमें प्राप्त होकर सिरके बालोंको पकाते (सफेद करते) हैं, उस व्याधिको **पलित** कहते हैं[2] ।

मुखदूषिकाका लक्षण—

जिस रोगमें कफ-वायु और रक्तके प्रकोपसे सेमलके काँटेके सदृश और भीतर मेदवाली पिडकाएँ युवावस्थामें मुख-चेहरे पर निकलती हैं, उस व्याधिको **युवानपिड़का** या **मुखदूषिका** कहते हैं[3] ।

पद्मिनकिण्टकका लक्षण—

जिस व्याधिमें कफ और वातके प्रकोपसे पद्मिनी (कुँइ) के काँटेके सदृश काँटोंसे व्याप्त, कण्डुयुक्त और पाण्डुवर्णका मण्डल शरीरमें त्वचा पर निकले उस व्याधिको **पद्मिनीकण्टक** कहते हैं[4] ।

जतुमणिका लक्षण—

कफ और रक्तप्रधान तीनों दोषोंसे जन्मसे ही उत्पन्न पीडा रहित, चिकना, उभरा हुआ, और कुछ रक्तवर्णका जो मण्डल शरीरमें होता है उसको **जतुमणि** कहते हैं[5] ।

---

१ "अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि । कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥" (सु नि अ १३)। २ "क्रोधशोक-श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥" (सु नि अ १३)। "तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात् खलतिं नरस्य । किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥" (च चि अ २६) । "शोक-श्रम-क्रोधकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । केशान् सदोषः पचति पलितं संभवत्यतः ॥ तद्वातात् स्फुटितं श्यावं खरं रूक्षं ज्वलत्प्रभम् । पित्तात् सदाहं पीताभं, कफात् स्निग्धं विवृद्धिमत् ॥ स्थूलं सशुक्लं, सर्वैस्तु विद्याद्व्यामिश्रलक्षणम् ॥ शिरोरुजोद्भवं चान्यद्विवर्णं स्पर्शनासहम् ॥" (अ स उ अ २७)। ३ "शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफ-मारुत-शोणितैः । जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे सा मुखदूषिका ॥" (सु नि अ १३)। "शाल्मलीकण्टकाकारा पिटिका सरुजो घना । मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्यां च मुखदूषिका ॥" (अ हृ उ अ ३१) । ४ "कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम् । पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफ-वातजम् ॥" (सु नि अ १३)। ५ "नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम् । सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः ॥" (सु. नि. अ. १३)।

मषकका लक्षण—

वातसे शरीरमें वेदनारहित, कठिन, उडदके समान कृष्णवर्णका तथा उभरा हुआ जो व्याधि होता है उसको **मषक** कहते हैं[1]।

मषकसे भी बडे उभरे हुए मासाकुर शरीरपर निकले उनको **चर्मकील** कहते हैं (वा.)।

तिलकालकका लक्षण—

वात-पित्त और कफकी अधिकतासे काले तिलके सदृश, पीडारहित और त्वचाके समान (न उभरे हुए) शरीरपर जो दाग होते हैं उनको **तिलकालक** कहते हैं[2]।

न्यच्छका लक्षण—

बडा या छोटा, श्याम या श्वेत वर्णका वेदना रहित शरीर पर जो दाग होता है उसको **न्यच्छ** कहते हैं[3]।

व्यङ्ग और नीलिका का लक्षण—

क्रोध और परिश्रमसे प्रकुपित वायु पित्तके साथ मिल, सहसा मुख-चेहरे पर आ, पीडारहित, पतला, और श्याव (सफेदाई लिए हुए काले) वर्णका मण्डल-दाग उत्पन्न करता है उसको **व्यङ्ग** कहते हैं, यदि दाग बिल्कुल काले रंगका हो तो उसको **नीलिका** कहते हैं[4]।

---

१ "अवेदन स्थिर चैव यत्तु गात्रेषु दृश्यते। माषवत् कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषक वदेत् ॥" (सु नि अ १३)। "वातेरिते त्वचि यदा प्रवृद्धे कफ-मेदसी। श्लक्ष्ण स्थिर सवर्ण (माषसमानवर्ण) च कुरुतो मषक वदेत् ॥" (इति गयदासव्याख्याया भोजवचनम्)। २ "कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च। वात-पित्तासृगुच्छोषात्तान् विद्यात्तिल-कालकान् ॥" (सु नि अ १३)। "तिलाभास्तिलकालकान्। कृष्णानवेदनास्त्वक्स्थान्" (अ हृ उ अ ३१)। ३ "यस्य पित्त प्रकुपित शोणित प्राप्य शुष्यति। तिलका पिप्लवो व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते ॥" (च सू अ १८)। "तिलाभास्तिलकालकान्। कृष्णानवेदनास्त्वक्स्थान्, मषांस्तानेव चोन्नतान् ॥ मषेभ्यश्चोन्नततराश्चर्मकीलान् सिता-सितान्। (अ हृ उ अ ३१)। "मण्डल महदल्प वा श्याम वा यदि वा सितम्। सहज नीरुज गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥" (सु नि अ १३)। ४ "क्रोधायामप्रकुपितो वायु पित्तेन सयुत। सहसा मुखमागत्य मण्डल विसृजत्यत। नीरुज तनुक श्याव मुखे व्यङ्ग तमादिशेत्। कृष्णमेवगुण गात्रे मुखे वा नीलिका विदु ॥" (सु नि अ १३)। "क्रोध-शोकादिकुपिताद्वात-पित्तान्मुखे तनु। श्यामल मण्डल व्यङ्ग, वक्त्रादन्यत्र नीलिका ॥ परुष परुषस्पर्श व्यङ्ग श्याव च मारुतात्। पित्तात्ताम्रान्तमानील, श्वेतान्त कण्डुमत् कफात् ॥" (अ हृ. उ अ. ३१)।

परिवर्तिका का लक्षण—

लिंगका मर्दन करने, दबाने या लिंग पर अभिघात लगनेसे व्यान वायु लिंगकी त्वचामे आश्रय करता है तब लिंगके मणिके ऊपरकी त्वचा उलट कर मणिके नीचे ग्रन्थिरूप कोश लटकने लगता है। उस कोशमे दाह और वेदना होती है तथा क्वचित् पाक भी होता है। इस रोगको **परिवर्तिका** कहते हैं। यह रोग यदि वातजन्य हो तो उसमें वेदना होती है। यदि परिवर्तिकामे कफका अनुबन्ध हो तो वह कठिन होती है और उसमे खुजली आती है[1]।

अवपाटिका का लक्षण—

जिसकी योनिका मुख छोटा है ऐसी (बाला कन्या) स्त्री के साथ पुरुष के हर्ष-(कामोद्रेक)से बल पूर्वक गमन करनेसे, हाथके अभिघात लगनेसे, मणिके ऊपरकी त्वचाको जोरसे ऊपर लानेसे, मणिको दबानेसे अथवा शुक्रका वेग रोकनेसे त्वचा फटती है, उस व्याधिको **अवपाटिका** कहते हैं[2]।

निरुद्धप्रकशका लक्षण—

मर्दन-पीडन आदिसे अथवा अवपाटिका का ठीक रोपण न होनेसे वातका प्रकोप-होकर मणिके ऊपरकी त्वचाका मुख-द्वार संकुचित होनेसे मणि खुलता नहीं है और मूत्रकी धार अल्प आती है परन्तु वेदना नही है इस व्याधिको **निरुद्धप्रकश** कहते हैं[3]।

---

१ "मर्दनात् पीडनाच्चापि तथैवाप्यभिघातत.। मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥ तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रति निवर्तते। मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ सवेदन. सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित्। परिवर्तिकेति तां विद्यात् सरुजां वातसंभवाम् ॥ सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता।" (सु नि अ. १३)। "मणेरधो मेढ्रचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत्। स शूल-तोद-दाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका। श्लेष्मिका कठिना स्तब्धा सैव श्लेष्मसमुत्थिता।" (इति गयदासव्याख्यायां भोजवचनम्)। २ "अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बालां गच्छेत् स्त्रियं नरः। हस्ताभिघातादथ वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ मर्दनात् पीडनाद्वाऽपि शुक्रवेगविधारणात्। यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ॥" (सु नि. अ १३)। मर्दनादभिघाताद्वा कन्यायोनिप्रपीडनात्। लक्ष्यते यदि मेढ्रस्य चर्म दर्भैरिव क्षतम्। अवपाटिकेति तां विद्यात् पृथग्दोषैः समन्विताम्। वातात् सपरुषा रूक्षा तथा निस्तोदकारिका ॥ पित्तात् सपीता रक्ता वा दाह-तृष्णा-समन्विता। श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना ॥" (इति गयदासव्याख्यायां भोजवचनम्)। ३ वातोपसृष्टमेव तु चर्म संश्रयते मणिम्। मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ॥ निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम्। मूत्रं प्रवर्तते जन्तोः मणिर्विव्रियते न च ॥ निरुद्धप्रकशं विद्याद्युरूढां चावपाटिकाम् ॥ (सु. नि. अ १३)॥

सन्निरुद्धगुदका लक्षण—

मलके वेगको रोकनेसे अवरुद्धगति वायु गुदामें स्थानसंश्रय करके महास्रोतके अधोद्वाररूप गुदाको अवरुद्ध करके उसके द्वारको संकुचित (छोटा) करता है। मार्ग संकुचित-सूक्ष्म हो जानेसे उस व्याधिवालेको मल कष्टसे बाहर आता है। इस रोगको **सन्निरुद्धगुद** कहते हैं[1]।

अहिपूतनका लक्षण—

मल मूत्रयुक्त(-लिप्त) बालककी गुदाको न धोनेसे तथा स्वेद होने पर स्नान न कराने पर रक्त और कफका प्रकोप होकर गुदामें खुजली होती है। बार-बार खुजलानेसे वहाँ फफोले हो कर व्रण और व्रणसे स्राव होता है। इस व्याधिको **अहिपूतन** कहते हैं[2]।

वृषणकच्छूका लक्षण—

स्नान और उत्सादन-उद्वर्तन (साबुन आदि लगा कर सफाई) न करनेसे वृषणमें रहा हुआ मल क्लिन्न-गीला होकर वृषणमें कण्डू-खाज उत्पन्न करता है। वहाँ बार-बार खुजलानेसे फोडे और स्राव होता है। कफ और रक्तके प्रकोपसे उत्पन्न इस व्याधिको **वृषणकच्छू** कहते हैं[3]।

गुदभ्रंशका लक्षण—

जो रूक्ष और दुर्बल देहवाला मनुष्य दस्त लानेके लिए बार-बार जोर लगाता है, उससे अतिसारसे गुदवलि दुर्बल हो कर मलत्यागके बाद गुदा अपने-आप भीतर नहीं जाती और हाथसे दबा कर भीतर बैठानी पडती है, इस व्याधिको **गुदभ्रंश** कहते हैं[4]।

---

१ "वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः। निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च॥ मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति। सन्निरुद्धगुदं त्वेनं व्याधिं विद्यात् सुदुस्तरम्॥" (सु नि अ १३)। "वेगसंधारणाद्वायुरपानोऽपानसंश्रयम्। अणूकरोति बाह्यान्तर्मार्गमस्य ततः शकृत्॥ कृच्छ्रान्निर्गच्छति व्याधिरयं रुद्धगुदो मतः।" (अ हृ उ अ ३१)। "बाह्यान्तर्मार्गं गुदवलित्रयम्।" (इन्दु)। २ "शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्। स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा॥ कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥" (सु. नि अ १३)। "दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याधावनेन च। कण्डू-दाह-रुजावद्भिः पिटकाभिः समाचितः॥ अहिपूतनको नाम यथा दोषः सुदारुणः।" (**इति गयदासव्याख्याया भोजवचनम्**) "मलोपलेपात् स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः। ताम्रो व्रणोऽन्तः कण्डूमाञ्जायते भूर्युपद्रवः॥ केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽहिपूतनम्।" (अ हृ उ अ २)। ३ "स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः। यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं संजनयेत्तदा॥ तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्म-रक्तप्रकोपजाम्॥" (सु नि अ १३)। ४ "प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः। रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत्॥" (सु नि अ १३)।

प्रसुप्तिका लक्षण—

जब वायुसे प्रेरित कफ त्वचामें प्राप्त होकर शुष्क होता है तब त्वचा पाण्डुवर्णकी, कुछ कण्डूयुक्त, क्लेदरहित और धीरे-धीरे चेतनारहित होती है। इस व्याधिको **प्रसुप्ति** (सुन्नता) कहते हैं[1]।

लाञ्छन लक्षण—

जन्मसे ही जो त्वचाके समान (न उभरा हुआ) काले या सफेद रंगका मण्डलाकार दाग होता है उसको **लाञ्छन** कहते हैं[2] (वा)

राजिका का लक्षण—

गरमीसे उत्पन्न स्वेदयुक्त अंगमें पीड़ायुक्त गाढी-फैली हुई जो राईके सदृश वर्ण और आकारकी पिड़काएँ-फुसियाँ होती हैं उनको **राजिका** कहते हैं[3] (वा)।

पिडका का लक्षण—

अपने हेतुओंके प्रकुपित पित्त जब त्वचाके नीचे रक्तमें स्थानसंश्रय करता है तब त्वचाके ऊपर पिडकाएँ उत्पन्न करता है (च)।

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य विरचित आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान-उत्तरार्धका 'क्षुद्ररोगनिदानाध्याय' नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त।

---

१ "वायुनोदीरित. श्लेष्मा त्वच प्राप्य विशुष्यति। ततस्त्वग्जायते पाण्डु. क्रमेण च विचेतना॥ अल्पकण्डूरविक्लेदा सा प्रसुप्ति प्रसुप्तित।" (अ हृ उ अ ३१)। २ "कृष्ण सित वा सहज मण्डल लाञ्छन समम्।" (अ हृ उ अ ३१)। ३ "घर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिका सरुजा घना॰। राजिकावर्ण-संस्थान-प्रमाणा राजिकाह्वया॥" (अ हृ उ अ ३१)। ४ "यस्य पित्त प्रकुपित त्वचि रक्तेऽवतिष्ठते। शोथ सराग जनयत् पिडका तस्य जायते॥" (च सू १८)।

श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि.

के

विकास का इतिहास

हमारे देवस्थानों मे सिद्धपीठ नाम से सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान, श्री वैद्यनाथधाम (देवघर) मे श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड की स्थापना, आज से ३८ वर्ष पूर्व, हुई थी।

स्थापन-काल—आधि-व्याधि-नाशक श्री वावा वैद्यनाथ के सम्मुख की गई मानव-कल्याण की कामना कभी विफल नहीं होती। आयुर्वेद के इष्टदेव भगवान शंकर के शुभाशीर्वाद तथा हमारे अथक परिश्रम, श्रेष्ठ अध्यवसाय तथा विशुद्ध लगन के कारण, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड का काम वडी तेजी से आगे वढ़ा।

संघर्ष-काल—राज्य की उपेक्षा, हमारे शिक्षित समाज पर विदेशी आचार-विचार का प्रभाव एव अपनी प्राचीन सस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता के साथ जवर्दस्त सघर्ष, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के इतिहास की प्रारम्भिक विशेषता है। करीव-करीव यही वक्त था, जव कि हमारे देश मे राष्ट्रीय चेतना का आना और आजादी की लहर का उठना प्रारम्भ हुआ। हमारे समाज के प्रत्येक अग पर विदेशी आचार-विचार और सत्ता का जो प्रभुत्व था, एक अन्धकार का आवरण था, उसके खिलाफ एक सुरसुराहट-सी होने लगी। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे, धीरे-धीरे हमारे समाज के मृतप्राय शरीर मे प्राणवायु का सचार हुआ। इसके वाद, हमारा राष्ट्रीय कारवॉ जिन-जिन वाधाओं, कठिनाइयों और तूफानों का सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर वढ़ता रहा, वह हमारे देश-के इतिहास का एक सर्वश्रेष्ठ, गौरवपूर्ण अध्याय है।

राष्ट्रीय ह्रास या विकास केवल राजनीतिक ही नहीं होता, वल्कि, व्यक्तिगत और समष्टिगतरूप मे वह समाज की सस्कृति, साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, कृषि आदि सभी अङ्गों के सार्वभौमिक ह्रास और विकास पर निर्भर करता है। और चूँकि आयुर्वेद—हमारा राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—हमारी सस्कृति, साहित्य और कला का एक सर्वोच्च ज्ञान-भाण्डार है, अत एव राष्ट्र के जीवन के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध कोई नई और आश्चर्यजनक वात नहीं।

इसलिए, जव हम श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के पिछले ३८ साल के सङ्घर्षमय जीवन और उसके फलस्वरूप प्राप्त उत्तरोत्तर उन्नति की ओर दृष्टिपात करते हैं, तव हमे गर्व और प्रसन्नता, दोनों ही होते है। गर्व इसलिए कि एक कर्त्तव्यपरायण सिपाही की तरह राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक जवर्दस्त मोर्चा—राष्ट्रीय चिकित्सक-विज्ञान—आदि के प्रति अपने कर्त्तव्य का हमने हरएक कठिनाई और वाधा में भी खूवी के साथ साथ किया है, और प्रसन्नता इसलिए कि हमारे राष्ट्रीय सग्राम के नेताओं और

सेनानियोंने हमारे इस काम की सराहना की, सहयोगियों ने प्रशंसा की और सर्व-साधारण स्वागत किया। आज नवराष्ट्र-निर्माण के दिनों मे, जब कि प्रकाश की स्पष्ट झलक अन्तरिक्ष-पट पर दिखाई पड रही है, हमारे उत्साह और आनन्द का सर्वोच्च कारण मात्र वही अनुभव है, जो राष्ट्रीय सघर्ष के आघात और उसकी आग की प्रत्येक लपट का अपना हिस्सा प्राप्त करने का सौभाग्य हमे मिला है।

उत्कर्ष-काल–अपनी जिन विशेषताओ के कारण, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० बराबर सङ्घर्ष मे विजयी होता आया है, वे हैं—(१) शुद्ध औषधियों का निर्माण, (२) आयुर्वेदोन्नति के लिए ठोस कार्य और (३) वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रचार।

आज श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० का जो स्वरूप है, उसे विस्तृत रूप से बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष भर मे औषधि-निर्माण के चार बड़े-बडे कारखाने, बड़े बडे शहरो मे वैद्यनाथ-दवाओं के २०० से अधिक बिक्री-केन्द्र (सोल एजेन्सियाँ) तथा २० हजार से ऊपर एजेन्सियाँ (एजेण्ट) आदि इसकी विशाल और व्यापक प्रगति को प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। आज नगर-नगर और गाँव गाँव मे श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० का जो साइनबोर्ड आप देखते हैं तथा घरघर मे वैद्यनाथ औषधियाँ देखी जाती हैं, उनके मूल मे जो तथ्य हैं, वे नीचे लिखे विवरण से आपकी समझ मे अच्छी तरह आ जायँगे।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के विभिन्न कार्य-विभाग

ऋषि-अर्चन (रिसर्च) विभाग

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० ने अपने प्रारम्भ काल से ही शोध-कार्य की ओर विशेष ध्यान दिया है। पहले काशी-विश्वविद्यालय आदि सस्थाओ को आर्थिक सहायता देकर इसकी ओर से शोध (रिसर्च) का कार्य-सम्पादित होता रहा है। किन्तु अब इस महत्त्वपूर्ण कार्य को वह स्वयं अपने निरीक्षण मे कराने लगा है। विगत चार वर्षों से इस कार्य के लिए पचास हजार रुपये प्रतिवर्ष खर्च करने का आयोजन किया गया है और यथाशीघ्र ही इसके साथ प्रयोगशाला (Reseaich Laboratoiy और रुग्णालय (Indooi Hospital) भी स्थापित होनेवाले हैं।

(क) **वनस्पति**–वनस्पतियों के शोध का कार्य गत चार वर्षों से विशदरूप मे चलाया जा रहा है। इस विभाग मे आयुर्वेदिक औषधियों में काम आनेवाली वनस्पतियो का सदिग्ध-निर्णय और गुण-धर्म-परीक्षण होता है। तथा नई चमत्कारिक वनस्पतियो को प्राप्त कर उनके स्वरूप और गुण-धर्म-निर्णय द्वारा समग्र भारतीय वैद्यों को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ख) **विश्लेषण**–औषधियों के काम मे आनेवाले मूलद्रव्यों की असलियत को मालूम करना तथा तैयार औषधियो की यथार्थ गुणकारिता और यथावत्-निर्माण की

विश्लेषण (Analysis) द्वारा जाँच करना, इस विभाग का मुख्य कार्य है। विगत चार वर्षों से यह कार्य भी निरन्तर हो रहा है।

(ग) गुण-धर्म-निर्णय—आयुर्वेद-शास्त्र मे वर्णित वनौषधियों एव सिद्धौषधियों के गुण धर्म-निर्णय का एक पृथक् अन्य विभाग है। इस विभाग के अन्तर्गत शीघ्र ही रुग्णालय (Indoor Hospital) स्थापित करने की योजना है, जिसमे २० रोगियों के लिए शय्याएँ (Beds) रहेंगी। इस रुग्णालय द्वारा रोगियो पर शतश अनुभूत की गई वनस्पतियो तथा योगो का गुण-धर्म निश्चय किया जायगा। आयुर्वेद-विज्ञान मे मानव-शरीर पर किये गये सफल औषधि-परीक्षण को ही यथार्थ एवं असंदिग्ध गुण-धर्म-निर्णय माना गया है। यह कार्य चार्ट एव रोगियों पर तैयार की गई रिपोर्टों के आधार पर सम्पादित होगा।

(घ) शास्त्र-निर्माण-विभाग—उपर्युक्त विभागों का शास्त्रीय निरूपण आयुर्वेदीय सिद्धान्तों से किया जायेगा। त्रिदोषतत्त्व, पञ्चमहाभूत, द्रव्य, रस, गुण, विपाक, वीर्य, प्रभाव-आधार पर ही नूतन ग्रन्थों का निर्माण होगा। वर्तमान विज्ञान (Modern Science) को भी इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आत्मसात् करके समन्वयात्मक रूप में प्रमाणित किया जायेगा।

(ङ) शोध-कार्यकी प्रगति—आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार, आयुर्वेद का संशोधन और परिवर्द्धन कोई सामान्य कार्य नहीं है। भारतवर्ष भर मे स्वय भ्रमण करके, प्राय, हमने देखा है कि इस अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य को अब तक कहीं भी क्रियात्मक रूप नहीं दिया गया है। इस विषय मे अपनी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ भी अभी बन ही रही हैं। इस कार्य का कोई रचनात्मक उद्योग वहाँ भी नही हुआ। क्रियात्मक रूप के अभाव एव द्रव्य और समय के अपव्यय की आशका से हमने आयुर्वेदीय शोध-कार्य की इस समस्या को अखिल भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा-परिषद् के समक्ष उपस्थित किया तथा अखिल भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा-परिषद् का प्रथम और द्वितीय अधिवेशन श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के व्यय से, क्रमश पटना-स्थित वैद्यनाथ-निर्माणशाला और हरद्वार मे, लगातार दस दिनों तक सम्पन्न कराया, जिनमे देश-भर के प्राय सभी उच्चकोटि के आयुर्वेद-विशेषज्ञों ने भाग लिया था। परिषद् के प्रथम अधिवेशन मे आयुर्वेद के मूल आधार त्रिदोषत्व और पञ्चमहाभूतसिद्धान्तों तथा अनेक गूढ विषयों पर विचार-विमर्श किये गये। हरद्वार के द्वितीय अधिवेशन मे द्रव्य-गुण (रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव) पर विवेचन हुआ। एव इसी आधार पर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा होनेवाले आयुर्वेदीय प्रतिसस्कार (Research) की रूपरेखा निश्चित की गई। जीवित मानव-शरीर ही आयुर्वेद-विज्ञान की प्रधान प्रयोगशाला है। प्राचीन काल से आयुर्वेद-शास्त्र मे द्रव्य-गुण (रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव) द्वारा ही किसी भी द्रव्य का गुण-धर्म-निर्णय हुआ है। इस सनातन पद्धति से ही अब भी

आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार (Research) होना चाहिए। रुग्ण-सेवा, बिना आयुर्वेद के वास्तविक तत्त्वज्ञान के, कदापि सम्भव नहीं है। अत इस कार्य के लिए एक आतुरालय (Indoor Hospital) का होना आवश्यक है। जिसमें पृथक्-पृथक् और मिश्रित (विश्लेषण और संश्लेषण) विधि से आयुर्वेदीय योगों और द्रव्यों का स्वरूप और गुण-धर्म-निर्णय असन्दिग्ध रूप से हो। इस दिशा में हम जो कार्य कर रहे हैं, उसकी रिपोर्ट **'सचित्र आयुर्वेद'** में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। समुचित स्थान पर कार्यक्षमता-योग्य विस्तृत स्थान अब तक प्राप्त नहीं था। किन्तु, अभी हाल ही में भवन के एक नये निर्माण-केन्द्र के लिए इलाहाबाद में ६० बीघा जमीन ले ली गई है। अत हमें आशा है कि हमारी यह बड़ी कठिनाई भी शीघ्र ही हल हो जायेगी और आयुर्वेदीय प्रतिसंस्कार (Research) का महत्त्वपूर्ण कार्य वहाँ विशद रूप में शीघ्र प्रारम्भ किया जायगा।

औषध निर्माण-विभाग.

किसी भी चिकित्सा-पद्धति की उत्तमता और लोकप्रियता उसके शास्त्र-सम्मत औषधि-निर्माण की श्रेष्ठता पर निर्भर करती है। किन्तु आयुर्वेदीय औषधियों का निर्माण कठिन, अनुभव-गम्य और प्रभूत उपकरण-साध्य कार्य है। प्राचीन समय से केवल चिकित्सक ही इसे करते आये हैं। अभी तक हजारों वैद्य-बन्धु ऐसा ही कर रहे हैं। परन्तु महँगाई और कठिनाइयों के इस वर्तमान युग में परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है। अर्थाभाव के कारण, औषधि-निर्माण के आवश्यक उपकरण और उत्तम मूल द्रव्यों का जुटाना सर्वसाधारण वैद्यों के लिए नहीं, अपि तु छोटी-मोटी फार्मेसीवालों के लिए भी अत्यन्त कठिन है। उपकरणों और उत्तम मूल द्रव्यों के अभाव में औषधियां उत्तम गुणकारी नहीं बन पाती हैं। यही सब खास कारण हैं, जिनकी वजह से लोग औषधियों में गुणहीनता की शिकायत करते हैं। औषधियों के उत्तम गुणकारी होने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें पड़नेवाले मूल द्रव्यों को शुद्ध (मिलावट-रहित), ताजे (नये) और विधि-पूर्वक संग्रह किये हुए प्रमाणित होना चाहिए। पसारी लोगों से सड़े-गले, घुने और नकली द्रव्यों को लेकर उनसे औषधि-निर्माण जैसा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करना, न केवल अपनी औषधियों की गुण-हीनता ही प्रमाणित करना है, बल्कि इससे आयुर्वेद-विज्ञान के मूल पर भी कुठाराघात होता है।

औषधियों के मूल द्रव्यों को उत्पत्ति-स्थानों से विधिपूर्वक संग्रह कराना, उपकरणों का जुटाना तथा अनुभवी और निर्माण के विशेषज्ञ आयुर्वेदाचार्यों की देख-रेख में अत्यन्त कुशलता तथा स्वच्छता-पूर्वक औषधि-निर्माण का कार्य कराना, अत्यन्त कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण काम है। इसे केवल सर्वसाधन-सम्पन्न निर्माणशालाएँ ही विधिवत् कर सकती है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० भारतवर्ष भर में औषधि-निर्माण के कार्य में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर—इन चारों

स्थानों पर सर्वसाधन-सम्पन्न औषध-निर्माणशालाएँ स्थापित हैं, जिनमे हमारे वनौपधि-विभाग द्वारा सग्रह किये गये उत्तम मूल द्रव्यों से अनुभवी एव निर्माण-विशेषज्ञ आयुर्वेद-शास्त्र के आचार्यों के द्वारा अत्यन्त कुशलता तथा स्वच्छता-पूर्वक प्रतिमास हजारों मन शुद्ध-शास्त्रीय औषधिया तैयार होती हैं और उचित मूल्य मे जनता की सेवा मे प्रस्तुत की जाती है। औषधि-निर्माण का इससे श्रेष्ठ और सुव्यवस्थित प्रवन्ध भारतवर्ष भर में अन्यत्र मिलना कठिन है।

वैद्यनाथ-औषधि की उत्तमता के तीन कारण हैं —(१) मूल द्रव्यों का नया, ताजा रहना और विधिपूर्वक सग्रह किया जाना तथा द्रव्यगुण-विशेषज्ञों के द्वारा उनका सुपरीक्षित होना, (२) निर्माण-कुशल और अनुभवी आयुर्वेदाचार्यों द्वारा शास्त्रीय विधाना-नुसार औषधि-निर्माण करना, (३) श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद-भवन प्राइवेट लि० के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टरों का स्वयं वहुत अनुभवी और औषधि-निर्माण-विशेषज्ञ होना तथा औषधि-निर्माण-कार्य का उनके द्वारा सतत निरीक्षण होना । निर्माण की इस विशुद्धता और उत्कृष्टता के कारण, वैद्यनाथ-औषधियों की जनता मे इतनी व्यापक माग है कि हमारी कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर—इन चार रसायनशालाओं के निरन्तर औषधि-निर्माण-कार्य में सलग्न रहने और एक हजार से अधिक कार्यकर्त्ताओं के सगठित प्रयत्न के वावजूद भी जनता की दिनों-दिन वढती हुई मॉग की पूर्त्ति करने मे कठिनाई होती है। वैद्यनाथ-औषधि-विक्रेताओ को क्रमश नम्वरवार दवाएँ भेजी जाती हैं तथा इसके लिए हमे हर साल कार्यकर्त्ताओं की सख्या वढानी पडती है।

परीक्षण-विभाग

वैद्यनाथ-औषधियो के उपयोग मे आनेवाले पदार्थों की परीक्षा इस विभाग द्वारा की जाती है। औषधियो के मूल द्रव्यों, जैसे—जडी-वूटियॉ, खनिज द्रव्य, धातु-उपधातु, रस-उपरस तथा केमिकल (रासायनिक) वस्तुओं के परीक्षण का कार्य सुयोग्यतम, अनुभवी, द्रव्यगुण-शास्त्र के विशेषज्ञ वैद्यों और आधुनिक रसायन-शास्त्र और फार्मोकोलोजी के ज्ञाता केमिस्टो के द्वारा किया जाता है, जो अपने विषय के अनुभवी और सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण हैं । हमारी चारों निर्माणशालाओं के साथ अपनी-अपनी प्रयोगशालाएँ भी हैं। वैद्यनाथ-औषधियों का परीक्षण उनके निर्मित होने के वाद भी किया जाता है कि औषधि ठीक वनी है या किसी प्रकार की इसमे कमी रह गई है । इस परीक्षण-विभाग द्वारा परीक्षा मे ठीक सिद्ध होनेवाली औषधियॉ ही विक्री की जाती है।

औषध-विक्रय-विभाग

४ निर्माण-केन्द्रों, २०० विक्री केन्द्रो और २० हजार से अधिक एजेन्सियों (एजेण्टों) के द्वारा वैद्यनाथ-दवाओं के निरन्तर विक्रय का प्रवन्ध है। और ये दवाएँ देश-भर मे सर्वत्र समान मूल्य (एक दाम) पर ही विकती है। वैद्यनाथ अधिकार-प्राप्त औषधि-

विक्रेताओं को कार्यालय उचित कमीशन और कई अन्यान्य सुविधाएँ देता है। देश के कतिपय प्रमुख नगरो मे, जहाँ वैद्यनाथ औषधियो की दूकाने है, ये है—देहली, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, काशी, गोरखपुर, लखनऊ, मथुरा, लश्कर, इन्दौर, उज्जैन, आरा, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, गया, वैद्यनाथ-धाम, रायपुर, गोंदिया, जबलपुर, अकोला, अमरावती, बिलासपुर आदि। प्रत्येक निर्माण-केन्द्र मे एजेन्सी विभाग के मैनेजर अलग है, जिनके पास एजेण्ट बनने की इच्छावाले लोगो के पत्र (और वे स्वय भी) बराबर आते रहते हैं। एजेन्सी के लिए स्वय कार्यालय मे आनेवाले महाशयों को पहले पत्र-व्यवहार द्वारा जान लेना चाहिए कि जिस स्थान की वे एजेन्सी लेना चाहते हैं, उस स्थान की एजेन्सी रिक्त है या नही। दवाओं के साथ-साथ उत्तम रूप से विधि पूर्वक सग्रहीत वनौषधियों की भी थोक विक्री होती है। वनौषधियों की फुटकर बिक्री नहीं की जाती है।

प्रचार-विभाग

सर्वसाधारण जनता को उत्तम औषधियों की जानकारी के लिए प्रचार-कार्य की आवश्यकता होती है। इसके लिए हमारा प्रचार-विभाग पूर्ण सुव्यवस्थित रूप से, निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। हमारे प्रचार-विभाग के द्वारा वैद्यनाथ दवाओं का प्रचार जिन श्रेष्ठ तरीक़ो से किया जाता है, उनमे पञ्चाङ्ग, विभिन्न भाषाओं के सूचीपत्र, कलेण्डर, डायरी, हनुमान चालीसा, देवस्तोत्र, तीर्थ-माहात्म्य, नोटबुक, ब्लाटिङ्ग (स्याहीसोख्ता), सचित्र पोस्टर, साइनबोर्ड, दीवालें लिखवाना, प्रचार-मोटरें आदि प्रमुख है। हमारे प्रचार-विभाग की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि वह विज्ञापन की प्रत्येक सामग्री को उपयोगी बनाकर प्रकाशित करता है। हमारी विज्ञापन सामग्री को पढनेवाले स्वस्थ लोगों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी उत्तम जानकारी प्राप्त होती है तथा रोगी मनुष्यों को उत्तम औषधियों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त हो जाती है। हमारे यहा से प्रकाशित धार्मिक स्तोत्र और तीर्थ-माहात्म्यो को पढने से मानसिक शुद्धि होती है। साथ ही हम यह भी जानते है कि हमारा वास्तविक प्रचार तो उत्तम गुणकारी (असली) वैद्यनाथ-दवाओ के द्वारा ही होता है। वैद्यनाथदवा का सेवन कर जब रोगी तन्दुरुस्त हो जाता है, तब वह स्वयं ही अन्य लोगो मे वैद्यनाथदवाओं की श्रेष्ठता का प्रचार करता है।

प्रकाशन-विभाग

आयुर्वेद के विषयानुसार ग्रन्थो का प्रकाशन भवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। आधुनिक युग से पूर्व आयुर्वेद मे ग्रन्थानुसार अध्ययन की परिपाटी थी। अर्थात् किसी एक ही ग्रन्थ से आयुर्वेद के सब अगों या विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। आधुनिक युग अपने साथ विषयानुसार शिक्षण का सन्देश लाया। अत विषयानुसार ग्रन्थों

का लेखन और प्रकाशन युग की माँग हुई। हमें हर्ष है कि इस माँग की पूर्ति की दिशा में भवन ने सफलतापूर्वक प्रयास किया है और अब तक आयुर्वेद के एक दर्जन असाधारण ग्रन्थ लिखवाकर प्रकाशित किये है, जिनको विद्वानो ने अपने-अपने क्षेत्र मे अद्वितीय स्वीकार किया है और विद्यापीठों ने अपने पाठ्यक्रमों मे स्वीकृत किया है। इनमे से दो ग्रन्थों का तो नामोल्लेख न करना अनुचित होगा। एक भारत के सुप्रसिद्ध आयुर्वेदोद्धारक वैद्यराज श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) का "सिद्धयोग-सग्रह" और दूसरा उनके सुयोग्य शिष्य विद्वद्वर वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालकार, वाइस प्रिन्सिपल आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत का "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" (Ayurvedic Physiology)। प्रथम ग्रन्थ के विषयमे हम कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझते और द्वितीय के विषय मे यहा पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रथम सक्षिप्त सस्करण मे ही इस पुस्तक का भारतवर्ष मे सर्वत्र समादर हुआ था और प्राय समस्त आयुर्वेदीय कालेजो के पाठ्य-क्रम मे नियत हो गई थी।

शरीर विज्ञान के लिए आयुर्वेदीय सज्ञा (पारिभाषित शब्द) "शारीर" है। शारीर के दो अग हैं—(१) रचना-शारीर अर्थात् शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy) और (२) क्रियाशारीर अर्थात् शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology)। इनमे से द्वितीय अग पर तो वैद्य रणजितराय का ग्रन्थ हम प्रकाशित कर चुके है, जो कि अपने विषय का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया है। अब हमने शारीर के प्रथम अग अर्थात् रचना-शारीर पर ग्रन्थ-निर्माण की योजना हाथ मे ले ली है, जो कि गत तीन वर्षों से कार्यान्वित की जा रही है।

यह कार्य भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री उपेन्द्रनाथ दास कर रहे है, जो कि अनेक वार अखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के मत्री और सभापति रह चुके हैं। इसमे कविराजजी को सहयोग देने के लिए आयुर्वेद और एलोपैथी के एक दर्जन मर्मज्ञो का स्टाफ भी कार्य कर रहा है। अब तक इस कार्य मे भवन १००००) धनराशि व्यय कर चुका है और ग्रन्थ प्रकाशित होने तक इस कार्य मे कम-से-कम ५००००) धनराशि व्यय होने का अनुमान है।

आयुर्वेदोन्नति-विभाग

आयुर्वेद-विज्ञान की वास्तविक समुन्नति करके उसको लोकप्रिय और राज्यमान्य बनाना इस विभाग का मुख्य कार्य है। इसके लिए नीचे लिखे प्रयत्न किये गये हैं—

(क) **आयुर्वेद-विद्यालय**—श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के द्वारा गत ९ वर्षों से एक स्वतन्त्र आयुर्वेद-विद्यालय, सफलता के साथ, चलाया जा रहा है। इस विद्यालय में अखिल भारतीय विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य तथा राजस्थान की आयुर्वेदशास्त्री तक की शिक्षा नि शुल्क दी जाती है। छात्रों के कर्माभ्यास के लिए यहा

धर्मार्थ औषधालय की व्यवस्था भी है। इनमे प्रतिवर्ष लगभग एक दर्जन छात्र स्नातक होकर निकलते हैं। इनके अलावा भारत के अन्य कई आयुर्वेद-विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाती है।

(ख) छात्रवृत्तियाँ—जो छात्र, आर्थिक अभाव के कारण, आयुर्वेद पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, ऐसे अनेक योग्य छात्रों को प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

(ग) सचित्र आयुर्वेद—आयुर्वेद-जगत् में उच्चकोटि के वैज्ञानिक पत्र का अभाव देखकर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० गत आठ वर्षों से उच्च स्तर की पाठ्यसामग्री से परिपूर्ण "सचित्र आयुर्वेद" मासिक पत्र का प्रकाशन कर रहा है। उसमें प्रकाशित होनेवाले सभी लेख, आयुर्वेद के सुयोग्य विद्वान् लेखकों द्वारा लिखे हुए, उच्चकोटि के होते हैं। लेखों के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित चित्र बनवाकर भी छापे जाते हैं, जिससे पत्र की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है। प्रतिवर्ष प्राय एक विशेषाङ्क भी प्रकाशित किया जाता है, जो अपने विषय पर सर्वोच्च सामग्री से सम्पन्न होता है। इस वर्ष इसका "आयुर्वेद-योजना-अंक" प्रकाशित किया गया था, जिसकी उपादेयता और पठनीय सामग्रियों की विशेषता की प्रशंसा देश के अनेक गण्यमान्य नेताओं तथा चिकित्सकों ने की। इसके अतिरिक्त "सचित्र आयुर्वेद" का साधारण अंक भी उतना उत्तम, वैज्ञानिक, पठनीय और मननीय सामग्री से भरपूर होता है कि गुणग्राही विद्वान वैद्य इसके वर्ष भर के अङ्कों को पुस्तकाकार में जिल्द बँधवाकर उनका अनुशीलन करते हैं। इसीलिए आयुर्वेद के प्राय सभी उच्चकोटि के विद्वान इसके नियमित ग्राहक और लेखक हैं।

(घ) धन्वन्तरि-जयन्ती—आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान श्री धन्वन्तरि की स्मृति के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्ण १३ को यह पुण्य पर्व श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० की निर्माणशालाओं तथा सभी बिक्री-केन्द्रों में विधिपूर्वक पूजन, आयुर्वेद की उन्नतिविषयक भाषण तथा प्रसाद-वितरण के साथ बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। सभी जगहों के स्थानीय वैद्य-बन्धु और सम्भ्रान्त नागरिकों को निमन्त्रित कर बुलाया जाता है और सभी लोग सम्मिलित रूप से आयुर्वेद-विज्ञान समुन्नति की प्रतिज्ञा करते हुए भगवान श्री धन्वन्तरि को अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ नतमस्तक होकर अर्पण करते हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के द्वारा प्रतिवर्ष १५०००) इस पुनीत कार्य में खर्च किया जाता है। ऐसे समारोह के आयोजन से वैद्य-समाज में भ्रातृत्व-भाव का उदय और संगठन का प्रचार होता है, जो आयुर्वेद की उन्नति के लिए अत्युपयोगी है। निकट भविष्य में यह समारोह राष्ट्रीय स्वास्थ्य-पर्व के रूप में समग्र देश में मनाया जाय, इसके लिए हमारा यह प्रारम्भिक प्रयास है।

(ङ) धर्मार्थ औषधालय और स्वास्थ्य-रक्षाकेन्द्र—जनता में आयुर्वेद की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० ने झाँसी, पटना और

नागपुर में धर्मार्थ औषधालयों तथा स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्रो की स्थापना की है। इनके द्वारा रोगपीड़ित जनता की चिकित्सा की उत्तमोत्तम सुविधाएँ सेवा-भाव से नि शुल्क प्रदान की जाती है। कठिन-से-कठिन रोगों का इलाज सुयोग्य और अनुभवी आयुर्वेदाचार्य, सेवा-भाव-परायण वैद्यराज करते है, जो कार्यालय द्वारा अच्छा वेतन देकर जनता की सेवा के लिए ही नियुक्त किये गये हैं। आवश्यकतानुसार रोगियों को कीमती-से-कीमती बहुमूल्य औषधियाँ तक मुफ्त दी जाती है। इन धर्मार्थ औषधालयों की लोकप्रियता और उपयोगिता इतनी अधिक बढ गई है कि प्रत्येक स्थान पर रोगियो की उपस्थिति २५०-३०० तक प्रतिदिन रहने लगी है।

रोगियों को मुक्त करने के बाद एव स्वस्थ लोगों को स्वस्थ बने रहने के लिए स्वास्थ्य-सम्बन्धी समुचित जानकारी भी हमारे स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्रों द्वारा दी जाती है। आहार-विहार और निद्रा तथा प्रत्येक ऋतु की दिन और रात्रिचर्य्या भी लोगों को बहुत सुन्दर ढङ्ग से समझाई जाती है। इस विभाग द्वारा समय-समय पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती है, जो जनता मे मुफ्त बाँटी जाती है।

(च) धर्मार्थ औषधालयों को सहायता—हमारे निजी धर्मार्थ औषधालयों के अलावा दूसरे लोगों द्वारा स्थापित धर्मार्थ औषधालयों को भी हमारे कार्यालय द्वारा पर्याप्त सहायता दी जाती है। किसी प्रामाणिक धर्मार्थ औषधालय को, औषधि मँगाने पर, आधे मूल्य मे ही औषधियाँ भेज दी जाती हैं।

संवत् २०१२ में की गई आयुर्वेद-सेवाएँ

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा सदैव की भाँति गत वर्ष भी आयुर्वेद की उन्नति के लिए जन-सेवा और शास्त्र-सेवा के अनेक कार्य हुए है। विशेष रूप से इस वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रदर्शनी, दिल्ली, बिहार राज्य कृषि प्रदर्शनी, पटना और सोनपुर (बिहार) मे भवन के प्रदर्शन-कक्ष खोले गये थे, जिनमे आयुर्वेदीय औषधि-निर्माण की प्रक्रिया दिखाई गई और जन-स्वास्थ्य को समुन्नत बनानेवाली पुस्तिकाएँ वितरित की गई। परिमित स्थान के कारण, उन कार्यों का विवरण यहाँ प्रस्तुत करना सभव नही है। फिर भी सक्षेप मे आप यह जान लें कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० केवल औषधि बनाकर बेचनेवाली फार्मेसी ही नही है, बल्कि आयुर्वेद-विज्ञान की ठोस सेवा करनेवाली एक आदर्श सस्था है, जिसमे सैकडों आयुर्वेदाचार्य और अनेक रसायनाचार्य निरन्तर कार्य कर रहे हैं। वनौषधि-सग्रह से लेकर औषधियो के निर्माण तथा प्रयोगात्मक परीक्षण तक का प्रत्येक कार्य आयुर्वेद-शास्त्र के पारगत, सुयोग्य, अनुभवी, कार्यकुशल वैद्यराजों के सतत निरीक्षण मे **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**—सभी सुखी और स्वस्थ रहे, के महान आदर्श को लक्ष्य में रखकर किया जाता है।



वैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन

यह कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नहीं है। शुद्ध अर्थ में यह एक आयुर्वेदीय संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सा-प्रणाली की श्रेष्ठता से जनता को परिचित कराना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिए एक ओर जहाँ वह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करता है। वैद्यनाथ-प्रकाशन के उत्तम ग्रन्थों की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षण-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने यहाँ के अनेक ग्रन्थों को अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकों में प्रमुख स्थान दिया है। चूँकि आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार वैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है, अतः पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण में सर्व-साधारण की क्रयशक्ति का पूरा विचार कर इन्हें लागत मात्र कीमत पर बेचने का प्रबन्ध होता है। यही कारण है कि वैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे **'आरोग्य-प्रकाश'** को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि उसके ग्यारह संस्करणों में एक लाख से अधिक प्रतियाँ छपकर हाथोंहाथ बिक चुकी हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

आरोग्य-प्रकाश—(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ) श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर, वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री ने बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य, समय पर, हजारों रुपये का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि इस तरह समझाकर लिखे गये हैं कि इसके द्वारा विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे, दोनों समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे गये हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी विफल न होनेवाले एवं शास्त्रानुमोदित हैं। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के स्वयं निर्णयात्मक अधिकारी हैं। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सिर्फ २) डाक खर्च ॥।=)। हमारी चार निर्माणशालाओं, २०० बिक्री-केन्द्रों या २०,००० एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रतियाँ लेने पर डाक खर्च नहीं लगेगा।

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर-(रायल अठपेजी साइज, वढिया कागज, सजिल्द और सचित्र), लेखक वैद्य रणजितराय देसाई, वाइस-प्रिंसिपल, आयुर्वेदमहा-विद्यालय, सूरत ।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी मे शरीर-क्रिया-सम्वन्धी किसी ऐसी पुस्तक का अव तक वडा अभाव था, जिसके द्वारा विद्यार्थियों को शरीर के प्रत्येक सस्थान एव उसके अन्तर्गत अगों के कार्य का आयुर्वेद-शास्त्र-सम्मत विवेचन ज्ञात हो । आयुर्वेद के सहिता-ग्रन्थो मे यद्यपि यह विषय विभिन्न अध्यायो मे विखरे हुए हैं, तथापि सस्कृत मे भी सुचिन्तित एक ग्रन्थ का अभाव है ही । अत विषय-प्रधान आधुनिक शिक्षण-पद्धति की दृष्टि से यह अत्यावश्यक था कि उनको एकत्र और प्रकरणवद्ध किया जाय और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के नवीनतम तथ्यो के तुलनात्मक विवेचन से विद्यार्थियों को लाभ पहुँचाया जाय । आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य श्री यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य के योग्यतम शिष्य वैद्य रणजितराय देसाई का यह ग्रन्थ इसी दृष्टि को सामने रखकर लिखा गया है और इसके सकलन, सम्पादन और लेखन मे आचार्यजी का न केवल परामर्श ही प्राप्त हुआ है, वल्कि ग्रन्थ को विषयोपयोगी वनाने के कार्य मे यथासभव सभी सहयोग और शुभाशीष मिले हैं । फलत इस ग्रन्थ ने थोडे समय के भीतर ही आयुर्वेद-जगत् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है और आयुर्वेदीय महाविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे पाठ्य-पुस्तक के रूप मे यह स्वीकृत हो चुका है ।

इसमें कुल ४६ अध्याय हैं । इन अध्यायों में आयुर्वेद के सप्तधातुओ—रस- रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र के कार्य, वात-पित्त-कफ का प्राकृत-वैकृत स्वरूप-कार्य और उनका स्थानसश्रय-गति-प्रसार का प्राचीन-अर्वाचीन मतों के साथ सुरुचिपूर्ण विवेचन है । इसके साथ पुरीपादि मल, ओजोद्रव्य, स्तन्य-आर्त्तव, द्रव्य, आहार-द्रव्य, आहार-परिणाम, अवस्थापाक, धातुपाक, धातुपोषणक्रम, नाडी की परीक्षा, नाडी-सस्थान, अन्त स्राव, त्वग्विज्ञान, शरीर-परमाणु, प्रजनन का सामान्य क्रम, श्वास-प्रश्वास-क्रिया, रुधिराभि-सरण, रुधिरशोधनक्रम, मूत्रोत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-शारीर के अन्य सव विषयो का प्राचीन-आधुनिक मतों के साथ इसमे सरल विवेचन है । विषय की स्पष्टता के लिए अनेक एकरगे चित्र भी इसमें दिये गये हैं । इसे पढ लेने के वाद आयुर्वेद के विद्यार्थियो को 'हैलिवर्टन फिजिओलॉजी' खरीदने की जरूरत नही रह जाती । मूल्य मात्र ११)

आयुर्वेद-सार-संग्रह-(तृतीय सस्करण), राष्ट्रभाषा हिन्दी मे ऐसी आयुर्वेद की पुस्तक की कमी थी, जिसमे रोग-विचार के साथ-साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझाकर सरल भाषा मे दिया गया हो । इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने वहुत दिक्कते आती रहती थी । प्रस्तुत पुस्तक मे आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया हे । श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा वनाई जानेवाली सभी दवाओं के नुस्खे, निर्माण-विधि, उनके गुण-धर्म और प्रयोग-विधि के साथ, सभी वैद्योपयोगी वातों का सविस्तार वर्णन हिन्दी

भापा मे किया गया है। रस-रसायन, अर्क आदि वनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं, जिनके देखने से औपधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। डिमाई साइज के ११०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य मात्र ७)

आयुर्वेद-व्याधि-विज्ञान-(पूर्वार्द्ध), लेखक आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, वम्बई। किसी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोगों के निदान का ज्ञान होना परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के विना रोगी की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। इसलिए व्याधि-विज्ञान (निदान-रोग-विनिश्चय) आयुर्वेद के प्रधान विपयों मे सम्मिलित एक उपयोगी विपय है। इस ग्रन्थ मे व्याधि-विज्ञान के साधनों का वर्णन वहुत ही सुन्दर ढग से किया गया है। व्याधियों के सम्वन्ध मे सभी ज्ञातव्य वातों का इस ग्रन्थ में वर्णन है। यह ग्रन्थ पॉच अध्यायों मे विभाजित है, जिन्हे अध्ययन कर लेने के वाद निदान-सम्वन्धी अनेक ज्ञातव्य सिद्धान्त हस्तामलकवत प्रतिभात हो जाते हैं। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वानों, वैद्यों और विद्यार्थियों सभी के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है। मूल्य २॥)

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान-लेखक वैद्य रणजितराय देसाई। इस ग्रन्थ मे अन्य दर्शन ग्रन्थों से क्या विशेपता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विपय सरल भापा मे समझाये गये है।

आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वो के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वो का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिये, इस पर विद्वान् लेखक ने यथास्थान स्वमत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विपयों का आधारभूत है, अत इसका अध्ययन किस शैली से होना चाहिए, इस वात का विशद विवेचन करते हुए विपय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। मूल्य ६)

आयुर्वेदीय हितोपदेश-लेखक वैद्य रणजितराय देसाई। आयुर्वेद के रहस्य-वोधन के लिये सस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्राय आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों की प्रारम्भिक परीक्षाओं में सस्कृत भी एक अनिवार्य विपय रहता है, परन्तु इसका अध्ययन-अध्यापन सस्कृत-साहित्य के पाठ्य-ग्रन्थ हितोपदेश, पंचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विपयो के रूप मे होता है। किन्तु, यह प्रचलित पद्धति आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के लिये पूर्ण समीचीन प्रतीत नही होती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे दक्ष वैद्य रणजितराय ने 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है। वैद्य रणजितराय के 'आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर' तथा 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' नामक दो ग्रन्थों का जिन्होने अवलोकन किया है, उन्हें लेखक की लेखनशैली की विशेपताओ का कोई विशेप परिचय देने की आवश्यकता नही है। इस ग्रन्थ मे मूल वचनों का हिन्दी-अनुवाद तथा नवीन विचारों का समन्वयात्मक

विवेचन भी किया गया है। आयुर्वेद के अध्यापको और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। मूल्य २॥)

उपचार-पद्धति—(षष्ठ सस्करण), सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकडों रुपये प्रतिवर्ष बच सकते है, यदि उन्हे उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। इसमे रोगियो की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य ।=)

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—(पचम सस्करण) किशोर बालको और तरुणों को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक मे सफल प्रयास किया गया है। पृष्ठ-सख्या ११०, मूल्य ।≶)

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—लेखक आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ मे आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों मे वात-पित्त-कफ प्रधान है, इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पच-महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। मूल्य २॥=)

द्रव्यगुणविज्ञानम्—पूर्वार्द्ध (तृतीय सस्करण), लेखक आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे सूत्र रूप मे यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयो पर पृथक्-पृथक् पॉच अध्यायों मे बहुत उत्तमतापूर्वक सकलित कर सरल सस्कृत तथा हिन्दी भाषा मे विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की 'प्रगति' के लिए बहुत उपयोगी है। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। मूल्य ४॥)

पदार्थ-विज्ञान—(द्वितीय सस्करण), (देश भर की आयुर्वेदीय सस्थाओं एवं परीक्षा-समिति के पाठ्यक्रम में स्वीकृत), लेखक प० रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में आनेवाले पदार्थों का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय मे आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गई है। चतुर्थ अध्याय मे आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व-जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों मे प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगा करती है। मूल्य ३॥)

मानस-रोग-विज्ञान—(द्वितीय संस्करण), लेखक स्वर्गीय डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक।

आज के युग में जब कि काम, क्रोध, मिरगी, उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य ५॥)

यूनानी चिकित्सा-सार—लेखक हकीम ठा० दलजीतसिंह। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने रोगों के निदान तथा चिकित्सा को सरल हिन्दी भाषा में लिखकर सर्वसाधारण जनता तथा साधारण पढ़े-लिखे वैद्यों तक के लिए सुलभ बना दिया है। विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे अनेक योगों का उल्लेख कर पुस्तक की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है। डबल डिमाई साइज, उत्तम कागज तथा सुन्दर गेट-अप-युक्त ६०० पेज की इस उपयोगी पुस्तक का मूल्य सिर्फ ४॥)

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह—(द्वितीय संस्करण), यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे, आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकाशित किया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण के लिये यह बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २॥)

सिद्धयोग-संग्रह—(चतुर्थ संस्करण), आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के कर-कमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। डिमाई ८ पेजी २०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य २॥।)

संक्रामक रोग-विज्ञान—लेखक, कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेदशास्त्राचार्य। आज जब कि देश में मलेरिया, कुष्ट, यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयंकर संक्रामक रोगों से हजारों-लाखों मनुष्य आक्रान्त हो रहे हैं, तो यह आवश्यक है कि संक्रामक रोगों से बचने का उपाय तथा रोग-परीक्षा, निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित करा दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयंकर रोग होने ही न पाये और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का सरल हिन्दी भाषा में वर्णन कर इसे सर्वसाधारणोपयोगी बना दिया गया है। डबल डिमाई १०७९ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ६)